

गीतामृत

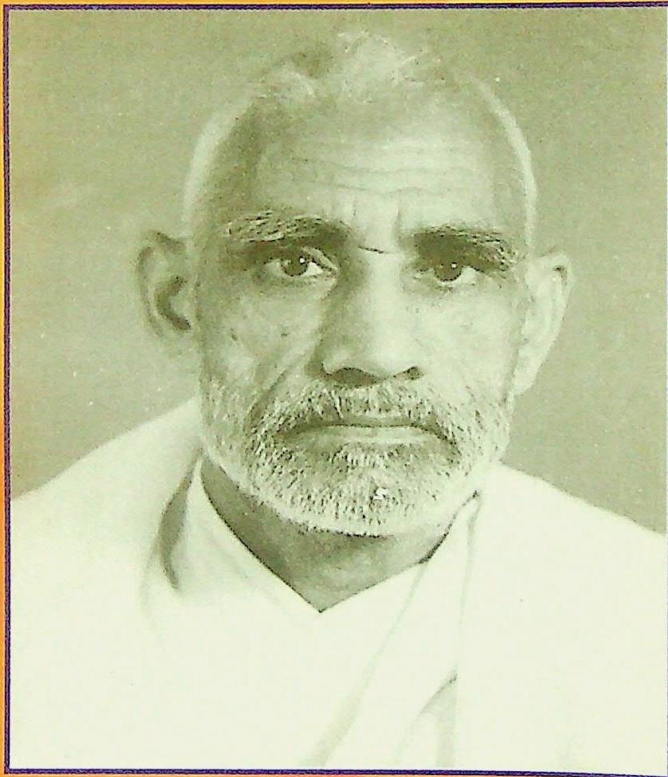
प्रथम भाग

(अध्याय 1 से 6)

श्रीमद् भगवद् गीता का व्यवहारिक विवेचन

जीवन यापन की कला

Art Of Living



महात्मा श्री नारायणदास जी



प्रीतमसुत

★

प्रीतमसुत

★

प्रीतमसुत

★

प्रीतमसुत

★

प्रीतमसुत

★

प्रीतमसुत

★

प्रीतमसुत

★

प्रीतमसुत

★

प्रीतमसुत

पूज्य महात्मा श्री नारायणदास जी प्रणीत

गीतामृत



श्रीमद्भगवद्गीता का व्यावहारिक विवेचन



जीवन यापन की कला

(*Art of Living*)



सम्पादक-

धर्मवीर एम.ए.



प्रथम संस्करण-१९६७



द्वितीय मुद्रण-१९७३



तृतीय मुद्रण-२००८

मूल्य पैंतालीस रुपये

ਨੀਚੇ ਦੇ ਪਾਠਾਂ ਵਿਚੋਂ ਉਹ ਸਹੀ ਚੁਣੋ

ਨਤੁਨੀ

★

ਨਤੁਨੀ ਨੀਚੇ ਦੇ ਪਾਠਾਂ ਵਿਚੋਂ ਉਹ ਸਹੀ ਚੁਣੇ

★

ਨਤੁਨੀ ਨੀਚੇ ਦੇ ਪਾਠਾਂ ਵਿਚੋਂ ਉਹ ਸਹੀ ਚੁਣੇ

(ਨਤੁਨੀ ਨੀਚੇ ਦੇ ਪਾਠਾਂ ਵਿਚੋਂ ਉਹ ਸਹੀ ਚੁਣੇ)

★

ਨਤੁਨੀ

ਨਤੁਨੀ

★

ਨਤੁਨੀ ਨੀਚੇ ਦੇ ਪਾਠਾਂ ਵਿਚੋਂ ਉਹ ਸਹੀ ਚੁਣੇ

★

ਨਤੁਨੀ ਨੀਚੇ ਦੇ ਪਾਠਾਂ ਵਿਚੋਂ ਉਹ ਸਹੀ ਚੁਣੇ

★

ਨਤੁਨੀ ਨੀਚੇ ਦੇ ਪਾਠਾਂ ਵਿਚੋਂ ਉਹ ਸਹੀ ਚੁਣੇ

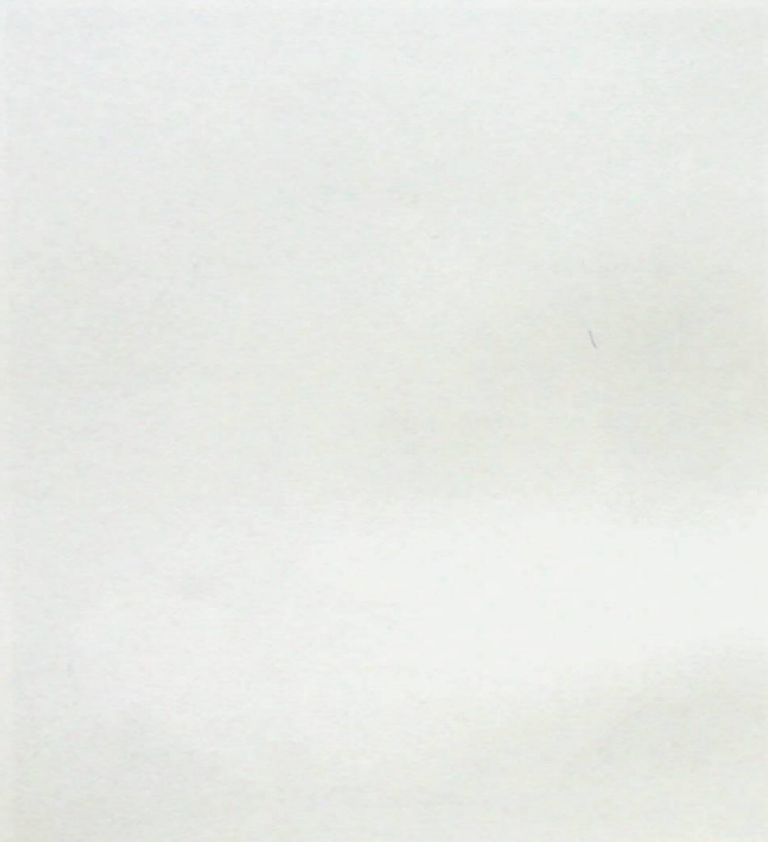
ਨਤੁਨੀ ਨੀਚੇ ਦੇ ਪਾਠਾਂ ਵਿਚੋਂ ਉਹ ਸਹੀ ਚੁਣੇ

गीतामृत



ब्रह्मलीन महात्मा श्री नारायणदास जी
नारायण आध्यात्मिक आश्रम शक्ति सेवक सदन
सरकूलर रोड, शिवपुरी (म.प्र.)
सम्पर्क : 9425488826

सुभाष



सुभाष चन्द्र बोस

सुभाष चन्द्र बोस

सुभाष चन्द्र बोस

सुभाष चन्द्र बोस

सम्पादकीय

परम आदरणीय पूज्य महात्माजी द्वारा प्रणीत भगवद्गीता का प्रस्तुत विवेचन केवल शास्त्रीय अध्ययन का ही फल नहीं, वस्तुतः अनुभव और मनन का प्रसाद है और मेरी तुच्छ मति से यही इसकी सबसे बड़ी विशेषता है और मौलिकता भी है। विगत लगभग १५-१६ वर्षों से पूज्य महात्माजी गीता पर विवेचनात्मक प्रवचन प्रायः दैनिक ही करते रहे हैं और प्रारम्भ में शिक्षक के रूप में कार्य करते रहने के कारण आपकी शैली भी विद्वानों की जटिल शैली न होकर शिक्षक की सहज-बोधगम्य शैली ही है। 'बहुजन हिताय' एवं 'बहुजन सुखाय' की भावना से सतत प्रेरित पूज्य महात्माजी द्वारा प्रणीत श्रीमद्भगवद्गीता की यह अद्वितीय विवेचिका भी उनकी सहज प्रवृत्तियों के ही अनुरूप जन-जन को लाभान्वित करने में सक्षम है।

प्रत्येक रचना के प्रेरक कतिपय विशिष्ट महानुभाव अथवा परिस्थितियाँ रहा करती हैं। पूज्य महात्माजी से भी उनके श्रीमद्भगवद्गीता विषयक विचार पुस्तकाकार लेखबद्ध कराने में मुख्यतः श्री अशर्फीलाल श्रीवास्तव, श्री रघुनाथरावजी काप्से, श्री डॉ. राजेन्द्रनाथ ढींगरा एवं श्री डी.जी. केलकर आदि का सतत आग्रह ही वस्तुतः पुण्य का भागी है। इन महानुभावों ने न केवल इस दिशा में आग्रह ही किया वरन् पाण्डुलिपि के कथ्य पर ही जिज्ञासाएँ कर ग्रन्थ को अधिकाधिक सुबोध एवं सुगम बनाने में जो योग दिया है तदर्थ निश्चयही, ये महानुभाव, पाठक एवं अध्येता वर्ग से साधुवाद प्राप्त करेंगे ही जिसके कि वे सर्वभावेन पात्र भी है।

अन्त में आदरणीय पूज्य महात्माजी के सुवासित इस 'गीतामृत' को आपके सम्मुख प्रस्तुत करते हुए मैं न केवल असीम सुख का ही अनुभव कर रहा हूँ वरन् विशेष आह्लाद की भी अनुभूति मुझे हो रही है क्योंकि इसकी पृष्ठभूमि में 'सब जन हिताय' 'सब जन सुखाय' की पुण्य कामना विद्यमान है। मुधाविस्तरेण।

विदुषाम् अनुचरः
धर्मवीर

गीतामृत (प्रथम भाग) अनुक्रमणिका

क्र.	विषय	पृष्ठ
१.	सम्पादकीय	३
२.	लेखकीय	६-१२
३.	एक परिचय : पूज्य महात्माजी (लेखक)	१३-१६
४.	विषय प्रवेश	१७-३०
५.	गीता के अध्ययन में सहायक मानव कलेवर एवं उसके अविनाशी तत्वादि का आध्यात्मिक विवेचन अविनाशी होने की महत्ता मृत्यु पर विजय शरीर छूट जाने पर भी हमारी मृत्यु नहीं होती प्राणी के स्वरूप का विश्लेषण स्थूलशरीर सूक्ष्मशरीर सूक्ष्मशरीर के मन तत्व की क्रिया का विवरण आत्मा का स्वरूप जीव का स्वरूप उसका बन्धन तथा उसकी बन्धन से मुक्ति	३१-४४ ३२ ३२ ३३ ३३ ३४ ३४ ३६ ३८ ३६
६.	पहला अध्याय ४५ - ६२	
	विषाद योग	४७
	किंकर्तव्यविमूढस्थिति की प्रथम क्रिया 'मोह'	५२
	किंकर्तव्यविमूढस्थिति की दूसरी क्रिया 'शरीर का स्वस्थ न रहना'	५६
	किंकर्तव्यविमूढस्थिति की तीसरी क्रिया 'कर्तव्यभार की सफलता में सन्देह'	५७
	किंकर्तव्यविमूढस्थिति की चौथी क्रिया 'कर्तव्य विमुख भावना का समर्थन'	५७

७. दूसरा अध्याय ६३-६८

सांख्य योग	६५
आत्मा का अविनाशी स्वभाव	७२
जन्ममरणधर्मी आत्मा	७६
लौकिक दृष्टिकोण-शास्त्र एवं धर्मानुसार मनोवांछित	
स्वर्गीय सुख प्राप्ति	७७
स्थिर बुद्धि के लक्षण	८६
स्थिरबुद्धिवाले व्यक्ति के बोलने की विधि	९०
स्थिरबुद्धिवाले व्यक्ति के बैठने की विधि	९१
स्थिरबुद्धिवाले व्यक्ति के चलने की विधि	९३
ज्ञानी एवं अज्ञानी के सोने एवं जागने का रहस्य	९६
ब्राह्मी स्थिति तथा मोक्ष का रहस्य	९८

८. तीसरा अध्याय ९९-१३८

कर्मयोग	१०१
ज्ञानी व निष्कामकर्मयोगी की परिभाषा तथा उनके	
कर्म करने की विधि	१०५
आसक्ति रहित कर्म करने की विधि	१०६
सृष्टिरचना में कर्म करने की प्रमुखता	११०
कर्मसम्पादन में श्रेय के भागीदार	११२
सृष्टिचक्र का शास्त्रीय ज्ञान	११४
अक्षर का स्वरूप तथा उससे ब्रह्म का आविर्भाव	११४
ब्रह्म से कर्म की रचना और कर्म से यज्ञ का आविर्भाव	११५
कर्म से मानव (प्राणी) की रचना	११६
यज्ञ से पर्जन्य का आविर्भाव	११६
पर्जन्य से अन्न की उत्पत्ति	११८
अन्न से मानव (प्राणी) की उत्पत्ति	११८
सर्वाधिक महत्वपूर्ण क्रिया-यज्ञ-क्रिया	११९
गुण व कर्म के क्षेत्र का रहस्य	१२६

गुणों का गुणों में बर्तने का रहस्य	१२७
श्रीकृष्ण भगवान् के उपदेश का माहात्म्य उन्हीं के शब्दों में	१२६
व्यक्ति के स्वभाव की स्थिति	१२६
अधिकारी बनने से साधक की प्रगति तथा उतावलेपन से उसकी हानि	१३२
काम अथवा फलेच्छा घातक है	१३४
कर्तव्य-पालन में विघ्नरूप कामशत्रु का अन्त एवं कर्तव्य-पालन में सहायक लोकसंग्रह की भावना का समर्थन	१३५

६. चौथा अध्याय १३६-१६८

ज्ञानकर्म-संन्यास योग	१४१
स्वधर्म-पालन	१५४
भीतरी अशान्ति	१५५
बाहरी अशान्ति	१५५
दूषित कर्म का स्वरूप	१५७
साधु संरक्षण	१५६
सृष्टि का चार वर्णों में विभाजन	१६४
कर्म का प्रथम स्तर निरर्थक कर्म	१६६
कर्म का द्वितीय स्तर, सकाम कर्म	१७०
कर्म का तृतीय स्तर विकर्म अर्थात् निष्काम कर्म	१७२
कर्म का चतुर्थ स्तर अकर्म (अहंकार रहित कर्म)	१७५
कर्म का पांचवा स्तर सार्थक कर्म	१७७
यज्ञ के निमित्त कर्म करके कर्त्तापन को समाप्त करने की चौदह युक्तियाँ	१८४

१०. पाँचवाँ अध्याय १६६-२३६

कर्म संन्यास योग	२०१
कर्मयोग	२०६
संन्यास	२०८

कर्मयोग व संन्यास के लक्ष्य में समानता	२०६
निष्कामकर्म का परिणाम 'संन्यास'	२१७
ज्ञानी की धारणाएँ	२१८
समबुद्धि से कर्म करने की विधि	२२३
समबुद्धिप्राप्त पण्डितजन द्वारा संसारविजय	२२५
समबुद्धि व्यक्ति के लक्षण	२२६
काम, क्रोध के वेग को सहन करने की युक्ति तथा	
आत्मज्ञान से शान्ति की उपलब्धि	२२६
कर्मयोगी की परमात्म-तत्व की जानकारी में अभिखुचि	२३२
जीवनमुक्ति के अभिलाषी मुनि के साधन की सर्व	
विदित पद्धति	२३३
परमात्म-तत्व के स्वरूप का ज्ञान एवं उस भाव में	
स्थित होकर कर्म सम्पादन की विधि	२३५

११. छठवाँ अध्याय २३७-२७६

आत्म-संयम-योग	२३६
कर्मयोगी को योगारूढ़ होने की आवश्यकता	२४४
योगारूढ़ हुए व्यक्ति के लक्षण	२४६
अतिश्रेष्ठ योगारूढ़ हुए व्यक्ति के लक्षण	२४८
अतिश्रेष्ठयोगी होने का उपाय	२५०
अतिश्रेष्ठयोगी के योगाभ्यास की यानी मनन	
करने की विधि	२५१
आसनसिद्धि के अभ्यास की विधि	२५२
योगाभ्यास के लिए शरीरस्थिर रखने की विधि	२५५
योगी के आहार-विहार के नियम	२५७
आत्म-चिन्तन में व्यस्त युक्तयोगी की मानसिक	
स्थितियाँ एवं योगनिष्ठ होने की प्रेरणा	२५६
समाहितचित्तयोगारूढ़ कर्मयोगी की ब्रह्म के साथ	
एकता तथा उसका परिणाम	२६५

लेखकीय

श्रीमद्भगवद्गीता विश्ववन्दनीय ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ जैसा कि सर्व विदित ही है श्री वेदव्यास कृत महाभारत महाकाव्य के भीष्म-पर्व से उद्धृत किया गया है। वस्तुतः यह ग्रन्थ अपने में सर्वथा पूर्ण ही है अतः इसे स्वतंत्र रूप से शास्त्र कहा जाता है। इसमें सुन्दर सुललित सात सौ श्लोक हैं। इन श्लोकों में श्रीकृष्ण भगवान् और अर्जुन का वह सम्वाद ही प्रमुख रूप से वर्णित है जिसमें उन्होंने अर्जुन को कर्तव्यपरायण बनाया है।

श्रीकृष्ण भगवान् द्वारा अर्जुन को सुझाई गई युक्तियाँ निःसन्देह अतुलनीय सिद्ध हुई हैं। अनेक सन्त, महात्मा, एवं उच्चकोटि के विद्वानों ने इस ग्रन्थ के मर्म का रस भक्तों को आस्वादन कराने के हेतु विवेकपूर्ण विभिन्न टीकाएँ भी प्रस्तुत की हैं जिनसे विशेषकर विद्वज्जन एवं आध्यात्मिक-भक्त-समुदाय दैनिक लाभ उठा रहा है।

किन्तु, अभी भी जन साधारण गीता के यथार्थ व्यावहारिक ज्ञान से अपरिचित है। गीता के सूक्ष्म अध्ययन एवं मनन से स्पष्ट विदित होता है कि गीताकार ने मानव को सत्यं, शिवं, सुन्दरं जीवन यापन की व्यावहारिक कला प्रदान की है। इस कला को प्रयोग में लाने से मानव दैनिक जीवन के प्रत्येक उतार-चढ़ाव में अपनी बुद्धि को संतुलित, शरीर को स्वस्थ, चित्त को शान्त एवं मन को उत्साहित रखते हुए अत्यन्त प्रसन्नता से स्वधर्म पालन कर सकता है। स्वधर्म-पालन के अन्तर्गत कुटुम्ब का भरण पोषण करना, समाज सेवा, राष्ट्र एवं अन्तरराष्ट्रीय हित में रत रहना आदि सभी आवश्यक कर्तव्य आ जाते हैं।

गीता शास्त्र में इस कला को अपनाने के लिये स्पष्ट रूप से दो प्रमुख सिद्धांत व्यक्त किये गये हैं-

१. आत्म स्वरूप में स्थित होकर काम करने की योग्यता प्राप्त करना।

२. अनुकूल वातावरण निर्माणार्थ कर्तव्य परायणता की घटनाओं के संस्मरणों को अपने मस्तिष्क के कोषों में प्रचुर मात्रा में एकत्रित करना।

प्रथम सिद्धान्त :-

प्रत्यक्ष में तो समस्त मानवों की मूर्तियाँ पृथक-पृथक देखी जाती हैं, साथ ही उनके विचार भी भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। परन्तु गीता शास्त्र समस्त मानवों को एक सूत्र में माला की मणियों के समान पिरो देता है। इतना ही नहीं वरन् यह स्पष्ट भान करा देता है कि जैसे सूत्र, मणियों से पृथक होता है किन्तु उसके आधार पर मणिगण अवलम्बित रहते हैं अर्थात् आधारभूत सूत्र एक ही है जो प्रत्येक मणि को स्पर्श करता है साथ ही उससे सर्वथा पृथक भी है, वैसे ही शुद्ध चैतन्य आत्मा (Pure Consciousness) प्रत्येक प्राणी का आधार है और उससे पृथक भी है। प्रत्येक प्राणी पृथक-पृथक उसकी सत्ता का अनुभव करता है पर वस्तुतः वह है एक ही और प्राणी मात्र के शरीर व विचारादि से सर्वथा पृथक भी है। अस्तु, चैतन्य आत्मा की सत्ता को एक ही सत्ता न कह कर प्राणियों में विभाजित पृथक-पृथक कहना अज्ञान है।

जब मानव शुद्ध चैतन्य आत्मतत्त्व के स्वरूप में स्थित होकर काम करने के दृष्टिकोण को अपना कर जगत का व्यापार करता है तब जगत के प्रत्येक मानव को पृथक-पृथक शरीर एवं भिन्न-भिन्न विचार का होने पर भी उसे अपना जैसा समझने में कोई अन्तर नहीं प्रतीत होता। विभिन्नता में एकता (Unity in diversity) अनुभव होती है। इस प्रकार उसका द्वैतभाव मिट जाता है। सब लोग उसे अपने जैसे ही लगते हैं। द्वैतभाव न रहने से मानव को क्रोध लोभादि नहीं सताते। वह शान्त रहता है, क्योंकि यह सभी के अनुभव का विषय है कि द्वैतभाव में ही क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सरादि विकार उभरा करते हैं, जिनके कारण मानव को अपना जीवन भार रूप प्रतीत होने लगता है।

अस्तु, स्पष्ट है कि गीता शास्त्र प्रत्येक मानव को प्रेरित करता है कि वह आत्म-तत्त्व के सिद्धान्त को अपने जीवन में उतार कर स्वधर्म पालन करे जिससे उसकी बुद्धि निश्चल (संतुलित) रह सके और वह शान्ति पूर्वक अपने सभी सम्बन्धित समस्त कार्यों को सुसम्पादित कर सुन्दर एवं कल्याणमय जीवन व्यतीत कर सके।

द्वितीय सिद्धान्त :-

स्मरण रहे कि समुचित रीति से कर्तव्यपालन के लिये अनुकूल वातावरण अत्यन्त आवश्यक है और अनुकूल वातावरण निर्माण करने पर गीता बहुत ही अधिक बल देती है। हाँ, इस दिशा में अनुकूल प्रगति लाने के लिये इस वैज्ञानिक तथ्य को कभी भी विस्मरण नहीं करना चाहिये कि मानव मस्तिष्क के कोषों में अनुभूत कर्तव्यपरायणता की घटनाओं के संस्मरण जितनी भी अधिक मात्रा में अंकित होंगे उतनी ही अधिक शक्ति उस मानव में कर्तव्य-विमुख करने वाली घटनाओं के संस्मरणों पर अधिकार करके उन्हें दबा देने की होगी। क्योंकि प्रत्येक अनुभवी व्यक्ति, विशेष कर विज्ञानी, नित्य ही अनुभव करता है कि मानव जिन-जिन घटनाओं को आँखों से देखता है या उनके विषय में सुनता है उनके संस्मरण उसके मस्तिष्क के कोषों में नैसर्गिक रूप से अंकित हो जाते हैं। जब-जब उन देखी हुई या सुनी हुई घटनाओं का प्रसंग आता है तब-तब पूर्व में पड़े तत्सम संस्कार प्रबल हो जाते हैं। फलतः मानव अपनी इन्द्रियों से प्रसंगानुसार आचरण करने लगता है, चाहे वह उठा हुआ संस्कार हितकर हो अथवा अहितकर।

अस्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वेदव्यास जी ने इसी अनुभूत तथ्य को अत्यन्त चतुरता से समझाने के लिये श्रीकृष्ण भगवान् को गुरु के रूप में, अर्जुन को मार्ग दर्शन कराते हुये तथा अर्जुन को उनके आदेशों का अनुसरण करते हुये गीता में दिखाया है अर्थात् कर्तव्यपरायणता के संस्कार कर्तव्यविमुखता के संस्कारों पर प्रभावित होते हुये दिखाये गये हैं।

इस प्रकार श्रीकृष्ण भगवान् और अर्जुन का गीता में वर्णित पारस्परिक संवाद वस्तुतः मस्तिष्क के कोषों में अंकित कर्तव्य-परायणता और कर्तव्य-विमुख भावना के संस्मरणों का अन्तर्द्वन्द्व है ऐसा भी समझा जा सकता है। इस अन्तर्द्वन्द्व में कर्तव्य विमुख संस्कारों पर कर्तव्यपरायणता के संस्कार पूर्णरूपेण अपना प्रभाव डालने में सफल हो जाते हैं अर्थात् कर्तव्यपथ से विचलित अर्जुन पुनः कर्तव्यपथ पर अग्रसर हो जाता है।

अस्तु उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि श्रीमद्भगवद्गीता वस्तुतः गीतामृत ही है और “गीतामृत” को जीवनयापन की कला (An Art of Living) की संज्ञा देना सर्वथा उपयुक्त ही है। गीता में प्रतिपादित जीवनयापन की कला को जनसाधारण भली प्रकार समझकर उपयोग में ला सके इसी दृष्टिकोण से भरसक यह प्रयत्न किया गया है कि गीतामृत की भाषा सरल, सुबोध हो और प्रसंगानुसार ऐसे उदाहरण दिये जावें जिनसे विषय सरलता से समझा जा सके।

आशा है कि जनसाधारण की दृष्टि से लिखा गया श्रीमद्भगवद् गीता का यह विवेचन जन साधारण में लोकप्रिय होगा और जन साधारण इससे भलीभाँति लाभान्वित होंगे।

इस विवेचना के प्रणयन में प्रभुसत्ता की प्रेरणा से सहृदय भक्तों का आग्रह ही वस्तुतः प्रेरक है और तदर्थ वे लेखक की कामनाओं और पाठकों के साधुवाद के पात्र हैं। इति शुभम्।

- लेखक

एक परिचय-

श्री महात्मा नारायणदास जी

मध्यप्रदेशान्तर्गत शिवपुरी मण्डल के सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान नरवर में मार्गशीर्ष कृष्णा ३० सं० १९६२ वि. तदनुसार ५ दिसम्बर १९०५ ई० को श्री महात्मा नारायण दास जी का जन्म गौड़ ब्राह्मण परिवार में हुआ। आपके पूर्वज दक्षिणी पंजाब के अन्तर्गत पटियाला राज्य के नारनौल मण्डल के ग्राम मढ़ाना के निवासी थे। आपके पिताजी पं० शिवदयाल जी त्रिवेदी इस परिवार के प्रमुख व्यक्ति थे, जो डाक-विभाग में सेवा हेतु मध्यप्रदेश में आये और डाक-विभाग से ही उन्हें पेंशन प्राप्त हुई। आपके पूज्य पिताजी कर्तव्यपरायण एवं धार्मिक सद्गृहस्थ थे और आपकी आरदणीया माताजी एक परोपकारी एवं कर्मठ महिला हैं।



श्री महात्मा नारायणदास जी में धर्म-निष्ठा, कर्तव्य-परायणता, परोपकारवृत्ति एवं श्रम पूर्ण जीवन के संस्कारों का बहुत कुछ श्रेय प्रभु की कृपा से आपके माता-पिता को ही है। आपको बाल्य-काल से ही रामायण में अभिरुचि तथा श्री हनुमान जी में दृढ़ विश्वास रहा। आपका विश्वास है कि “बिना आस्तिक भाव के राष्ट्रीयता निष्प्राण है। राष्ट्रहित की दृष्टि से ये संस्कार बालकों में प्रारम्भ से ही आना अनिवार्य हैं।” इसी भावना से आपने ब्रह्मचर्य-विद्यालय, शिवपुरी के प्रधानाध्यापक का कार्य १९२५ से १९२८ तक किया।

आपका वैवाहिक जीवन लगभग ८ वर्ष रहा। सन् १९२८ में, आपके पिताजी एवं धर्मपत्नी, दोनों का ही स्वर्गवास हो गया। उस समय आप २३ वर्ष के तरुण ही थे, तथापि तब से ही आप ब्रह्मचर्य्य जीवन व्यतीत कर रहे हैं। पूज्य पिताजी के शरीर छोड़ने के कुछ दिनों बाद ही आप पोहरी चले गये और १४ वर्ष तक आदर्श विद्यालय के प्रधानाध्यापक तथा ग्रामकलामंदिर के व्यवस्थापक आदि पदों पर रहकर १९२९ से १९४३ तक राष्ट्र सेवा में योग देते रहे।

आदर्श-विद्यालय में आपने गोरखपुर की रामायण एवं गीता परीक्षाओं की प्रेरणा दी तथा संस्कृत के प्रचार में भी यथेष्ट योग दिया, जिसके फलस्वरूप सम्वत् १९६७ वि० में आपको 'साहित्य-भूषण' की उपाधि से विभूषित किया गया। आपने शिक्षक रहते हुए ही प्रायवेद रूप से बी०ए० तक का विश्वविद्यालयीन ज्ञान प्राप्त किया है।

निरन्तर 'कल्याण' मासिक पत्र की भक्त-गाथाओं के अध्ययन करने से इन्हें सं० २००० वि० में सहज-सामान्य वेष-भूषा में (खादी की धोती, कुर्ता, टोपी एवं पेन-घड़ी आदि सभी कुछ साथ में लिये) ही पैदल यात्रा की प्रेरणा हुई। इस यात्रा का उद्देश्य भगवान् पर पूर्ण विश्वास जमा लेना था। अतः निश्चय किया कि न तो साथ में धन लेना है और न किसी से स्वयं भोजन की याचना करना है। साथ ही जहाँ इच्छा हो-यहाँ तक कि निर्जन स्थान में भी ठहरना है। देखें, ईश्वर क्या व्यवस्था करता है- जीवित बनाये रखने के हेतु! आपका यह संकल्प यद्यपि एक मास के लिये ही था और १ जून १९४३ को पोहरी (म.प्र.) से चलकर ३० जून १९४३ को सीतापुर (उ.प्र.) पहुँचकर पूरा हुआ, तथापि पुनः प्रेरणा हुई कि इसी प्रकार बदरिकाश्रम तक चला जावे। प्रभु कृपा से आपका यह सत्य संकल्प भी पूरा हुआ एवं यह विश्वास भी अटल हो गया कि प्रभुशरणागत में रहते हुये डट कर कार्य करना चाहिये; याचना की नितान्त आवश्यकता नहीं है। भगवान् स्वयं ही अनेक रूपों से भरण पोषण करते ही हैं; इसमें किंचित् मात्र भी सन्देह नहीं।

इस यात्रा के बाद आप शिवपुरी आ गये और एक अत्यन्त रमणीक आरोग्यवर्द्धक एकान्त स्थान देख, वहीं एक वृक्ष के नीचे बैठ गये। यहीं तीन बालक शिक्षा प्राप्त करने के हेतु आपके पास आ गये और आपने भी उनके साथ ही शिक्षण कार्य प्रारंभ कर दिया। शनैः शनैः प्रभु कृपा से तीन बालकों की संस्था-जिसका नाम 'भारतीय विद्यालय' रखा गया, का रूप बढ़कर अब मध्य प्रदेश की गण्यमान संस्थाओं में से एक अपनी अनूठी आश्रम पद्धति का 'उच्चतर माध्यमिक विद्यालय' का हो गया है। इस संस्था के अधिकांश छात्र अपना समस्त जीवन शिक्षकों की देख रेख में आश्रम पर ही व्यतीत करते हैं। आपको भी आज प्रदेश का एक मान्य बुनियादी शिक्षा शास्त्री समझा जाता है। भारतीय विद्यालय के सम्बन्ध में श्री श्रीमाली जी ने, जो निरीक्षण के समय केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्री थे निम्न शब्दों में अपने विचार प्रकट किये थे-

“यह संस्था अन्य संस्थाओं को अनुकरणीय है।”

इसी प्रकार श्री ७००० डेबर, तत्कालीन अध्यक्ष, अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने तो संस्था का अवलोकन करते समय इसे नये भारत की 'नींव और जड़' बताया था।

महात्मा जी को गीता और रामायण से बहुत प्रेम है। प्रभु कृपा से इनमें इनके अर्थ करने की आकर्षक और पूर्णतः व्यावहारिक प्रणाली उदित हुई है। आपके दैनिक गीता-प्रवचन से शिवपुरी की भक्त एवं जिज्ञासु जनता पर्याप्त लाभ उठा रही है।

आपकी लगभग एक वर्ष की साधना में व्यक्त हुये पदों का संग्रह भी 'साधक-साधना' नाम से प्रकाशित हुआ है। यह पुस्तक निश्चित रूप से साधक को प्रभु-चरणों में लाने में पथ प्रदर्शक का काम कर सकती है। इसकी भाषा अत्यन्त सरल एवं रोचक है। नित्य के जीवन में घटित होने वाले उदाहरणों द्वारा, इस पुस्तक में विषय को बोधगम्य बनाया गया है जिससे मूल भाग को समझने में कठिनाई नहीं होती।

‘बापू के एकादश व्रत’ आपकी एक बालोपयोगी कृति है जिसकी प्रो० गुरुप्रसाद टण्डन, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, माधव महाविद्यालय (विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन) प्रो. डॉ० पद्मसिंह शर्मा ‘कमलेश’ पी.एच. डी. (रीडर, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय) एवं प्राचार्य सुश्री सरोजनी रोहतगी, शासकीय महिला महाविद्यालय मुरार (म.प्र.) जैसे महानुभावों ने मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है आपका लेखन कार्य आज भी चल रहा है। शीघ्र ही आपकी ४-५ अन्य पुस्तकें भी प्रकाश में आने को हैं।

अंत में यह आशा करना उचित ही है कि आपके द्वारा राष्ट्रीय एवं आध्यात्मिक साहित्य की पूर्ण अभिवृद्धि होगी।

विषय-प्रवेश

मानव जीवन संघर्षमय है। स्वकीय क्षेत्र में अपने वरिष्ठ वर्ग के परामर्श से निर्णीत कर्तव्य-पालन में जब कभी संयोगवश एक व्यक्ति का हृदय व्यथित हो उठता है तथा उसकी बुद्धि किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाती है तब वह अपनी सुरक्षित आत्म-शक्ति को खोजने का प्रयास करता है और उस शक्ति की प्रेरणा से धैर्य धारण कर वह व्यक्ति पुनः कर्तव्य-पालन हेतु तत्पर हो जाता है।

परन्तु देखने में प्रायः यह भी आता है कि कभी-कभी साहसी व्यक्ति की बुद्धि को भी अनपेक्षित विषम परिस्थितियाँ कायर बना दिया करती हैं। यद्यपि उस पर कायरता का प्रभाव कुछ क्षणों तक ही रहता है और वह अपने को शीघ्र ही दृढ़ बना कर कायरता का सामना करने लगता है तथा विषम परिस्थितियों पर विजय भी प्राप्त कर लेता है।

यदि इन अनपेक्षित विषम परिस्थितियों पर विचार करें तो तीन विषम परिस्थितियाँ स्पष्टतः अनुभव में आती हैं :-

(१) जब कर्तव्य-पालन करने में व्यक्ति की कल्पना के अनुसार उसके प्राणों की सुरक्षा के विपरीत ऐसी परिस्थिति बन जावे कि अपने प्राणों की रक्षा करना भी उसका कर्तव्य हो जावे।

(२) जब व्यक्ति को कर्तव्य-पालन करने में वास्तविक हानि होने के पूर्व अनुमान से बहुत अधिक हानि होती हुई प्रतीत हो जिसका कि सहन करना उसे असह्य हो जावे।

(३) जब व्यक्ति को बिना भली-भाँति सोचे समझे परिस्थितियों से विवश होकर अपनी प्रतिष्ठा के संरक्षण हेतु कर्तव्य-भार स्वीकार करना पड़े।

इस प्रकार अनपेक्षित विषम परिस्थितियाँ, कर्तव्यभार ग्रहण

करने पर जिस व्यक्ति के सम्मुख उपस्थित हो जाती हैं तो ऐसी परिस्थितियों में जकड़े हुये व्यक्ति की विचारधारा उस क्षण तो, कर्तव्य-पालन की कठिनाई के मार्ग पर अग्रसर होने की अपेक्षा कठिनाई से बचने एवं कर्तव्य-भार से मुक्त होने की ओर ही प्रायः चलने लगती है। इस दशा में कर्तव्य-भार से मुक्त होने में सर्वत्र लाभ ही लाभ दृष्टिगोचर होता है। इतना ही नहीं वरन् वह व्यक्ति कर्तव्य-भार से मुक्त होने की पुष्टि में ऐसे-ऐसे विद्वतापूर्ण एवं शास्त्रानुकूल अकाट्य तर्क उपस्थित करता है जिससे उसके पूज्य व्यक्ति एवं वरिष्ठ वर्ग के सज्जन उस व्यक्ति के कर्तव्य-भार से मुक्त होने को एक बार तो उचित, न्यायसंगत और बुद्धिमत्तापूर्ण कहने लगे।

अस्तु, किंकर्तव्यविमूढ़ स्थिति मानव को कर्तव्य-पालन से दूर हटाकर कर्तव्य-विमुख-भावना की अधोगामिनी वृत्ति को कैसे पनपाती है तथा व्यक्ति कैसे पुनः कर्तव्यपरायण होता है यह विषय विचारणीय है। बचपन का ही एक उदाहरण लीजिये कि किसी जामुन के ऊँचे वृक्ष की पतली डाली के सिरे पर पकी हुई काली-काली जामुनों का एक गुच्छा लटक रहा है। कुछ बालकों में शर्त हुई कि जो बालक जामुन के वृक्ष पर चढ़कर इस गुच्छे को तोड़कर लावेगा उसे अन्य सब मिलकर चार आने देंगे तथा उसके साहस की सदा सराहना करते रहेंगे।

उनमें से एक साहसी बालक शीघ्रता से जोश में आकर आगे बढ़ता है और शर्त स्वीकार करके पेड़ पर चढ़ता है। पतली डाली के पास की मोटी डाली तक आसानी से पहुँच भी जाता है। ज्यों ही पतली डाली पर धीरे से पैर रखने का प्रयत्न करता है कि रुक जाता है और डाल के टूटने का एवं गिर कर मृत्यु को प्राप्त होने का भय उपस्थित हो जाता है। इस दशा में उसे प्राणों के प्रति मोह उत्पन्न होता है और कर्तव्य-पालन में अर्थात् पतली डाल पर पैर रखने में उसके हाथ-पैर काँपने लगते हैं, रोमांच हो जाता है और शरीर कर्तव्य-पालन में असमर्थता अनुभव करता है। अब साहसी बालक की स्थिति पूर्व जैसी नहीं रहती है। फलतः उसे

कर्तव्यपालन की सफलता में सन्देह उत्पन्न हो जाता है। सन्देह के प्रादुर्भाव से उसे अपनी पूर्व-प्रतिज्ञा विस्मृत हो जाती है। आँखों के सामने अन्धेरा हो जाता है। ऐसी दशा में वह डाल पर चढ़ने की अपेक्षा नीचे उतरने में अपने को सुरक्षित अनुभव करता है। साथ ही उसे यह भी विचार आता है कि नीचे उतरने पर सम्भवतः उसकी हँसी हो। अस्तु, अब वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है और तत्काल पेड़ से उतरने की स्थिति में भी स्वयं को नहीं पाता है। इस विचलित स्थिति में हँसी से बचने के लिये शनैः शनैः उसका मस्तिष्क उन तर्कों एवं युक्तियों के सम्बन्ध में विचारने लगता है, जिनसे बिना जामुन का गुच्छा तोड़े ही (कर्तव्य पालन न करते हुए ही) उतरने का (कर्तव्य-विमुख होने के औचित्य का) समर्थन हो। जैसे चार आने की वस्तु के लिए प्राण देना मूर्खता है। ऐसे हिम्मत वाले बनने से क्या लाभ जिससे प्राण ही संकट में पड़ जावे आदि। अब भी बालक यदि उसका तिरस्कार करते हैं अथवा उसकी आलोचना करते हैं तो उनकी आलोचना पर वह फिर तर्क प्रस्तुत करते हुये कहना चाहता है कि—“जामुन की डाली कच्ची और चिर जाने वाली होती है। इस पर पैर रखते ही यह तो जोड़ पर से चिर जाती और डाल के साथ ही मैं भी नीचे गिर जाता। परिणामस्वरूप मेरे भयानक चोट लगती और सम्भव है मेरी मृत्यु हो जाती। फिर आप सबको मेरे दुस्साहस के कारण कितना कष्ट उठाना पड़ता, घरवालों का क्या हाल होता? घरवाले भी आप सबको ही मूर्ख और दोषी ठहराते और कहते कि वह तो मूर्ख था ही पर आपने उसे पेड़ पर क्यों चढ़ने दिया? अतः जिस कार्य के करने में मेरे प्राण जाने की सम्भावना हो तथा आपको व्यर्थ फटकारा जावे, उसे करना उचित नहीं। अस्तु, आप मुझे कायर भले ही कहें, किन्तु मुझे तो पेड़ से नीचे उतर आने में ही आपका अधिक हित और अपनी बुद्धिमानी दिखाई देती है।

इस प्रकार कर्तव्य-विमुख विचार धारा उसे पेड़ से उतर जाने के लिये बल देती है और वह जामुन के पेड़ से नीचे उतरने का विचार करता है। परन्तु चूँकि वह बालक धैर्यवान है, कुशल एवं साहसी है अतः पुनः विचार करता है कि वीर की बात एक होती

है। अस्तु, अब मृत्यु हो या जीवन रहे, यश मिले या न मिले, कुछ भी हो, प्रतिज्ञा तो पूरी करनी ही पड़ेगी। अतः ऐसी युक्ति खोजनी चाहिये जिससे प्राण संकट में भी न पड़ें और गुच्छ भी तोड़ा जा सके।

यह विचार आते ही वह साहसी बालक पेड़ से न उतरने का दृढ़ निश्चय करता है और सफलता पूर्वक कर्तव्य-पालन की युक्ति सोचना है। सोचते-सोचते वह इस परिणाम पर पहुंचता है कि शर्त तो जामुन का गुच्छ लाने की है, न कि पतली डाल पर चढ़ने की अतः पास की सुरक्षित मोटी डाल पर भली भाँति पैर जमा कर एक हाथ से मोटी डाल दृढ़ता से पकड़े रहूँ और दूसरे हाथ से पतली डाल को अपनी ओर खींच कर मुख के पास तक झुका दूँ और मुँह से डाल पकड़ लूँ। ऐसा करने से जिस हाथ से डाली नवाई जावेगी वह खाली हो जावेगा और तब खाली हाथ से गुच्छ आसानी से तोड़ा जा सकेगा। यह विचार आते ही बालक का प्राण जाने का भय दूर हो जाता है अर्थात् मोह दूर हो जाता है, जीवन में आशा का संचार होता है। क्योंकि सफलता पाने में अब सन्देह नहीं रहा और विजय प्रत्यक्ष दिखने लगी। अब उसे अपनी प्रतिज्ञा का भी स्पष्ट स्मरण होने लगा और इस प्रकार उसकी सोची हुई अंतिम विचारधारा ने उसकी किंकर्तव्यविमूढ़ता दूर कर दी। परिणामस्वरूप वह बालक अब अपनी सोची हुई युक्ति के अनुसार गुच्छ तोड़ने का सफल प्रयास करता है और वह अपने प्रयास में सफल हो जाता है।

उसी साहसी बालक के मस्तिष्क में उपरोक्त घटना की एक क्रमबद्ध शृंखला (Reel), जामुन का गुच्छ तोड़ने की प्रतिज्ञा से लेकर गुच्छ तोड़कर ले आने तक की, बन जावेगी, जिसे हम उस बालक के मस्तिष्क के कोषों पर अंकित एक संस्मरण कह सकते हैं। वस्तुतः हमारी स्मृति ऐसे अनन्त विविध संस्मरणों का भण्डार है। आँख से उपरोक्त घटना के समान ही दूसरी अन्य घटना देखने पर या उसका विवरण सुनने पर उक्त घटना का संस्मरण अन्य अनन्त संस्मरणों को पीछे कर स्वयं सामने आ जाता है। यह एक प्राकृतिक तथ्य है। प्रायः यह अनुभव

में आता है कि जब हम किसी रोगी से मिलते हैं तो जिस रोग से वह पीड़ित है उसके सम्बन्ध में बिना वैद्य या डॉक्टर होते हुए भी हम अपनी जानी हुई दवा का उल्लेख उससे कर देते हैं।

अब यह विचारणीय है कि ऐसा क्यों किया जाता है? किंचित् सूक्ष्म मनन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जब हम स्वयं उसी रोग से पीड़ित थे तब हमारे द्वारा उल्लिखित औषधि का हमने सेवन किया था और हमें उससे लाभ भी हुआ था। अस्तु, उसका भी संस्मरण हमारे भण्डार में था और जब हमने उसी रोग से पीड़ित किसी रोगी को देखा तथा कानों द्वारा उसका विवरण सुना तो पूर्व में हुई हमारी बीमारी का संस्मरण अन्य संस्मरणों को दबा कर ऊपर आ गया और उसने ही हमारे द्वारा प्रयोग में लाई गई औषधि का उल्लेख कर देने के हेतु हमें बाध्य कर दिया। यही कारण है कि मित्र मण्डली में जब एक मित्र जंगल में शेर से भेंट होने की एक घटना सुनाता है तो अन्य मित्रों को भी इसी से मिलती-जुलती घटनायें याद आने लगती हैं। इतना ही नहीं प्रायः सभी मित्र अपनी-अपनी उन घटनाओं को सुनाकर ही संतोष अनुभव करते हैं।

अतः यह स्पष्ट है कि जामुन के गुच्छे को लाने वाले साहसी कुशल बालक के स्मृति-पटल पर अंकित जामुन के गुच्छे को तोड़ने आदि की सम्पूर्ण क्रमबद्ध घटना का एक संस्मरण उसके अनन्त संस्मरणों के साथ रहेगा ही और जब भी उस बालक को कर्तव्य-पालन करना होगा तब वैसा ही संस्मरण उसके सामने आवेगा और उसे जोश में आकर कर्तव्य-भार को स्वीकार करने और फिर कठिनाई आने पर किंकर्तव्यविमूढ़ होने तथा फिर साहस व कुशलतापूर्वक कर्तव्यपरायण बनाने में सहायक होगा।

कल्पना कीजिये कि अब वह बालक वयस्क हो जाता है। एक दिन उसके पड़ोसी के निवास स्थान में अग्नि-काण्ड की दुर्घटना हो जाती है। संयोग से एक बालिका, जो कमरे में सो रही थी, कमरे से बाहर नहीं आ सकी है। कमरे के द्वार के किवाड़ भी जलने लग गये

हैं। पड़ोसी की सहायता करने में आस-पास के निवासी जुटे हैं और इन सहायता करने वालों में वह वीर बालक भी सम्मिलित हैं। लोग बालिका को कमरे से बाहर निकालने का प्रयत्न कर रहे हैं, किन्तु कमरे में जाने का साहस कोई भी नहीं कर पा रहा है। ऐसी भीषण परिस्थिति में वह वीर वयस्क बालक एकदम आगे बढ़ कर बालिका को निकालने हेतु जलते किवाड़ों को धक्का देकर या किसी अन्य विधि से भीतर जाने का प्रयत्न करेगा। लेकिन प्राण जाने का भय देख मन ही मन बचने की युक्ति भी सोचेगा, किन्तु फिर साहस कर युक्ति से स्वयं की रक्षा करते हुए उस बालिका की रक्षा कर ही लेगा। उस बालक के मस्तिष्क की उन क्रियाओं को, जिनको प्रयोग में लाकर उसने बालिका की रक्षा की, कोई भी प्रत्यक्ष नहीं देख सकता है। वस्तुतः यह तो भुक्तभोगी के स्वयं के अनुभव का विषय है। प्रत्यक्ष में तो कर्तव्यभार का स्वीकार करना और जिस युक्ति से वह कर्तव्यपरायण हुआ है केवल वही देखा जा सकता है।

उपरोक्त विवेचन से हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि मानव के मस्तिष्क में सफलता (कर्तव्यपरायणता) एवं असफलता (कर्तव्य की अवहेलना) की घटनाओं के संस्मरण भरे रहते हैं। तत्सम वायुमण्डल उपस्थित होने पर वे स्वयं ही सामने आ जाते हैं। और हम उन घटनाओं को स्मरण करने लगते हैं। प्रायः यह भी अनुभव में आता है कि मानव अपने जीवन में यदि कुछ कामों में सफल हुआ प्रतीत होता है तो कुछ कार्यों में असफल भी रहता है। इसका रहस्य जानने के लिये हमें पुनः उपरोक्त जामुन का गुच्छ लाने वाले साहसी बालक की घटना पर दृष्टिपात करना होगा। विचार कीजिये कि उस बालक में धैर्य न होता तो वह जोश में आते ही जामुन के वृक्ष पर चढ़ तो जाता परन्तु जोश ठंडा होने पर उसे तत्काल कर्तव्य-परायणता का विचार न आता। और तब वह बालक जल्दी से वृक्ष से नीचे उतर भी आता। ऐसी दशा में उस बालक की इस असफलता की घटना का भी उसके मस्तिष्क में एक संस्मरण बन जाता जो भविष्य में कठिनाई के अन्य अवसरों पर उसे उनसे बचने के लिये प्रेरित करता। इस प्रकार यदि उस बालक के मस्तिष्क में असफलताओं के संस्मरण प्रचुर मात्रा में बन जाते हैं तो

जब-जब भी कठिनाईयों के प्रसंग उसके सामने आवेंगे तब-तब वे संस्मरण उस बालक को कठिनाई से बचने की ही प्रेरणा देंगे।

इसके विपरीत यदि धैर्यपूर्वक अपनी युक्ति से उस बालक ने अपना कर्तव्य-पालन कर सफलता प्राप्त की है तो सफलता के संस्मरण का निर्माण होगा। किन्तु जब सफलता के संस्मरणों की मात्रा असफलता के संस्मरणों की मात्रा से अधिक हो जाती है तो कठिनाई आने पर सफलता के संस्मरण अपने आधिक्य के कारण असफलता (कायरता) के संस्मरणों को दबा देते हैं इतना ही नहीं वरन् वे कर्तव्य-पालन की युक्तियों का स्फुरण उत्पन्न कर व्यक्ति को सफलता प्राप्त करने में योग देते हैं अतः मानव की विजय के लिये सफलता की घटनाओं के संस्मरणों का सहयोग (उन घटनाओं का स्मरण) मानव को धैर्यप्रदान करने तथा कर्तव्य-पालन में कठिनाईयों के बीच डटे रहने की प्रेरणा देकर उसको सफल बनाने की क्षमता प्रदान करता है। अतएव सफलता के इस रहस्य से परिचित मानव सदैव उत्साहवर्धक सफलता के वायुमण्डल में ही रहने का सतत् प्रयत्न करेगा।

सफल वायु-मण्डल निर्माण करने में व्यक्तियों के जीवन की सफल घटनाओं को पढ़ने का तथा उन सफल घटनाओं को चित्रपट आदि पर देखने का भी बड़ा प्रभाव होता है। क्योंकि जब हम सफलताओं के घटना चित्र देखते हैं तथा सफल होने की युक्तियों के विवरण सुनते हैं तो उन पढ़ी हुई या देखी हुई चित्रमय घटनाओं के संस्मरण स्मृति-पटल पर अपना स्थान बना लेते हैं अतः ये संस्मरण समय-समय पर हमको कर्तव्य-परायण होने की विचारधारा प्रदान कर मार्ग-दर्शन कराने में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होते हैं।

अब यदि हम यह जानना चाहते हैं कि किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर फिर कर्तव्य-परायण होने पर मस्तिष्क के अन्दर क्या-क्या क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न होती हैं तो उपरोक्त जामुन का गुच्छा लाने वाले साहसी बालक की किंकर्तव्य-विमूढ़ स्थिति में उसके मस्तिष्क में जो-जो क्रियाएँ हुई थीं उनको जानना आवश्यक है। और फिर कर्तव्य परायण होने के लिये तत्पर होते हुए उसकी स्थिति में क्या-क्या प्रतिक्रियाएँ हुई

यीं उनसे भी भली-भांति परिचित होना चाहिये।

अस्तु, विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सर्वप्रथम तो वह बालक जैसे ही पतली डाल पर पैर रखना चाहता था उसी क्षण उसके मस्तिष्क में पहली क्रिया नीचे गिर कर मृत्यु होने के भय की हुई, क्योंकि उसे प्राणों का मोह था। प्राणों का भय उत्पन्न होते ही फिर दूसरी क्रिया यह हुई कि वह निराश हो उठा और परिणामस्वरूप उसके शरीर में कंपन, पसीने का आना तथा रोमांच हुआ अर्थात् शरीर की स्थिति स्वस्थ नहीं रही फिर तीसरी प्रतिक्रिया जामुन का गुच्छा तोड़ सकने में (कर्तव्य-पालन में) सन्देह उत्पन्न हुआ और अन्त में चौथी क्रिया यह हुई कि उसने कर्तव्य-पालन की प्रतिज्ञा को भूल कर कर्तव्य विमुख होने को उचित समझा तथा कर्तव्य-विमुख होने का औचित्य सिद्ध करने हेतु पुष्ट तर्क सोचने लगा। इन सब भीतरी क्रियाओं को हम संक्षेप में यों कह सकते हैं कि कर्तव्य विमूढ़ स्थिति आने पर पहले तो प्राणी को प्राणों का मोह उत्पन्न होता है और वह स्वस्थ नहीं रहता है। उसके स्वस्थ न रहने से कर्तव्य-पालन में सन्देह उत्पन्न हो जाता है तब कर्तव्य पालन की प्रतिज्ञा की विस्मृति हो जाती है।

अब बालक के कर्तव्य परायण होने की स्थिति पर विचार कीजिये। जब वह बालक पुनः धैर्यपूर्वक कर्तव्य पालन में तत्पर होता है तो इन्हीं चारों क्रियाओं की प्रतिक्रियायें उत्पन्न होती हैं। अर्थात् प्राणों का मोह दूर हो जाता है, शारीरिक स्थिति स्वस्थ हो जाती है, प्रतिज्ञा पूर्ति में सन्देह नहीं रहता तथा की हुई प्रतिज्ञा पुनः स्मरण हो आती है। इस प्रकार के द्वन्द्व को जब भावुक कवि अपनी लेखनी से लिखकर उन्हें सजीव बनाने का प्रयास करते हैं तब उनके इस प्रयास से जग का कितना उपकार होता है यह पाठक एवं श्रोता ही जानते हैं। यदि यह कहा जाय तो अनुचित नहीं होगा कि लोकहितार्थ अपनी कृति में मानवीय अंतर्द्वन्द्वों का सजीव चित्रण करना ही वस्तुतः श्रेष्ठ कलाकार की श्रेष्ठतम कला है। क्योंकि ऐसी कृतियों को यदि साहसी पाठक पढ़ता है तो उन भावों के संस्कार

उसके मस्तिष्क में स्थान ग्रहण कर लेते हैं और जब कभी वह साहसी पुरुष किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है तो वे संस्कार उसको अनुप्राणित कर तत्काल कर्तव्य-परायण होने की क्षमता प्रदान करते हैं।

इसी प्रकार यदि साधारण पाठक भी जो साहसी नहीं है जब अंतर्द्वन्द्वों के सजीव भावों को पढ़ता-सुनता है तो उसके मस्तिष्क में भी वैसे ही संस्कारों का निर्माण होता है जो उसे कम से कम साधारण स्थिति से ऊपर उठाकर साहसी व्यक्ति की श्रेणी में तो ला ही देते हैं। ऐसी महान् विभूति जिन्होंने मानवजीवन के अंतर्द्वन्द्व का सजीव चित्रण गीता में किया है हमारे आदरणीय महाकवि वेदव्यास जी हैं। उन्होंने अपूर्व सफलतापूर्वक अपने अद्भुत काव्यकौशल से मानव का कर्तव्य-परायण होने के लिये आह्वान किया है। उन्होंने अपने मस्तिष्क में किंकर्तव्य-विमूढ़ स्थिति आने पर पतन के तथा कर्तव्य-परायण स्थिति आने पर उत्थान के दो भिन्न-भिन्न संस्मरणों के समूहों में नित्य होने वाले अंतर्द्वन्द्व को स्पष्ट अनुभव किया है।

वेदव्यास जी द्वारा अनुभूत इन दो भिन्न-भिन्न संस्मरणों के समूहों को हम बोल-चाल की भाषा में 'सफलतापूर्वक मार्गदर्शन कराने वाली वृत्ति' और 'असफलता की ओर ले जाने वाली वृत्ति' कह सकते हैं। 'असफलता की ओर ले जाने वाली वृत्ति', कर्तव्य विमुख विचारधारा को मानव के सम्मुख उपस्थित कर उसको कर्तव्य विमुख बनाने की चेष्टा करती है, जबकि 'सफलता से मार्ग दर्शन कराने वाली वृत्ति' मानव को कर्तव्य-परायण होने की युक्ति सुझा देती है।

सम्भव है वेदव्यास जी ऐसे ही भुक्तभोगी को अपनी कृति का पात्र बनाना चाहते होंगे जिसके कृत्यों के माध्यम से मानवीय अंतर्द्वन्द्व का दर्शन उनकी कृति में स्पष्ट कराया जा सके। उन्होंने अपनी वाणी को विश्वसनीय सिद्ध करने के लिये सम्भवतः इस अन्तर्द्वन्द्व को व्यक्त करने वाली ऐसी ऐतिहासिक घटना की खोज की होगी जिस पर तत्कालीन और आगामी पीढ़ी समान रूप से पूर्ण विश्वास कर सके।

तब उनकी दृष्टि अनायास ही महाभारत के उस कथानक पर गई होगी जहाँ अर्जुन ने युद्धस्थल में युद्ध से विमुख होने की चेष्टा की थी। अर्जुन क्षत्रिय है और क्षत्रिय को धर्मयुद्ध कर्तव्य-द्वार है अतः अर्जुन के युद्ध-विमुख होने पर भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन का पथ प्रदर्शन करते हैं। वे अपनी अमूल्य युक्तियों द्वारा उसे कर्तव्यपरायण बनाते हैं और उसकी विजय कराते हैं। अतः उनके मन के अनुकूल उपरोक्त अन्तर्द्वन्द्व दिखाने के योग्य अधिकारी भगवान् श्रीकृष्ण व अर्जुन उन्हें इस कथानक में मिल जाते हैं। वैसे तो मानवीय मस्तिष्क एक है पर वेदव्यासजी भीतरी अन्तर्द्वन्द्व की उपरोक्त दो क्रियाओं को स्पष्ट दिखाना चाहते होंगे। अतः मानव के भीतरी इन दो भिन्न भावों का स्पष्ट प्रदर्शन कराने के लिये दो पृथक-पृथक पात्रों की आवश्यकता उन्हें युक्तियुक्त प्रतीत हुई होगी। उन्होंने 'सफलता पूर्वक मार्ग दर्शन कराने वाली वृत्ति' की विचारधारा को व्यक्त करने को भगवान् श्रीकृष्ण एवं 'असफलता की ओर ले जाने वाली वृत्ति की विचारधारा' को व्यक्त करने के लिये अर्जुन को उचित समझा।

इस प्रकार दोनों श्रेष्ठ पात्रों द्वारा मस्तिष्क का अन्तर्द्वन्द्व भी दिखाया जा सका और साथ ही पृथक-पृथक पात्रों के रूप में उनके सम्वाद का प्रकरण इस अन्तर्द्वन्द्व को रोचक कथानक का रूप भी दे सका।

वेदव्यासजी महाभारत महाकाव्य की रचना तो कर ही रहे थे अतः इस सम्वाद को उसी के अन्तर्गत वर्णन करने में भी उन्हें महाकाव्य की कथावस्तु के प्रवाह में कोई रुकावट प्रतीत नहीं हुई होगी।

अर्जुन धैर्यवान्, कुशल एवं साहसी व्यक्ति है। जब असफलता के संस्मरणों का उस पर आक्रमण होता है तब वह किंकर्तव्य-विमूढ़ विचारधारा के संस्मरणों के आधीन हो जाता है और उससे किंकर्तव्य-विमूढ़ स्थिति की चार क्रियायें व्यक्त होती हैं :-

१. उसे (अर्जुन को) प्राणों का मोह उत्पन्न होता है।
२. उसका शरीर काँपने लगता है, रोमांच हो जाता है, त्वचा जलने

लगती है, गांडीव हाथ से गिर जाता है अर्थात् वह पूर्ववत् स्वस्थ नहीं रहता है।

३. अब उसे युद्ध जीतने में भी सन्देह है जिससे-

४. युद्ध करने की प्रतिज्ञा को वह भूल जाता है अतः वह अपनी कर्तव्यविमुखता की पुष्टि में शास्त्रीय पण्डितों जैसे तर्क उपस्थित कर युद्ध से विमुख होने में ही अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने का प्रयत्न करता है।

अस्तु, यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जब लिखते-लिखते वेदव्यास जी भीष्म-पर्व का वर्णन कर रहे होंगे तब उनको यह विचार आया होगा कि अपने भीतरी संस्मरणों की क्रिया-प्रतिक्रिया के चित्र को भी जन साधारण के लाभार्थ चित्रित किया जाना उचित है। अतः इस अन्तर्द्वन्द्व के सजीव चित्रण के हेतु उन्होंने श्रीमद्भगवद्गीताशास्त्र की रचना उचित समझी हो। अतएव भगवद्गीता की रचना उन्होंने उस शैली में की जिससे कि वह महाभारत का एक प्रकरण होते हुये भी पृथक् से एक शास्त्र बन सके। साथ ही यदि पाठक चाहें तो उसे महाभारत से पूर्णतः निकालकर पृथक् शास्त्र का रूप भी दे सकते हैं। अतः वे महाभारत के भीष्म-पर्व में श्रीमद्भगवद्गीता की रचना करते हैं। असफलता के संस्मरणों का प्रभाव अर्जुन और सफलता के संस्मरणों का प्रभाव कर्तव्यपरायण बनाने तथा मार्गदर्शन हेतु भगवान् श्रीकृष्ण व्यक्त करते हैं।

इस प्रकार बाह्य दृष्टि से महाभारत महाकाव्य की इस घटना की, जो श्रीकृष्ण और अर्जुन के मध्य हुई थी, सत्यता भी बनी रहती है और साथ ही भगवान् श्रीकृष्ण के अस्तित्व में एवं उनके प्रति भक्तों की श्रद्धा में भी मस्तिष्क के भीतरी अन्तर्द्वन्द्व का उल्लेख करने से कोई अन्तर नहीं आता है।

इसी प्रकार यदि पाठक चाहें तो यह कल्पना भी कर सकते हैं कि गीता में दिये गये भगवान् श्रीकृष्ण के कर्तव्य-परायण बनाने के आदेश और अर्जुन के कर्तव्य-विमुख-भावना के संस्मरण अर्जुन

के मस्तिष्क के कोषों में पूर्व से ही विद्यमान हो सकते हैं किन्तु युद्धस्थल में भगवान् श्रीकृष्ण को देखकर अर्जुन को इन संस्मरणों का पुनः स्मरण होने लगा हो।

अतः युद्धस्थल में भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन का सम्वाद जो गीता में सात सौ श्लोकों में वर्णित है, हुआ ही न हो, ऐसा भी कहा जावे तो असंगत न होगा। क्योंकि अर्जुन उन सम्वादों को जो उसके मस्तिष्क में पूर्व से ही विद्यमान हों उन्हें भी तो स्मरण कर सकता है। केवल उसी की झाँकी वेदव्यासजी ने पाठकों के लाभार्थ श्रीकृष्ण भगवान् और अर्जुन के द्वारा दिखाई हो, यह भी संभव हो सकता है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि पाठकों की इस शंका का कि युद्धारम्भ का शंख बजने के बाद भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन का इतना लम्बा सम्वाद कैसे हुआ होगा, समाधान हो सकता है। अतः युद्धभूमि में युद्धारम्भ कर देने के हेतु शंखध्वनि की जाने के बाद कौरव और पाण्डव दोनों दलों को अर्जुन और श्रीकृष्ण के सम्वाद के पूर्ण होने तक युद्ध कैसे रुका रहा, कहने की पाठकों को अब आवश्यकता अनुभव न होगी। क्योंकि सम्भव है अर्जुन अपने पूर्व अर्जित संस्मरणों का ही स्मरण करने लगा हो। हाँ, स्मरण करने में अर्जुन के मस्तिष्क की क्रिया-प्रतिक्रिया तो अत्यल्प समय में ही हो सकती है और बाहर से लोगों को इस अन्तर्द्वन्द्व का पता भी नहीं चल सकता। लोग तो अर्जुन को युद्ध में ही निमग्न पावेंगे। कोई बहुत बड़ा मनोवैज्ञानिक ही ऐसे समय में अर्जुन की मुखाकृति से उसके मानसिक भावों के उतार-चढ़ाव का अनुमान लगा सकता है।

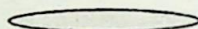
इस प्रकार वेदव्यास जी ने भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को कर्तव्य-परायण बनाकर श्रीमद्भगवद्गीता के रूप में वह दिव्य संदेश दिया है जो जाति-भेद, वर्ण-व्यवस्था अथवा साम्प्रदायिकता एवं राष्ट्रीयता के संकुचित एवं सीमित क्षेत्र के बंधन को तोड़कर अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में प्रवेश कर मानव मात्र को कर्तव्यरत होने की प्रेरणा देने के साथ-साथ उसे पूर्ण शांति प्रदान कर अमरत्व भी प्रदान करता है। क्योंकि प्रायः देखा

जाता है कि मानव शान्त चित्त से ही कर्त्तव्य-पालन करना चाहता है। इतना ही नहीं वह यह भी चाहता है कि चाहे कितना भी समय क्यों न लगे परन्तु उसका हस्तगत कार्य सफल ही हो। यदि एक जीवन की अवधि उसके महान् कर्त्तव्य को देखते हुये अल्प प्रतीत हो तो वह जीवन को दीर्घ बनाना चाहता है अथवा यों कहिये कि वह कर्त्तव्य को पूर्ण साकार देखने के लिये अमर होना चाहता है। मानव की इस अभिलाषा की पूर्ति वेदव्यास जी ने श्रीमद्भगवद्गीता द्वारा की है। साथ ही वे अभिलाषा करते हैं कि श्रीकृष्ण भगवान् और अर्जुन के सम्वाद द्वारा व्यक्त जीवन की सार्थकता के रहस्य प्रकट करने वाली श्रीमद्भगवद्गीता की कथा उसी प्रकार सुनाई जावे जैसे प्रायः विद्वानों द्वारा पुराणों आदि की कथाएँ सुनाई जाती हैं। इस परम्परा को प्रचलित करने की दृष्टि से वे अपने द्वारा गीता के रहस्य को लिखने से पूर्व कथावाचक के रूप में ज्ञानी व जितेन्द्रिय संजय को तथा श्रोता के रूप में धृतराष्ट्र को जो 'मेरे', 'तेरे' में पूर्णतः आसक्त है और आँखों से पूरी तरह लाचार होते हुए भी युद्धचर्चा सुनने को लालायित हैं, चुन लेते हैं। चूँकि अन्तर्द्वन्द्व का अनुभव दिव्य दृष्टि द्वारा होता है अतः उन्होंने संजय को दिव्यदृष्टि भी प्रदान की है। संजय दिव्य दृष्टि द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन के सम्वाद के संस्मरणों को ज्यों के त्यों अक्षरशः अपने मस्तिष्क में क्रमशः धारण कर लेता है और उसी ज्ञान की चर्चा क्रमबद्ध रूप से धृतराष्ट्र से करता है। इस प्रकार वे सर्व प्रथम गीता रहस्य की कथा संजय के मुख से कहलाकर दूसरी बार वे स्वयं कहने की कृपा करते हैं और आशा करते हैं कि अन्य विद्वज्जन भी गीता के ज्ञान की कथा द्वारा लोक-कल्याण करने की परम्परा को बनाये रखेंगे।

इस ग्रन्थ के मंथन करने से स्पष्ट विदित होगा कि यह शास्त्र मानव से शांतिपूर्वक कर्त्तव्य कराते हुए उसे अमरत्व प्राप्त करने की अकाट्य युक्ति सुझाता है। इस प्रकार इस गीता शास्त्र का प्रारंभ शान्तिपूर्वक कर्त्तव्य-परायण बनाते हुये मानव को निरन्तर कर्म में अग्रसर करने के लिये अद्वितीय संरक्षक का कार्य करता है। इस प्रभाव की प्रतिक्षण उपस्थिति मानव-उत्थान के लिये आवश्यक प्रतीत होती है।

वेदव्यास जी श्रीमद्भगवद्गीता के अठारह अध्यायों में समस्त

महत्वपूर्ण विवेचन को रहस्यमय शैली में रोचक बनाते हुये अत्यन्त विस्तार से प्रस्तुत कर पाठकों को हृदयंगम कराते हैं। उपरोक्त व्यावहारिक दृष्टिकोण को सम्मुख रखते हुये ही प्रत्येक अध्याय का भाव सार-रूप में यहां प्रस्तुत किया जा रहा है जिससे जिज्ञासु पाठक स्पष्ट रूप से क्रम-क्रम से यह अनुभव कर सकें कि कैसे एक व्यक्ति प्राणादि के मोह के कारण अनपेक्षित विषम परिस्थिति के आने पर स्वधर्म पालन करने में किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है और किस प्रकार वह अपने पूर्व में अर्जित ज्ञान द्वारा मोह को दूर कर स्वधर्मपालन में पुनः कटिबद्ध हो जाता है। इतना ही नहीं वरन् अत्यन्त विशद रूप में यह भी पाठक अनुभव करेंगे कि स्वधर्म पालन करने के निमित्त किये जाने वाले कर्म जीवन भर अत्यन्त सरलता से कैसे किये जा सकते हैं। और उनके करते समय पूर्ण शान्ति एवं प्रसन्नता भी कैसे बनी रह सकती है।



गीता के अध्ययन में सहायक

मानव-कलेवर एवं उसके अविनाशी तत्वादि

का

आध्यात्मिक विवेचन

श्रीकृष्ण भगवान् के गीता के उपदेशारम्भ से पूर्व अविनाशी बन मृत्यु पर हम विजय क्यों प्राप्त करना चाहते हैं तथा शरीर के नाम और रूप मिट जाने पर भी हमारी मृत्यु किस प्रकार नहीं होती, इन तथ्यों पर भी कुछ विचार कर लेने से भगवान् के उपदेश ग्रहण करने में हमें सुगमता प्रतीत होगी। अतः अब इस रहस्य पर ही विचार किया जा रहा है।

अविनाशी होने
की
महत्ता

प्रत्येक व्यक्ति अपने लक्ष्य को पूर्णतः सफल देखने की उत्कट अभिलाषा रखता है। मनोनीत लक्ष्य की पूर्ति के लिये बड़ी-बड़ी योजनाएँ बनाना और उन्हें कार्यान्वित करना भी आवश्यक है। इन आयोजनों व कार्यों को पूर्ण करने के लिये प्रायः बहुत अधिक समय वांछनीय है किन्तु मानव जीवन की अवधि अल्प है। इस अवधि में इसकी योजनाएँ पूर्ण नहीं होने पातीं अतः वह दीर्घ जीवन चाहता है। इस दीर्घ जीवन की अन्तिम सीमा है जीवन का सदैव अस्तित्व बनाये रखना अर्थात् जीवन को अविनाशी बनाना। अस्तु, अविनाशी-भाव के उदय होते ही कार्य कितना भी बड़ा क्यों न हो, उसको पूरा करने के लिये अदम्य उत्साह स्थिर रखा जा सकता है अतः अविनाशी होना अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अब यह भाव कैसे प्राप्त हो सके अर्थात् मृत्यु पर हम विजय कैसे प्राप्त कर सकते हैं, यह प्रश्न शेष है।

मृत्यु पर
विजय

मृत्यु की भयानकता व उसके आतंक के सम्बन्ध में ऐसा कौन सा व्यक्ति है जो उससे परिचित न हो। इसका नाम सुनते ही बड़े से बड़े धैर्यवान् अधीर हो जाते हैं। समस्त कल्पनाएँ क्षण भर में नष्ट हो जाती हैं। मृत्यु की भयानकता तो अर्जुन जैसे महारथी को भी हिला (कँपा) देती है और उसे कायर बना देती है। पर धन्य है उन ऋषियों, महर्षियों, योगियों तथा योगीराज भगवान् श्रीकृष्ण को जिन्होंने मृत्यु पर विजय प्राप्त करने की विधि का अनुपम अनुसंधान किया। इस दिशा में घोर तप कर उन्होंने उन तथ्यों को प्रकट किया जिनसे मृत्यु की भयानकता दूर होकर शरीर का त्यागना वस्त्र उतारने के समान साधारण सा दैनिक कार्य बन जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण योगीराज हैं। उनका इस दिशा का अनुभव पिछले सब अनुभवों से सुबोध एवं अत्यन्त व्यावहारिक है। वेदव्यास जी ने भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा प्रतिपादित इसी मृत्युंजय तथ्य का विवेचन मूलरूप

से महाभारत के भीष्म-पर्व में श्रीमद्भगवद्गीता के रूप में भगवान् के ही मुखारविन्द से व्यक्त कराया है। इस तथ्य को समझकर ही व्यवहार में लाने से संसार के अनन्त अर्जुन जीवनमुक्त बन चुके हैं, बन रहे हैं और आगे भी बनते रहेंगे।

शरीर छूट जाने
पर भी हमारी
मृत्यु नहीं होती।

अर्जुन का प्राणों का मोह उसे कर्तव्यविमुख कर देता है एवं उसी के समर्थन में वह विद्वतापूर्ण तर्क उपस्थित करता है। भगवान् श्रीकृष्ण जो उसके सामने हैं, रथ पर सारथी बने बैठे हैं, उसकी शारीरिक स्थिति पर अचानक ही दृष्टि डालते हैं और तत्काल ही वे अर्जुन की समस्त आन्तरिक भावनाओं को समझ लेते हैं। अतः उसके पूर्व संचित ज्ञान का वे उसे

स्मरण दिलाते हैं कि पण्डितजन, जिनके प्राण चले गये हैं उनके लिये भी शोक नहीं करते। शरीर तो जड़ है और आत्मा नित्य है। “मैं” “तुम” तथा ये राजा लोग इस जन्म से पहले भी थे और शरीर छूटने पर भी रहेंगे। बस, श्रीकृष्ण भगवान् के इतने संकेत मात्र से ही अर्जुन को उनके द्वारा समय-समय पर दिये गये उपदेश एवं सांख्य शास्त्र का ज्ञान स्मरण हो आता है। अर्जुन को भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा समय-समय पर दिये गये जो ज्ञान के रहस्य स्मरण हुये उन्हें जानने के लिये पाठकों को प्राणी की रचना के पूर्ण स्वरूप से परिचित होना अत्यावश्यक है अतः

प्राणी के
स्वरूप का
विश्लेषण

प्राणी के स्वरूप का वर्णन विस्तृत रूप से किया जा रहा है :-

देखने में तो प्राणी का शरीर एक इकाई ही दिखता है पर विचार करने पर उसके तीन स्वरूप भान होने लगते हैं।

१. स्थूल शरीर.

२. सूक्ष्म शरीर अर्थात् स्थूल शरीर के भीतर मस्तिष्क के

कोषों में अंकित विचारों के स्मृति चिह्न*

३. अव्यक्त शरीर जो स्थूल शरीर व सूक्ष्म शरीर को जानता है। यह अव्यक्त शरीर आँख का तो विषय है ही नहीं, बुद्धि द्वारा ही एकनिष्ठ होकर मनन करने पर उसे जाना जा सकता है। इन्हीं तीनों खण्डों का सामान्य परिचय जानना प्राणी के स्वरूप को जानने के लिये आवश्यक है। अस्तु,

१. स्थूल शरीर

आँख से प्राणी का स्थूल शरीर मात्र ही देखा जा सकता है। यह शरीर एक पिण्ड सा है जो दस इन्द्रियों से युक्त है- पाँच कर्मेन्द्रिय-हस्त, पाद, वाक्, उपस्थ (मूत्र-वाहिनी इन्द्रिय) और गुदा तथा पाँच ज्ञानेन्द्रिय-कान, त्वचा, नेत्र, नासिका और जीभा। इस पिण्ड की दसों इन्द्रियाँ स्वतन्त्र रूप से स्वयं कुछ नहीं करती। वे तो केवल प्राणी की इच्छा-पूर्ति में साधन मात्र हैं। जैसे, जब प्राणी किसी वस्तु को देखना चाहता है तो आँखों की सहायता से उसकी देखने की क्रिया होती है और यदि वह प्राणी उस वस्तु को नहीं देखना चाहता तो नेत्र उस ओर स्वयं ही नहीं देख सकते। इसी प्रकार हाथ को जब हम उठाते हैं तभी वह उठता है, अपने आप नहीं उठता। अन्य इन्द्रियों के कार्य करने का ढंग भी सबको ऐसा ही अनुभव में आता है। अतः यह स्थूल शरीर इन्द्रियों सहित जड़ वस्तुओं जैसा ही है और इसका उपयोग प्राणी अपनी इच्छानुसार किया करता है।

२. सूक्ष्म शरीर

प्राणी के मस्तिष्क के अन्तर्गत जो इच्छायें (विचारधारायें) मस्तिष्क के कोषों पर स्मृति चिह्नों के रूप में विद्यमान रहती हैं उन इच्छाओं के ही समूह को उस प्राणी का सूक्ष्म शरीर कहते हैं। इसके

* आध्यात्मिक दृष्टिकोण से अनेक जन्मों के संस्कारों को महाकारण शरीर कहते हैं और इसके अन्तर्गत जो पूर्व-जन्म के संस्कार होते हैं उन संस्कारों को कारण शरीर कहते हैं। फिर कारण शरीर के अन्तर्गत सूक्ष्म शरीर होता है जिसे पूर्वजन्म के व इस जन्म में पड़े मिले हुये संस्कार कहा जा सकता है। इस प्रकार प्राणी के सूक्ष्म शरीर का विवेचन विस्तार से किया जाता है, परन्तु यहाँ सूक्ष्म शरीर से अभिप्राय उन विचारों के स्मृति

चिह्नों से है जो मानव के मस्तिष्क के कोषों में विद्यमान रहते हैं। कार्य, स्थूल शरीर द्वारा होते रहते हैं। इन विचार-कोषों के स्मृति चिह्नों की क्रिया के तीन रूप हैं। सर्व प्रथम प्राणी को किसी कार्य के करने या न करने का संकल्प उठता है। फिर वैसा ही करने या न करने का समर्थन तथा संरक्षण का भाव उठता है तदुपरान्त कार्य करना अभीष्ट होता है तब ही अनुकूल क्रिया होती है अन्यथा नहीं। इन तीनों क्रियाओं की शक्तियों को क्रम से मन, बुद्धि और अहंकार (अहंभाव) कहते हैं। जैसे हमको देव-दर्शन की इच्छा का स्मरण हुआ तो हम कहेंगे कि हमारे मन में देव-दर्शन की इच्छा है। इस इच्छा मात्र से अर्थात् मन की क्रिया से देव दर्शन नहीं होते। अब देव-दर्शन की मन की क्रिया, दूसरी क्रिया पर अवलम्बित है, जिसे हम बुद्धि कहते हैं। अतः यदि बुद्धि मन का समर्थन करती है और संरक्षण को तैयार है तो मन का आदेश सभी इन्द्रियाँ मानने को तत्पर दिखेंगी, पर इन्द्रियों के इच्छुक होने पर भी देव-दर्शन नहीं हुये। अब इन इन्द्रियों का क्रियाशील होना एक तीसरी अन्य क्रिया पर अवलम्बित है जिसे हम अहंकार कहते हैं-अहंकार (अहंभाव) अर्थात् स्थूल व सूक्ष्म शरीर को अपना कहने वाली शक्ति जिसे 'मैं पन' कहा जा सकता है। इस अहंकार (अहंभाव) का ही संकेत अनुभव होते ही हम देवदर्शन को जाते हुए दिखाई देते हैं और अन्त में देव-दर्शन करते भी हैं। तत्पश्चात् पुनः अन्य संकल्प का स्फुरण अनुभव होने लगता है तथा उसे पूर्ण करने की पूर्ववत् चेष्टाएँ भी होने लगती हैं। हाँ यदि स्फुरण अशक्त है तो संकल्प पूर्ति के लिए समुचित चेष्टाएँ भी नहीं होती। इसी प्रकार प्रत्येक प्राणी को सदैव संकल्पों का स्फुरण होता रहता है और इन्हीं संकल्पों में से सशक्त संकल्पों को पूर्ण करने में हम उस प्राणी को व्यस्त पाते हैं। इन्हीं तीन शक्तियों को एक प्राणी की शक्ति की अपेक्षा समस्त प्राणीमात्र की शक्तियों का सामूहिक रूप कहा जाय तो इनका बड़ा आकार हो जावेगा जिन्हें हम क्रम से मन, बुद्धि व अहंकार न कहते हुए प्रतीकात्मक रूप में ब्रह्मा (विधि), विष्णु (हरि) महेश (शंभु) कह सकते हैं। क्योंकि मन, संकल्प की क्रिया को कहते हैं और संकल्प से ही

सृष्टि की रचना होती है तथा पुनः का रक्षण तथा ब्रह्मा कहा जाता है, अतः सृष्टि के प्राणी मात्र के मन की समस्त एकत्रित शक्ति को हम ब्रह्मा कहते हैं। इसी प्रकार 'बुद्धि' समर्थन व संरक्षण की क्रिया को कहते हैं और सृष्टि का संरक्षण अथवा पालन-पोषण करने वाली शक्ति को 'विष्णु' कहते हैं। अतः प्राणी मात्र की बुद्धि को समग्र रूप से सृष्टि का पालन करने वाली शक्ति "विष्णु" कह सकते हैं। इसी क्रम में अहंकार को कार्य की पूर्णता की क्रिया शक्ति कहते हैं और चूँकि सृष्टि का अन्त करने वाले को महेश या "शंभु" कहते हैं अतः प्राणी मात्र के समष्टि रूप में अहंकार को समस्त सृष्टि का अन्त करने वाला महेश (शंभु) कह सकते हैं। इस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश (शंभु) की क्रियाएँ जो मस्तिष्क के कोषों पर अंकित स्मृति चिह्नों की गतिविधियाँ ही हैं, जगत के सूक्ष्म शरीर की क्रियाएँ कही जाती हैं और इन क्रियाओं का कार्य जिन साधनों से होता है वे समस्त साधन मिलकर जगत का स्थूल शरीर कहलाता है। अब यदि उपरोक्त बृहत् क्रिया-शक्तियों को पुनः संकुचित कर एक प्राणी में अनुभव करें तो एक प्राणी के मन, बुद्धि व अहंकार की क्रिया-शक्तियाँ ही उस प्राणी का सूक्ष्म शरीर है और इन क्रिया शक्तियों का कार्य जिन साधनों से होता है वे साधन ही मिलकर उस प्राणी का स्थूल शरीर है।

सूक्ष्म शरीर
के मन तत्व
की क्रिया
का विवरण

प्राणी के समस्त संकल्प यानी विचारों का स्फुरण-स्थान एकमात्र मन है। ये स्फुरित होने वाले विचार तीन भागों में विभक्त कर दिये गये हैं, ताकि उनके पृथक-पृथक स्वरूप अच्छी तरह से समझे जा सकें। इन्हीं तीन भागों के नाम सत्त्वगुण, रजोगुण, एवं तमोगुण, रखे गये हैं। प्राणी मात्र के कल्याणकारी विचार 'सत्त्वगुण' कहलाते हैं। प्राणी के व्यक्तिगत कल्याण करने वाले विचार 'रजोगुण' कहलाते हैं और इसी प्रकार वे विचार जिनसे प्राणी मात्र का व्यक्तिगत द्वन्द्व एवं सामूहिक रूप से अन्य व्यक्तियों का भी द्वन्द्व होता दिखता है, 'तमोगुण' कहलाते हैं। समस्त सृष्टि में व्याप्त 'सत्त्वगुण' 'रजोगुण' व

‘तमोगुण’ के सामूहिक विचार समूह को त्रिगुणात्मक माया कह सकते हैं। वस्तुतः यह माया ही जीव को नचाया करती है।

अब यह प्रश्न उठता है कि प्राणी जन्म से लेकर अन्त तक जिन-जिन प्राणियों के अधिक सम्पर्क में आता है और उनमें से जिनसे वह प्रभावित होता है वह उन जैसा ही कार्य क्यों किया करता है? किंचित् विचार करने से यह रहस्य भी स्पष्ट हो जाता है। नित्य ही जब एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को, जो कुछ दूरी पर खड़ा होता है, उसका नाम लेकर पुकारता है तब बुलाये जाने वाला व्यक्ति उस पुकारने वाले व्यक्ति की ओर देखने लगता है। विचारने का विषय है कि पहले व्यक्ति द्वारा की हुई ध्वनि दूसरे व्यक्ति के कर्ण कुहरों तक कैसे पहुंची? इसका उत्तर स्वयं ही स्पष्ट है कि ध्वनि वायु के माध्यम से उसके कानों तक पहुंची थी। इसी प्रकार से हमें कर्ण द्वारा अन्य स्पन्दन प्राप्त होते रहते हैं। इस प्रकार की सुने जाने वाली समस्त ध्वनियाँ तरंगित अवस्था में वायुमण्डल में सदैव व्याप्त रहती है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी मानव बाह्य जगत में ज्ञानेन्द्रियों से जो कुछ अनुभव प्राप्त करता है अर्थात् जो जो आकृतियाँ देखता है, ध्वनियाँ सुनता है और गन्ध सूंघता है उन अनुभवों के सजीव स्पन्दन उसके मस्तिष्क में ज्ञानेन्द्रियों से दिमाग तक पहुंचने वाले नाड़ी तन्तुओं के सहारे-सहारे चमकते हैं और संक्षिप्त विद्युतमय स्पन्दनों का एक बाँध (Barrage) सा निर्माण करते रहते हैं। वैसे तो ये स्पन्दन (Vibrations) क्षणिक अस्तित्व वाले होते हैं परन्तु अनुकूल स्थिति उपलब्ध होने पर ये मस्तिष्क के स्नायु कोशों में स्थायी चिह्न बना लेते हैं जिन्हें स्मृति चिह्न (Memory Traces) कहते हैं। ये क्षणिक एवं स्थायी स्पन्दन वायु के माध्यम से परस्पर मानवों के मस्तिष्क के नाड़ी तन्तुओं को सदैव स्पन्दित करते रहते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अनुभव में आने वाली विविध भावों की तरंगों (Thought Waves) का संचार (आवागमन) वायुमण्डल के माध्यम से सदैव ही अदृश्य रूप में होता रहता है और वे भाव-तरंगे प्रत्येक प्राणी के मस्तिष्क में विद्यमान सजातीय विचारों को स्फुरित करती हैं। इस प्रकार प्राणी के मस्तिष्क में बाह्य सजातीय

भावतरंगों से जो क्रिया व्यक्त होती है उस क्रिया को प्राणी का संकल्प कहा जाता है। यह संकल्प जब प्रकट होता है तब वह अपने विस्तार का कार्य करने लगता है। मन के क्रिया कलाप के इस विवेचन से परिणाम निकलता है कि मानव मात्र के मस्तिष्क में व्याप्त भावों के स्पन्दन जो वायु के माध्यम से एक-एक व्यक्ति के मस्तिष्क के स्नायु कोषों में विद्यमान भावों (प्रवृत्तियों) को स्फुरण देते हैं उन्हें ही हम बड़ी माया (Cosmic mind) कह सकते हैं और एक-एक प्राणी के मस्तिष्क के विद्यमान भावों (प्रवृत्तियों) को जिन्हें बड़ी माया स्फुरण देती है हम छोटी माया (Unit mind) कह सकते हैं। इस प्रकार बड़ी त्रिगुणात्मक माया कार्य करती है। दूसरे शब्दों में सूक्ष्म शरीर का समस्त कार्य त्रिगुणात्मक माया का ही खेल है और वही स्थूल शरीर को साधन बनाकर उसके द्वारा क्रीड़ा करती हुई अनुभव में आती है।

प्राणी के स्थूल शरीर को हम आँख से देख सकते हैं किन्तु उसके विचार-रूपी सूक्ष्म शरीर को आँखों से नहीं देखा जा सकता तथापि अनुभव तो किया ही जा सकता है। अतः यह शंका हो कि क्या हम अपने भीतर उठने वाले विचारों की जानकारी रखते हैं? तो स्पष्ट ही

आत्मा
का स्वरूप

स्वयं को अपने विचारों से अनभिज्ञ कदापि नहीं कहा जा सकता। वास्तव में सभी अपने भीतर के विचारों के ज्ञाता भी हैं। अतः यह जानकारी रखने वाला हमारा स्वरूप जो स्थूल-शरीर व सूक्ष्म-शरीर से भिन्न अनुभव में आता है और जो उसके कार्य में हस्तक्षेप भी नहीं करता 'आत्मा' के स्वरूप का केवल आभास मात्र है। इस प्रकार आत्म शक्ति, स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म शरीर दोनों की ही जानकारी रखती है और साथ ही दोनों से सर्वथा पृथक् एवं निर्लिप्त भी रहती है।*

* वस्तुतः सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो स्थूल व सूक्ष्म शरीर की जानकारी रखने वाला साक्षी-भाव भी अनन्त परमात्म-शक्ति का केवल आभास मात्र है। क्योंकि जहाँ तक भी बुद्धि पहुँचेगी उसका साक्षी-भाव सदैव उपस्थित अनुभव होगा। अस्तु परमात्म-शक्ति सत्य, निर्विकल्प ओर साक्षी रूप से सदैव सर्वत्र विद्यमान रहती है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्राणी के विश्लेषण करने पर बाह्य दृष्टि से तो उसे एक पिण्ड मात्र ही कहेंगे पर वस्तुतः उसके तीन रूप हैं- स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर तथा आत्मा (अर्थात् आत्मा का आभास-साक्षी भाव)

अब यह जानना भी उचित है कि जीव का स्वरूप क्या है? वह कैसे बन्धन में पड़ता है? और कैसे उसकी मुक्ति होती है? इन्हीं तथ्यों को अब स्पष्ट किया जा रहा है।

पूर्व में यह तो स्पष्ट हो ही चुका है कि प्राणी का सूक्ष्म शरीर

जीव का स्वरूप
उसका बन्धन
तथा उसकी
बन्धन से मुक्ति

(Unit mind) बड़ी माया (Cosmic mind) से प्रेरित होकर अपने विचारों को जन्म देता है और उन्हें स्थूल शरीर की सहायता से पूर्ण करने में लगा रहता है। अनुकूल स्थिति में वह प्रसन्न एवं प्रतिकूल स्थिति में खिन्न हो जाया करता है और यह दुःखी अथवा सुखी होने वाला वस्तुतः सूक्ष्म शरीर को

‘अपना’ कहने वाला अहंभाव होता है। यह अहंभाव भी आत्मा अथवा आत्मा जैसे ही स्वभाव का है और इसी की संज्ञा ‘जीव’ कही गई है। यह स्थूल अथवा सूक्ष्म शरीर की क्रियाओं से परिचित भी है और स्थूल व सूक्ष्म शरीर से सर्वथा भिन्न भी है। इसे आत्मा जैसा कहने का केवल यही तात्पर्य है कि वह स्थूल व सूक्ष्म शरीर की जानकारी उसी प्रकार ही रखता है जैसे कि आत्मा, परन्तु आत्मा और जीव में एक बहुत बड़ा अंतर है जिसके कारण वे दोनों पृथक् ही अस्तित्व रखते हुये प्रतीत होते हैं और वह बहुत बड़ा अन्तर यह है कि आत्मा तो निर्लिप्त है और तटस्थ रहकर सूक्ष्म व स्थूल रूप की क्रियाओं का अवलोकन करती है। यह तथ्य रामचरित मानस के अयोध्याकाण्ड के अन्तर्गत वाल्मीकि सम्वाद में श्री वाल्मीकि जी, भगवान् श्रीराम के स्वरूप का वर्णन स्वयं श्री राम से कहते हुए स्पष्ट करते हैं कि हे राम-

“जगु पेखन तुम देखन हारे। विधि हरि शम्भु नचावन हारे।।

अर्थात् हे राम! आप साक्षात् ‘आत्म-स्वरूप’ हो यह (स्थूल व सूक्ष्म)

जगत दृश्य मात्र है और आप उसे देखते रहते हो अर्थात् आप दृष्टा बने हुये देखते हो कि किस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु, महेश (शंभु) सृष्टि को (जीवों को) नचा रहे हैं अर्थात् ब्रह्मा कैसे सृष्टि रच रहा है विष्णु कैसे उसका पालन कर रहा है और महेश (शंभु) कैसे समाप्त कर रहा है। अस्तु, स्पष्ट है कि आत्मा आसक्ति रहित केवल साक्षी मात्र है जबकि जीवात्म-शक्ति, सूक्ष्म व स्थूल शरीर की क्रियाओं को अपना मान कर उसमें आसक्त रहती है। उनके दुःख को समझकर दुःखी होती रहती है और उनके सुख में सुखी। उनके जन्म को अपना जन्म तथा उनकी मृत्यु को अथवा परिवर्तन को अपनी मृत्यु या परिवर्तन मानती है। इस प्रकार यह जीवशक्ति बद्ध जीवात्मा कहलाती है, पर इसे जब आत्मा का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है तो इसका अज्ञान अंधकार दूर हो जाता है और यही बद्ध-जीवात्म-शक्ति अपने को मुक्त-आत्म-शक्ति का अविभाजित अंग समझने लगती है। इस प्रकार जीव के भ्रम का निवारण होना ही जीव की मुक्ति कही जाती है।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरितमानस में इसी भाव को बड़ी सुन्दरता से लक्ष्मण जी के पूछने पर भगवान् रामचन्द्र जी द्वारा कहलवाया है। भगवान् कहते हैं कि-

“माया ईस न आप कहँ जान कहिअ सो जीव।

बन्ध मोच्छ प्रद सर्व पर माया प्रेरक सीव॥ ”

जो व्यक्ति माया, ईश एवं अपने स्वरूप को नहीं जानता उसे “जीव” कहते हैं और जब वह व्यक्ति माया, ईश और अपने स्वरूप को जान जाता है तो उसके जीव-भाव का पृथक अस्तित्व समाप्त हो जाता है। बन्धन में डालने वाली और छुड़ाने वाली माया सब जीवों के ऊपर है अर्थात् कर्त्ता-धर्त्ता तो माया है और सीव (आत्मा) का परम भाव तो केवल माया का प्रेरक है। भाव यह है कि आत्मा की सत्ता से ही माया को स्फुरण होता है तब ही वह गतिशील भी होती है।

अतः अब प्राणी का विश्लेषण संक्षेप में इस प्रकार कर सकते हैं कि बड़ी माया (Cosmic mind) की प्रेरणा से छोटी माया (Unit mind) कार्य करती है अर्थात् जगत के तीनों गुणों की प्रेरणा से प्राणी

के तीनों गुण ही अपना-अपना कार्य करते रहते हैं। स्थूल शरीर उनके कार्य की पूर्ति में सहायता देने का साधन मात्र है दूसरे के कार्य को अपना मान कर दुःखी-सुखी होना तथा दूसरे के जन्म-मृत्यु को अपना जन्म-मृत्यु मान लेना अज्ञान मात्र है। जब इस तथ्य का ज्ञान हो जाता है तो अज्ञान मिट जाता है और हम अपने शुद्ध आत्म-स्वरूप को अपनाना आरम्भ कर देते हैं तथा तटस्थ होकर स्वधर्म-पालन करने लगते हैं। साथ ही हम स्थूल व सूक्ष्म शरीर के कार्यों में हस्तक्षेप भी नहीं करते। हमारी यह स्थिति न्यायाधीश जैसी है जो दोनों पक्षों पर समान दृष्टि रखता है अतः उसका निर्णय मान्य कहा जाता है। इस स्थिति को प्राप्त कर लेना ही आत्मा का साक्षात्कार कर आत्मा में मिल जाना कहलाता है जबकि मिल जाने जैसी कोई बात वास्तव में है ही नहीं। पहले भी आत्मा निर्लिप्त थी और अब भी वह वैसी ही रहती है केवल भ्रम से ही वियोग दिखाई देता है। इस प्रकार स्थूल शरीर (Physical body) सूक्ष्म शरीर (Unit mind) व आत्मा (Soul) प्रत्येक पृथक्-पृथक् है। इस जानकारी के साथ शरीर के छूटने पर और दूसरे शरीर के धारण कर लेने पर सूक्ष्म शरीर व आत्मा के रूप में अंतर नहीं आता। सूक्ष्म शरीर, स्थूल शरीर का अभाव हो जाने पर पुनः जिस स्थूल शरीर को प्राप्त करता है उसको अपनी इच्छा का साधन बना कर उससे पुनः काम लेने लगता है। अतः मृत्यु के उपरान्त नवीन शरीर के धारण कर लेने से जो परिवर्तन हो जाता है उसके कारण पूर्व शरीर के परिचित व्यक्तियों से जान पहिचान तो नहीं रहती परन्तु विचारों को कार्य करने में न तो कोई रुकावट आती है और न पुरानी पहिचान के व्यक्तियों के अभाव से कोई हानि ही होती है। चूंकि विचारों में ही हम रहते हैं अतएव शरीर के परिवर्तन से विचारों को कार्य करने में भी कोई रुकावट नहीं आती। अतः स्पष्ट है कि शरीर के परिवर्तन से हमारी कुछ भी हानि नहीं होती है।

अस्तु, स्थूल व सूक्ष्म शरीर से पृथक् आत्मभाव में रहने को ही

वस्तुतः तटस्थ रहना कहते हैं। प्रायः यही अनुभव में आता है कि उस वस्तु के सुख-दुःख का प्रभाव हम पर पड़ता है, जिसे हम अपनी कहते हैं अर्थात् जिस पर हमारी आसक्ति होती है। यदि हम अपने विचारों को सूक्ष्मशरीर की क्रिया यानी त्रिगुणात्मक माया का खेल समझने लगेंगे तो हम गुणातीत हो सकते हैं। गुणातीत (तटस्थ) अवस्था का प्राप्त होना ही अविनाशी आत्म-रूप को प्राप्त हो जाना है। सुख सब चाहते हैं और दुःख से सभी बचना चाहते हैं किन्तु दुःख-भोग का परिणाम ही सुख होता है। अतः सुख जो चाहता है उसे दुःख उठाना ही पड़ेगा जैसा कि हम कहते हैं कि यदि बचपन में अभ्यास आदि में दुःख उठाओगे तो युवावस्था व बुढ़ापे में सुख पावोगे। दुख-सुख का तो जोड़ा है। अतः जो दुख दूर करना चाहता है उसे सुख भी दूर करना चाहिये। दुख-सुख दोनों ही स्थितियों के ऊपर उठ जाने पर शांति का अनुभव हो सकता है। वस्तुतः यह तभी सम्भव है जब हम अविनाशी भाव को प्राप्त हो जावें। अविनाशी भाव पर रहने से बुद्धि स्थिर रहती है। बुद्धि स्थिर रहने से सब कर्तव्य भी ठीक-ठीक पालन हो जाते हैं। साथ ही वह विशेषता भी आ जाती है कि आत्मस्वरूप में स्थित होकर, स्वधर्म-पालन करने से दुःख-सुख से भी मुक्त हो जाते हैं।

इस प्रकार प्राणी के तीनों स्वरूपों का ज्ञान होने पर हम जीवात्मा की वास्तविक स्थिति को समझ सकते हैं तथा यह युक्ति भी जान सकते हैं कि जीव किस प्रकार कार्य करे कि वह आजीवन कुशल-पूर्वकता कर्म करते हुये भी संसार में शांति से रह सके।

जीवात्मा के लिये स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और आत्मा तीनों की ही अत्यन्त आवश्यकता है अर्थात् मन को संसार में बँधना और उससे मुक्त होना दोनों ही आना चाहिये। जिस प्रकार कुशल तैराक नदी के उस पार भी जा सकता है और उस पार से इस पार भी आ सकता है उसी प्रकार जीवात्मा को भी संसार रूपी समुद्र के इस पार रहने के लिये बद्ध

जीव भी होना आना चाहिये तथा भव-सागर के उस पार जाने के लिये अर्थात् शांति प्राप्त करने के लिये मुक्त जीव होना भी आना चाहिये अर्थात् एक साथ ही उसमें दोनों योग्यताओं का होना आवश्यक है। अतः प्राणी के तीनों खण्डों के रूपों को तथा अपने रूप को भी जब जीवात्मा भली भाँति जान लेता है तो वह शरीर को कर्तव्य पालन की पूर्ति हेतु सुन्दर व सुदृढ़ बनाने के प्रयत्न में असावधानी नहीं बरतेगा। वस्तुतः उसी व्यक्ति की मनोवृत्ति प्रशंसनीय समझी जाती है जो कि अपने उपयोग की वस्तुओं को सम्हाल कर सुन्दर रखता हुआ अधिक समय तक टिकाता है। अतः जीवात्मा का यह धर्म है कि वह अपने शरीर को सुन्दर, सुडौल, स्वस्थ एवं सुदृढ़ रखता हुआ अपनी आयु को दीर्घ बनावे और जीवन-पर्यन्त कर्तव्य-परायण रहे। चूँकि कर्तव्य पालन करने के हेतु शरीर चाहे जैसा उत्तम क्यों न हो पर यदि विचार नहीं हैं तो उसका कोई उपयोग नहीं। अतः सुन्दर शरीर और सुन्दर विचार दोनों से ही कर्तव्य-पालन सम्भव है। यदि कर्तव्य पालन के अनुकूल वातावरण निर्माण हो जाता है तो अभीष्ट सफलता शीघ्र प्राप्त हो सकती है अन्यथा अधिक कठिनाई उठानी पड़ेगी। अतः कर्तव्य के आवश्यकतानुसार वातावरण के निर्माण के लिये भी तद्रूप विचारों की परमावश्यकता है। इस प्रकार जीवात्मा स्थूलशरीर व सूक्ष्म शरीर दोनों में बँधकर ही ठीक-ठीक कर्तव्य पालन कर सकता है। अतः जीव का संसार से इस प्रकार से बँधकर काम करना उसका अज्ञान या उसकी शोचनीय अवस्था नहीं है वरन् उसका स्वाभाविक गुण है। वह अपनी इस अवस्था में रहकर ही संसार का अधिक से अधिक हित करने का श्रेय प्राप्त कर सकता है। किन्तु बन्धन की स्थिति में अनुकूल वातावरण से सफल होने पर सुख अथवा हर्ष का अनुभव होना तथा अनुकूल वातावरण के अभाव में असफल होने पर दुःख अथवा शोक का प्रभाव होना अनिवार्य है। अतः इस दुःख-सुख के प्रभाव को दूर करने के लिये जीवात्मा को आत्म-स्वरूप के ज्ञान की भी आवश्यकता

होती है। अतः कर्तव्यपालन के फल भोगने के अवसर पर जीवात्मा को यह आवश्यक है कि वह तुरन्त ही अपने को मुक्त-जीव की स्थिति में पहुंचा दे। अतः यह उचित है कि काम करने के लिये तो जीवात्मा बन्धन को स्वीकार करले और फल भोगने के लिये वह बन्धन से मुक्त हो जावे। इस प्रकार प्राणी के बन्धन और मुक्त होने की जानकारी ही मानव को कर्तव्य-रत बनाती है तथा दुःख-सुख से छुटकारा कराकर उसको शांति प्रदान करती है।

उपरोक्त योग्यता प्राप्त होने पर जीवात्मा, स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर व आत्मा तीनों को ही उपयोगी समझता है और वह सबका समयानुसार उपयोग भी करता है और किसी में भी बँधता नहीं है। ऐसे योग्य जीवात्मा को ही भगवान् का अवतार कहते हैं, जिन्हें संसार में आने में भी कष्ट नहीं और संसार से जाने में भी कष्ट नहीं। ऐसे ही अवतार भगवान् श्रीकृष्ण हैं जो कर्तव्य-पालन हेतु अर्जुन को महाभारत जैसे युद्ध के लिये प्रेरणा दे रहे हैं और साथ ही साथ उसके परिणाम को न भोगने के लिए अविनाशी आत्मा बन जाने के लिए आत्म-स्वरूप में स्थित हो जाने का आदेश दे रहे हैं।

आशा है, इस विवेचन के बाद भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा जो आदेश अर्जुन को गीता में दिये गए हैं, उन्हें भली प्रकार समझा जा सकेगा।

ॐ

प्रथम अध्याय

विषाद - योग

अर्थात्

कर्तव्य-विमुख-वृत्ति से
उत्पन्न अर्जुन के विषाद
का प्रकरण ।

...
...
...
...
...
...
...
...
...

...
...
...
...
...
...
...
...
...

...
...
...
...
...
...
...
...
...

...
...
...
...
...
...
...
...
...

...
...
...
...
...
...
...
...
...

ॐ

विषाद - योग

“अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥४५॥”

बड़े शोक की बात है कि राज्य-सुख के लोभ में आकर हम अपने परिवार के व्यक्तियों को ही मारने के लिये तैयार हुए हैं। सचमुच, हमारे द्वारा यह एक बड़े भारी पाप-कर्म को करने का निश्चय किया गया है।

ॐ

महा - धर्म

महा धर्म का अर्थ है

महा धर्म का अर्थ है

महा धर्म का अर्थ है

महा धर्म का अर्थ है

महा धर्म का अर्थ है

कौरवों से राज्य का न्यायोचित भाग प्राप्त करने हेतु अर्जुन युद्ध के लिये प्रवृत्त होता है। वह युद्ध-क्षेत्र में पहुंचकर दोनों पक्षों के एकत्रित योद्धाओं पर दृष्टि डालता है। ये योद्धा उसके गुरुजन, सम्बन्धी एवं आश्रित जन आदि हैं। यद्यपि अर्जुन बुद्धिमान है और सत्संगी भी, तथापि उसकी आसक्ति अभी तक पूर्णरूपेण नहीं छूटी है। अतः युद्ध में कुटुम्बियों आदि की मृत्यु के रूप में होने वाले दुष्परिणाम का विचार उसके मन में उत्पन्न होता है और वह दुखी हो जाता है। उसका विषादयुक्त मन कर्तव्य-विमुख होना चाहता है। कर्तव्य-विमुख-वृत्ति के जाग्रत होते ही यह वृत्ति अर्जुन से अपने (वृत्ति के) समर्थन की विचारधारा व्यक्त कराती है।

अतः किस प्रकार कर्तव्य-विमुख होकर अर्जुन दुखी हो जाता है तथा कर्तव्य-विमुख भावना का ही समर्थन करता है आदि का विवरण पाठकगण इस प्रथम अध्याय में पढ़ेंगे।

द्वारिका से वापिस आकर दुर्योधन तथा अर्जुन दोनों ने ही अपनी-अपनी सेनायें एकत्रित कर ली हैं। श्रीकृष्ण भगवान् द्वारिका से हस्तिनापुर पहुंचकर, फिर भी एक बार, पुनः कौरवों से पाण्डवों का राज्य समझौते द्वारा वापिस कराने का प्रयत्न करते हैं। पर दुर्योधन अपने निश्चय पर अटल रहता है। वह युद्ध के लिये ही तुला हुआ है और अन्ततोगत्वा उसने युद्ध-भूमि में अपना दल खड़ा कर ही दिया है। अतः पाण्डवदल भी श्रीकृष्ण भगवान् की प्रेरणा से प्रभावित होकर युद्ध-भूमि में उपस्थित हो जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण की अब भी भूमिल सी धारणा है कि रणभूमि में सेनाओं के एकत्रित होने पर जब दुर्योधन अपनी और पाण्डवों की शक्ति का प्रत्यक्ष संतुलन करेगा तब, है तो वह यद्यपि हठी तथापि सम्भव है, प्रत्यक्ष मृत्यु-भय देख और अपने को तुलनात्मक रूप में कमजोर समझ समझौता करने को तैयार हो जावे। यदि ऐसा वस्तुतः

हो ही जाता है तो युद्ध टाल देने का यह अन्तिम प्रयास सफल माना जावेगा अन्यथा युद्ध करना तो अब निश्चित कर्तव्य है ही।

भगवान् श्रीकृष्ण के अत्यन्त निकट सम्पर्क में रहने के कारण उनकी मनोवृत्ति के भावों को जान लेना अर्जुन के लिये अत्यन्त सरल, सहज और स्वाभाविक था। अतः युद्ध के आरम्भ होते-होते उसके रुकने की किञ्चित् सम्भावना अर्जुन को भी हो सकती है। वैसे भी वेदव्यासजी 'युद्ध रुकने की संभावना' का आभास श्रीमद्भगवद्गीता के प्रथम श्लोक में करा देते हैं।

श्री वेदव्यासजी धृतराष्ट्र से प्रश्न कराते हैं कि कुरुक्षेत्र एक धर्मक्षेत्र है। इस क्षेत्र में कौरव एवं पाण्डव युद्धार्थ एकत्रित हुये हैं, अतः कौरवों से भी धर्माचरण की सम्भावना हो सकती है। अस्तु, हे संजय, युद्ध की इच्छा से एकत्रित हुए मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या निश्चय किया? उनमें समझौता हो गया अथवा उनका युद्ध करने का ही निश्चय रहा।'

तब संजय कहता है कि हे राजन् ! भगवान् श्रीकृष्ण के अनुमान के अनुसार ही जब दोनों पक्षों की सेनायें मोर्चों पर जुट जाती हैं तो दुर्योधन पाण्डवदल को देखकर अपने बलाबल का संतुलन करता तो है और अपने को अशक्त भी समझता है किन्तु जब वह अपनी चतुराई से आचार्य द्रोण को यह कह कर कि 'हे आचार्य ! आपके बुद्धिमान शिष्य द्रुपद-पुत्र, धृष्टद्युम्न द्वारा व्यूहाकार खड़ी की हुई पाण्डुपुत्रों की इस बड़ी भारी सेना को देखिये। इस सेना में बड़े-बड़े धनुषों वाले एवं युद्ध में भीम तथा अर्जुन के समान बहुत से शूरवीर हैं, जैसे सात्यकि (यदुवंशी राजा शिव का पुत्र), विराट (अभिमन्यु का श्वसुर एवं मत्स्य राज्य का शासक),

१. धृतराष्ट्र उवाच धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय॥१॥
२. संजय उवाच दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत्॥२॥
पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता॥३॥

महारथी राजा द्रुपद {पाण्डु-पुत्रों (पाण्डवों) का श्वसुर एवं पांचाल का राजा}, धृष्टकेतु (चेदि नरेश), चेकितान (वृष्णिवंशी राजकुमार), बलवान काशिराज, पुरुजित (कुन्ती का सौतेला भाई), कुन्तिभोज (युधिष्ठिर का मामा), मनुष्यों में श्रेष्ठ शैब्य (शिविवंश का राजा एवं युधिष्ठिर का श्वसुर), पराक्रमी युधामन्यु तथा बलवान उत्तमौजा (पांचाल्य वंशीय राजकुमार) सुभद्रा-पुत्र अभिमन्यु और द्रौपदी के पाँचों पुत्र-प्रतिबिन्ध्य, सुतसोम, श्रुतकर्मा, शतानीक और श्रुतसेन आदि ये सब ही महारथी हैं।^१ साथ ही हे द्विज श्रेष्ठ, हमारे पक्ष में भी जो-जो प्रधान हैं, उनको भी आप समझ लीजिये। आपके जानने हेतु मेरी सेना के जो-जो सेनापति हैं अब मैं उनको भी कहता हूँ।^२

एक तो स्वयं आप (द्रोणाचार्य-महर्षि भारद्वाज के पुत्र) और पितामह भीष्म (राजा शान्तनु के पुत्र) हैं तथा कर्ण (कुन्ती-पुत्र, सूर्य से जन्म), संग्राम विजयी कृपाचार्य (द्रोण का साला), अश्वत्थामा (द्रोण का पुत्र), विकर्ण (दुर्योधन का एक भाई), सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा (शान्तनु के बड़े भाई का पुत्र) तथा और भी बहुत से शूरवीर अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों से युक्त मेरे लिये जीवन की आशा को त्यागने वाले, सब के सब युद्ध में चतुर हैं। भीष्मपितामह द्वारा रक्षित हमारी वह सेना सब प्रकार से अजेय है जब कि भीम द्वारा रक्षित पाण्डु-पुत्रों की यह सेना जीतने में सुगम है। वह दुर्योधन, द्रोणाचार्य को अपने पक्ष में

१. अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपश्च महारथः॥४॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्चनरपुङ्गवः॥५॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः॥६॥
२. अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते॥७॥

पूर्णरूपेण रहने का अपने मन में निश्चय कर लेता है क्योंकि उसकी सेना में आचार्य के नाम का उल्लेख किये जाने पर उन्होंने कोई विरोध नहीं किया। अस्तु, उसका साहस बढ़ जाता है। अतः वह भगवान् श्रीकृष्ण की धारणानुसार समझीता प्रस्ताव न रखते हुये बड़ी युक्तिपूर्वक भीष्मपितामह को सेनापति कहकर उनकी सब ओर से रक्षा करने के लिये अपने महारथियों को आदेश दे देता है।^१ दुर्योधन के महारथियों को दिये गये आदेश ने कौरवों में वृद्ध बड़े प्रतापी पितामह भीष्म में स्वाभिमान जाग्रत कर दिया और उन्होंने दुर्योधन के हृदय में हर्ष उत्पन्न करते हुये बिना कुछ कहे सुने तत्काल ही उच्च स्वर में सिंहनाद के समान गर्जन कर अपना शंख बजा दिया। इस प्रकार दुर्योधन ने भीष्म पितामह की शंख ध्वनि द्वारा महाभारत का श्री गणेश करा दिया।^२

किंकर्तव्यविमूढ़
स्थिति की प्रथम
क्रिया 'मोह'

पितामह भीष्म के शंख बजाते ही कौरव दल की ओर से शंख नगाड़े, ढोल, मृदङ्ग और नृसिंहादि बाजे एक साथ ही बजे। उनका वह शब्द बड़ा भयंकर हुआ।^३ इस प्रकार कौरव महारथियों की ओर से शंख-ध्वनि द्वारा युद्ध की चुनौती मिलने पर क्षत्रिय स्वभाव से विवश पाण्डव दल के महारथी भी स्वीकारात्मक पृथक -

१. भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सोमदत्तिस्तथैव च॥८॥
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्ध विशारदाः॥६॥
अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीष्माभिरक्षितम्॥१०॥
अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि॥११॥
२. तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान्॥१२॥
३. ततः शङ्खश्च भेर्यश्च पणवानक गोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्॥१३॥

पृथक् शंख ध्वनि कर देते हैं। सर्व प्रथम सफेद घोड़ों से युक्त उत्तम रथ में बैठे हुये भगवान् श्रीकृष्ण ने पाञ्चजन्य नामक और अर्जुन ने देवदत्त नाम अलौकिक शंख बजाये। भयानक कर्म करने वाले भीमसेन ने पौण्ड्र नामक महाशंख बजाया। कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय एवं नकुल और सहदेव ने सुघोष और मणिपुष्पक नामक शंख बजाये। इसी प्रकार हे राजन्, श्रेष्ठ धनुष वाले काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, राजा विराट, अजेय सात्यकि, राजा द्रुपद, द्रौपदी के पाँचो पुत्रों एवं बड़ी भुजाओं वाले सुभद्रापुत्र अभिमन्यु आदि सबने अपने-अपने पृथक्-पृथक् शंख बजाये। शंखों के भयानक शब्द ने आकाश, पृथ्वी को भी शब्दायमान कर धृतराष्ट्र-पुत्रों के हृदय दहला दिये।^२

क्षत्रिय-धर्म के आवेश में पूर्व निश्चित कर्तव्यभावना से प्रेरित होकर अर्जुन स्वयं भी शंख बजा तो गया पर वह शंख बजाने से पूर्व युद्ध के लिये पूर्णरूपेण तैयार न था। युद्ध टल जाने की एक धूमिल सी आशा अर्जुन के मस्तिष्क में विद्यमान थी, किन्तु कौरवों की ओर से निर्णयात्मक चुनौती दे दी जाने से और पाण्डवदल द्वारा उसे स्वीकार कर लेने से उसकी यह (युद्ध टलने की) आशा पूर्णतः समाप्त हो गई। परिणामतः उसके सामने विकराल युद्ध उपस्थित हो गया।

१. ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
 माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः॥१४॥
 पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः।
 पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्ख भीमकर्मा वृकोदरः॥१५॥
 अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
 नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ॥१६॥
 २ काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
 धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः॥१७॥
 द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
 सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक्॥१८॥
 स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
 नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्॥१९॥

अस्तु, अब अर्जुन निश्चयात्मक युद्ध की दृष्टि से वास्तविक स्थिति का निरीक्षण करना चाहता है कि उसके द्वारा कौन-कौन मारे जाने हेतु उपस्थित हैं और उनमें से भी अब कौरवों द्वारा किस-किस का संहार होने वाला है। अतः हे राजन्, कपिध्वज अर्जुन ने युद्ध के लिये सजकर खड़े हुये दुर्योधनादि को देखकर शस्त्र चलाने की तैयारी के समय भगवान् श्रीकृष्ण से ऐसा कहा कि 'हे अच्युत, जब तक मैं इन खड़े हुए युद्धेच्छुक वीरों को भली भाँति देखूँ कि इस युद्धभूमि में मुझे किन-किन के साथ युद्ध करना है तब तक आप मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच खड़ा रखिये। दुर्मति दुर्योधन का युद्ध में हित चाहने वाले जो ये राजा लोग यहाँ एकत्रित हुए हैं उन योद्धाओं को मैं अच्छी तरह से देखूँ।

अस्तु, वेदव्यास जी संजय से धृतराष्ट्र के प्रति कहलाते हैं कि 'हे राजन् अर्जुन की प्रेरणा से भगवान् श्रीकृष्ण उसके उत्तम रथ को दोनों सेनाओं के बीच में भीष्म, द्रोण व अन्य राजाओं के सामने खड़ा कर देते हैं और कहते हैं कि, 'हे पार्थ, इन एकत्रित हुए कौरवों को देख' इस प्रकार वे अर्जुन को दोनों ओर की सेनाओं के निरीक्षण हेतु एक विहंगम दृष्टि डालने का अवसर देते हैं।^२

१. अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः।
 प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः॥२०॥
 हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते
 अर्जुन उवाच- सेन्योरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत॥२१॥
 यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्॥
 कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्नरणसमुद्यमे॥२२॥
 योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
 धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः॥२३॥
 २. संजय उवाच- एवमुक्त्वा हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
 सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा स्थोत्तमम्॥२४॥
 भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
 उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरुनिति॥२५॥

अर्जुन की दृष्टि दोनों पक्षों के योद्धाओं पर पड़ती है। उसे उनमें अपने पिता के भाई, पितामह, आचार्य, मामा, भाई, पुत्र, पौत्र, मित्र, ससुर और सुहृद आदि स्वयं के सगे-सम्बन्धी एवं गुरुजन वर्ग के व्यक्ति और मित्र ही दिखाई देते हैं। युद्ध सम्बन्धी विचारधारा के आते ही उसके मस्तिष्क में पूर्व के अनुभूत युद्धों के दृश्य तथा उनके अन्त में होने वाली दोनों पक्षों की धन-जन आदि की महान् क्षति के स्वरूप के (संस्मरण) स्फुरित होने लगते हैं और हम अर्जुन को उनके आधीन देखते हैं। परिणामस्वरूप उसका युद्धावेश शनैः-शनैः क्षीण होने लगता है। अब वह स्वयं को मृत्यु एवं जीवन के बीच झूलता हुआ अनुभव करता है। अर्जुन की आंतरिक अभिलाषा जीवित रहने की है और वह राज्यप्राप्ति का व अपने परिवार को सुखी व समृद्धशाली देखने का भी इच्छुक है। उसका यह सुख-स्वप्न साकार हुए बिना ही अब अल्प काल में ही पूर्णतः नष्ट होने को है। वह अपने सुख-स्वप्न को साकार देखना चाहता है किन्तु ऐसा तब ही सम्भव है जब कि युद्ध न लड़ा जावे। अस्तु, उसकी कर्तव्य-विमुख-भावना उसे प्राणों की रक्षा हेतु प्रेरित करती है, किन्तु वह तो अब युद्धस्थल में है और युद्ध की चुनौती को पाण्डवदल अपनी शंख-ध्वनि द्वारा स्वीकृत भी करा चुका है। अतः जब भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा भी शंख-ध्वनि के रूप में युद्ध करने हेतु सहमति प्रकट की जा चुकी है, तब तो यदि वह (अर्जुन) युद्ध न कर पीछे हटता है तो स्पष्ट रूप से वह भगवान् श्रीकृष्ण की आज्ञा का उल्लंघन करता है। इस प्रकार युद्ध के ठीक अवसर पर उसका यह युद्ध के विपरीत आचरण करना एक प्रकार से धोखा देना है, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण को तो उसने युद्ध में प्रवृत्त करा दिया और अब स्वयं युद्ध से मुख मोड़ रहा है। अतः अब उसे एक ओर तो यह भय है कि उसके इस विपरीत आचरण के परिणामस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण उस पर भविष्य में विश्वास नहीं करेंगे और दूसरी ओर स्थिति ऐसी आ गई कि उसके द्वारा युद्ध न किये जाने पर भी दोनों पक्षों के महारथियों द्वारा अब युद्ध स्थगित किया जा सकना संभव नहीं है। ऐसी दशा में अर्जुन की स्थिति अत्यंत विषम हो जाती है और इस विषम परिस्थिति से निकलने का उसे कोई मार्ग भी नहीं दिखता है। अब उसका

हृदय युद्धार्थ आगे बढ़ने में भी हिचकता है और वह युद्ध-विराम होने की निन्दा से भी बचना चाहता है। इस प्रकार एक क्षण के लिये द्विविधा में पड़ कर वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है। अर्जुन की इस किंकर्तव्यविमूढ़ स्थिति का मूल कारण प्राणों की आसक्ति अथवा मोह ही है।

अर्जुन युद्ध नहीं करना चाहता किन्तु वह ऐसी विषम परिस्थिति में फँस गया है कि उसे विवश होकर युद्ध करना ही पड़ेगा। ऐसी स्थिति में वह करुणापूरित कुन्ती-पुत्र अर्जुन शोक करता हुआ भगवान् श्रीकृष्ण को

किंकर्तव्यविमूढ़
स्थिति की
दूसरी क्रिया-
शरीर का स्वस्थ
न रहना

सम्बोधित करके कहता है कि “हे कृष्ण, इस स्थान पर युद्ध की इच्छा वाले खड़े हुए परिजनों को देखकर मेरे अंग शिथिल हो रहे हैं। वस्तुतः वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है। किंकर्तव्यविमूढ़ होते ही उसका मानसिक संतुलन गिर जाता है। परिणामतः उसकी आँखों के सामने अँधेरा छा जाता है। उसका मुख सूखने लगता है, शरीर में

कम्प और रोमांच हो जाता है, हाथ से गांडीव गिरने लगता है, त्वचा जलने लगती है, चक्कर आने लगते हैं, मन भ्रम में पड़ जाता है और वह स्वयं को खड़े रहने में भी असमर्थ पाता है। इस प्रकार मोह उत्पन्न होते ही अब इसका दूसरा परिणाम यह होता है कि अर्जुन का शरीर पूर्ववत् स्वस्थ नहीं रहने पाता है।

9.

तत्रापश्यत्स्थितान् पार्थः पितृनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान् पौत्रान्सखींस्तथा॥२६॥

श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान्॥२७॥

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्॥२८॥

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।

वेपुथश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते॥२९॥

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः॥३०॥

शरीर के अस्वस्थ होने पर अर्जुन को युद्ध में अपनी विजय के प्रति

किंकर्तव्यविमूढ़ स्थिति की
तीसरी क्रिया- 'कर्तव्यभार की
सफलता में संदेह'

भी कुछ-कुछ सन्देह उत्पन्न होने लगता है। अस्तु वह कहता है कि 'हे कृष्ण, इस युद्ध में मुझे सब लक्षण विपरीत ही दिखाई दे रहे हैं

तथा अपने कुल के संहार करने में मुझे कल्याण भी नहीं दिखता।'

युद्ध में जीत होने में किंचित् सन्देह उत्पन्न होते ही अर्जुन के मस्तिष्क में युद्ध से विमुख होने की भावना बलवती होने लगती है, किन्तु यदि वह युद्ध नहीं करता है तो वह यह भी भली भाँति जानता है कि सर्व प्रथम उसे भगवान् श्रीकृष्ण

किंकर्तव्यविमूढ़ स्थिति की
चौथी क्रिया- 'कर्तव्य विमुख
भावना का समर्थन'

को ही अपना यह मंतव्य हृदयंगम कराना होगा। अतः अब उसे ऐसी युक्ति से ही अपने युद्ध न करने के मंतव्य को प्रकट करना चाहिये कि भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं ही उसका समर्थन करें और वह युक्ति यही हो सकती है कि उनसे इस प्रकार कहा जावे कि 'हे भगवान्, आप स्वयं यह तो जानते ही हैं कि मैं युद्ध में इसीलिये सम्मिलित हुआ हूँ, और आपने भी इसी कारण इस युद्ध में भाग लेना स्वीकार किया है कि पाण्डव परिवार अपने खोये हुये राज्याधिकार को पुनः प्राप्त कर सुखी एवं समृद्धशाली बन सके।

9. निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशवा।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे॥३१॥ ❊

❊ अर्जुन का यह संदेह दूसरे अध्याय के छठे श्लोक में पूर्णतः स्पष्ट हुआ है। वहां वह यह सोचने लगा है कि 'न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः' अर्थात् हम यह भी नहीं जानते कि हमारे लिये क्या करना योग्य है अथवा यह भी नहीं जानते कि हम जीतेगे या वे हमें जीतेगे।

परन्तु जिनके सुख के लिये हम युद्ध करना चाहते हैं वे गुरुजन, पाण्डव-वीर व उनके हित-चिंतक आदि सभी अपने-अपने प्राणों की आहुति इस युद्ध में देने हेतु प्रस्तुत हैं। वस्तुतः मुझे युद्ध में सम्मिलित होने से पूर्व युद्ध की इस स्थिति का तो अनुमान भी नहीं था। सगे-सम्बन्धियों को सुख दिलाना ही इस युद्ध का लक्ष्य है और यदि वे सब मारे जावें और मुझ अकेले को पृथ्वी ही नहीं त्रिलोक का भी राज्य दे दिया जावे तो आप ही विचार कीजिये कि ऐसे राज्य का क्या उपयोग होगा ?

अपनी उक्त विचाराधारा को ही भगवान् श्रीकृष्ण के सामने निवेदन करते हुए अर्जुन कहता है कि 'हे कृष्ण, अब मुझे न तो युद्ध में विजय की इच्छा है और न राज्य तथा सुख चाहिये।' हे गोविन्द! हमें राज्य से, भोगों से और जीवन से भी क्या प्रयोजन है?' क्योंकि हमें जिनके लिये राज्य, भोग एवं सुखादि की आवश्यकता है वे गुरुजन, ताऊ, चाचा, पुत्र, पौत्र, दादा, मामा, ससुर, साले तथा और भी सम्बन्धी आदि सभी अपने धन और जीवन की आशा त्याग कर युद्ध में मरने को खड़े हैं।^१

इसलिये हे कृष्ण, ये लोग मुझे भले ही मारें किन्तु मैं तो तीनों लोकों के राज्य के लिये भी इन सब को नहीं मारना चाहता, फिर पृथ्वी के लिये तो कहना ही क्या है !^२

- १ न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा॥३२॥
- २ येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च॥३३॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबन्धिनस्तथा॥३४॥
- ३ एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते॥३५॥

अस्तु, हे भगवन्! अब तो मैं इस परिणाम पर आगया हूँ कि धृतराष्ट्र के पुत्र आततायी और जघन्य अपराधी हैं तो अवश्य, तथापि हैं तो स्वजन ही, अतः इन्हें मारने से हमें प्रसन्नता किस प्रकार प्राप्त हो सकती है, क्योंकि इस प्रकार कुटुम्ब का ही तो नाश होगा। साथ ही परिवार के मारने का हमको पाप भी लगेगा। इसलिये हे कृष्ण, अपने बान्धव दुर्योधनादि को मारना हमारे लिये उचित नहीं है, क्योंकि अपने ही कुटुम्ब का संहार करके हम कैसे सुखी होंगे।^२ और फिर, विचारणीय है कि यदि कुटुम्ब में कुछ लोग पथ-भ्रष्ट हो जाते हैं तो क्या उन्हें मार डालना उचित है? कौरवों की तो बुद्धि, लोभ के वशीभूत होकर भ्रष्ट हो गई है। वे कुल नाश के दोष और हितैषियों के साथ विरोध करने में पाप को न देख अपना ही सर्वनाश कर रहे हैं, लेकिन हम तो अपने कुल के रक्षक हैं और हम कुल के नाश करने से होने वाले दोषों को भी भली भाँति जानते हैं। फिर भी हम ऐसा क्यों करें? हमें तो वस्तुतः इस पाप से बचने का ही विचार करना चाहिये।^३ इस युद्ध में बड़ी भारी संख्या में हमारे कुल के श्रेष्ठ वीर भाग ले रहे हैं। अतः हमें इस कुल-नाशक घृणित युद्धकर्म से अवश्यमेव बचना चाहिये। क्योंकि कुल के नष्ट होने से परम्परागत कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं और कुलधर्म का नाश हो जाने पर सम्पूर्ण कुल को पाप (अधर्म) सब ओर से

- १- निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥
- २- तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधवा॥३७॥
- ३- यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्॥३८॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन॥३९॥

दबा लेता है।' साथ ही साथ हे श्रीकृष्ण, कुल के श्रेष्ठ पुरुषों का संहार होने के बाद उनके अभाव में पाप के ऊपर अंकुश नहीं रहने से अधर्म बढ़ेगा और कुल की स्त्रियों को अन्य कुसंस्कारी पुरुष बहकाकर कुपंथ पर भी ले जा सकते हैं। तब, हे श्रीकृष्ण ऐसा करने से उनकी संतानें संस्कारहीन होंगी और उन संस्कारहीन संतानों के आचरण को देखकर लोग हमारी तथा हमारे पूर्वजों की निन्दा करेंगे। इतना ही नहीं वे तो सुना-सुना कर यह कहेंगे कि, "अमुक वंश की ये संतानें कैसी कुमार्गगामी हैं।" इस प्रकार जो उनके नाम की उज्ज्वल कीर्ति अभी तक फैली हुई है उसका अंत हो जावेगा और उसका स्थान अपयश ले लेगा। पूर्वजों के गुणों के सुसंस्कृत होने के कारण उनकी जो जयन्तियाँ श्राद्ध के रूप में मनाई जाती रही हैं, उनका मानना तथा उन अवसरों पर विद्वानों और साधु-महात्माओं को भोजन कराना, उनका सत्कार करना तथा दरिद्रों को दान देना आदि सब कुछ बन्द हो जावेगा। अधिक क्या भगवन्! आज समाज में हमारे पूर्वजों का जो उच्च स्थान है वह अयोग्य संतानों के कारण पतन को प्राप्त होगा। इस प्रकार इस युद्ध में हमारा तो ह्रास होगा ही पर हम अपने साथ-साथ अपने पूर्वजों की कीर्ति को भी कलंकित करवाने के अर्थात् नरक में डालने के भागी होंगे।^१

निस्सन्देह, इन संस्कारहीन संतानों के दोष के कारण कुल को विनाश करने वालों के सनातन कुलधर्म, और जाति के समस्त संस्कार नष्ट हो जाते हैं। साथ ही हे भगवन्, ऐसा सुना जाता है कि नष्ट

१- कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत॥४०॥

२- अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः॥४१॥
संकरो नरकायैव कुलज्ज्ञानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥४२॥

हुये कुलधर्म वाले व्यक्तियों का नाम अनन्त काल तक कलंकित रहता है।^१ बड़े शोक की बात है कि राज्य-सुख के लोभ में आकर हम अपने परिवार के व्यक्तियों को ही मारने के लिये तैयार हुये हैं। सचमुच, यह एक बड़ा भारी पाप-कर्म करने का हमारे द्वारा निश्चय किया गया है।^२ अस्तु, यदि शस्त्र रहित होने पर और दुर्योधनादि का सामना न करने पर भी शस्त्रधारी धृतराष्ट्र के पुत्र युद्ध में मुझे मारें तो इस प्रकार मरना भी मेरे लिये कल्याणकर होगा।^३

अस्तु मेरी दृष्टि में यह युद्ध कुल का नाश कराने वाला जघन्य पाप कर्म है। अतः मैं इस युद्ध में भाग नहीं ले सकता। हे भगवन्! आप ही सोचिये कि जानबूझ कर मक्खी कौन निगलेगा? अतः मुझे तो पूरी आशा है कि आप भी मेरी बात का अवश्य अनुमोदन करेंगे। इस विचारधारा से अर्जुन की कर्तव्यविमुखता को प्रोत्साहन मिलता है और यह विचारधारा अर्जुन को अधीर एवं अत्यन्त खिन्न कर देती है।

अब इसीलिये, वेदव्यास जी संजय से कहलाते हैं कि हे राजन्! इतना ही नहीं वरन् यह विचाराधारा रणभूमि में शोक से उद्धिग्न हुये अर्जुन को धनुष-बाण त्याग कर रथ के अग्र भाग से पिछले भाग में बैठने को बाध्य कर देती है अर्थात् रथ के अग्रभाग में बैठकर जबकि अर्जुन युद्ध-रूपी कर्तव्यपालन को उद्यत हुआ था, अब उसे ही रथ के पीछे के भाग में बैठाकर युद्ध से उसकी असहमति प्रकट करा देती है और

- १- दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥४३॥
उत्सन्नकुलधर्माणामनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम्॥४४॥
- २- अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥४५॥
- ३- यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥४६॥

इस प्रकार अर्जुन स्वधर्म-पालन से विमुख हो जाता है।'

ऊँ शम्

संजय उवाच

9. एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः॥४७॥

ॐ

द्वितीय अध्याय

सांख्य - योग

अर्थात्

बुद्धि द्वारा आत्म-तत्त्व
की जानकारी का
प्रकरण ।

सांख्य-योग^१

“ त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥४५॥”

हे अर्जुन, वेद सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण को विषय करने वाले हैं, अर्थात् वेदों में तीनों गुणों के कर्मकाण्ड एवं उनकी फलश्रुतियों का वर्णन है। इसलिये तू इन तीनों गुणों से अतीत (अपने को बुद्धि से समझकर) अपने वास्तविक आत्मरूप में नित्यस्थित हो। साथ ही तू निष्कामकर्म करने वाला अर्थात् कर्म के परिणाम से उत्पन्न होने वाले सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से अलिप्त हो और यह भी ध्यान रख कि अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करना 'योग' तथा प्राप्त वस्तु की रक्षा 'क्षेम' कहलाता है। चूँकि आत्मभाव तो सदा प्राप्त ही है और साथ ही वह स्वयं सुरक्षित भी है अतः तू योग और क्षेम के विचारों को छोड़कर अर्थात् 'निर्योगक्षेम' होकर (स्वधर्मपालन करने के लिये) आत्मनिष्ठ हो।

१. सांख्य का अर्थ है विचार, युक्ति अथवा बुद्धि और बुद्धि द्वारा धारण किये जाने वाले आत्म-तत्त्व को 'सांख्य' कहते हैं। अतएव जिस प्रकरण में बुद्धि द्वारा आत्म-तत्त्व के रहस्य का परिचय कराया जावे वही 'सांख्य-योग' है।

अर्जुन का महाभारत के आरम्भ होने से पूर्व का जीवन महापुरुषों के सदृश्य रहा है। वह साहसी एवं धैर्यवान है; उसने युद्ध लड़े हैं। कठिनाईयाँ झेली हैं, विषम से विषम परिस्थितियों में गिरते-गिरते सम्हालकर पुनः अग्रसर हो सफल हुआ है। उसके मस्तिष्क के कोषों में कर्तव्य-विमुख होने पर कैसे कर्तव्य-परायण हो जाया करते हैं इसके स्मृति चिह्न विद्यमान हैं। अतः महाभारत के आरम्भ हो जाने पर विपरीत स्थिति दृष्टिगोचर होते ही उसकी कर्तव्यविमुखभावना की वृत्ति ने अपना कार्य करना आरम्भ कर दिया और उसे अधीर एवं करुणामय बना दिया। अधीर बनते ही सफलता का मार्ग-दर्शन कराने वाली अर्जुन की वृत्ति के कार्य करने का अवसर आता है, क्योंकि अर्जुन के मस्तिष्क में इन्हीं स्मृति-चिह्नों से अंकित कोषों का ही आधिक्य है। ये सफलता के संस्कार ही अब अर्जुन की खिन्न चित्तवृत्ति को सम्हालने लगते हैं। अस्तु, इस प्रकरण का आरम्भ भगवान् श्रीकृष्ण अर्थात् सफलता के मार्गदर्शन की वृत्ति के अमृत वचनों से होता है। वे शोकयुक्त अर्जुन से बिना पूछे ही स्वयं उसे आश्वासन देते हैं तथा उसकी कायरता पर उसे लज्जित कर उसकी स्थिति, जो पतन की ओर जा रही है, उसे सम्हालकर उसे कर्तव्य परायण बनाने की चेष्टा करते हैं।

अस्तु, वेदव्यासजी, संजय द्वारा अर्जुन की करुण स्थिति का परिचय धृतराष्ट्र को दिलाकर अब वह पुनः कैसे अपने को सम्हाल लेता है - यह भाव भी व्यक्त कराना चाहते हैं। अतः वे संजय से कहलाते हैं कि “हे राजन्! अश्रुपूर्ण तथा व्याकुल नेत्रों वाले शोक-युक्त उस अर्जुन से सफलता का मार्गदर्शन कराने वाली वृत्ति अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकार कहने लगे कि- “हे अर्जुन! तुमको इस विषम स्थल में यह अज्ञान

किस कारण उत्पन्न हुआ? क्योंकि इस प्रकार का आचरण न तो श्रेष्ठ पुरुष करते हैं और न यह स्वर्ग को देने वाला है और न इससे कीर्ति का विस्तार ही होने वाला है। इसलिये हे अर्जुन! नपुंसक मत बन, यह तेरे योग्य नहीं है। हे परंतप, तुच्छ हृदय की दुर्बलता को त्याग कर युद्ध के लिये खड़ा हो।'

पाठक अनुभव कर रहे होंगे कि वेदव्यास जी मानव-मस्तिष्क के मध्य होने वाले सफल और असफल संस्कारों के अंतर्द्वन्द्व का कैसा स्पष्ट दर्शन करा रहे हैं। अब आगे और भी देखें।

जब सफलता का मार्ग-दर्शन कराने वाली वृत्ति से अर्जुन प्रभावित हो जाता है तब वह वृत्ति उसे युद्ध में प्रवृत्त होने के लिये प्रयत्न करती है। ऐसा होने पर कर्तव्य-विमुख कराने वाली वृत्ति को एक धक्का सा लगता है। अतः यह वृत्ति पुनः एक बार बढ़कर सफलता के संस्कारों को दबाने का प्रयत्न करती है। परिणामस्वरूप अर्जुन पुनः अपने मन में युद्ध न करने का विचार करने लगता है। वह कहता है कि गुरुजन आदि से युद्ध करना किसी भी प्रकार उचित नहीं। अतः वह भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य आदि गुरुजनों के प्रति पूज्य भाव दिखलाता है। उसे यह ध्यान ही नहीं रहता कि ये गुरुजन आदि अब विपक्षी दल में हो जाने से शत्रुवत् हो गये हैं। अस्तु, अर्जुन कहता है कि "हे शत्रुनाशक भगवन्! भीष्मपितामह व द्रोणाचार्य दोनों ही पूजनीय हैं। इन दोनों से इस युद्धभूमि में, मैं बाणों से कैसे युद्ध करूँगा?"

चूँकि अर्जुन की दृष्टि में इस समय भीष्मपितामह तथा द्रोणाचार्य आदि के प्रति आदर का भाव है, अतः इनके प्राण लेना वह अधर्म समझता है,

१. संजय उवाच - तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।

विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः॥१॥

श्री भगवानुवाच - कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।

अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन॥२॥

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।

क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्तचित्तिष्ठ परंतप॥३॥

२. अर्जुन उवाच-

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।

इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजाहविरिसूदन॥४॥

जबकि उसका यह विचार कर्तव्य क्षेत्र में क्षत्रिय धर्म के सर्वथा विपरीत है इसी क्रम में वह भिक्षावृत्ति करने को भी श्रेष्ठ समझता है जो कि क्षत्रिय के लिये अत्यंत निन्दनीय है। इस संदर्भ में वह स्पष्ट ही कहता है कि इन आदरणीय गुरुजनों को न मार कर इस लोक में भिक्षावृत्ति के अन्न से भी निर्वाह करना मेरी दृष्टि में कल्याण कारक है क्योंकि गुरुजनों को मार कर भी उनके रुधिर से सने हुए अर्थ और कामरूप भोगों को ही तो भोगूंगा।' किन्तु अब अर्जुन उपरोक्त अपने तर्कों को स्वयं ही निस्सार समझने लगता है अर्थात् कर्तव्य-विमुख-भावना की वृत्ति के तर्क सफलतापूर्वक मार्ग-दर्शन की वृत्ति पर कोई प्रभाव नहीं डालते। कर्तव्य-पालन की सफलता में सन्देह उत्पन्न होने की दशा * अब यहां इन शब्दों में कि "न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो, यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः" में भली प्रकार से स्पष्टतः प्रकट हो जाती है। वह कहता है कि "हम लोग यह भी नहीं जानते कि हमारे लिये क्या करना श्रेष्ठ है अथवा यह भी नहीं जानते कि हम जीतेंगे या हमको वे जीतेंगे और जिनको मारकर हम जीना भी नहीं चाहते वे ही धृतराष्ट्र के पुत्र हमारे सामने खड़े हैं।" इस प्रकार अर्जुन की कर्तव्य-विमुख-वृत्ति अपने समर्थन का अन्य कोई साधन न देखकर यह अंतिम प्रहार करती है कि इस युद्ध में दोनों ही पक्ष एक दूसरे से बड़े-चढ़े हैं एवं इस संघर्ष में दोनों ओर

१-

गुरुनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामास्तु गुरुनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्॥५॥

२-

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थितः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः॥६॥

* प्रथम अध्याय में पृष्ठ ५७ पर उल्लिखित किंकर्तव्यविमूढ़ स्थिति की तीसरी क्रिया - 'कर्तव्य-भार की सफलता में सन्देह'।

के वीर प्रचुर मात्रा में मारे-जावेंगे। अपने कुटुम्बी कौरव वीरों के निधन के उपरान्त यदि जीत भी होगी तो भी पाण्डव वीर बलवान नहीं रहेंगे। वे मरे के ही तुल्य होंगे; वे ऐसे जीने से तो मरना ही श्रेष्ठ समझेंगे। सचमुच यह युद्ध ऐसा भयंकर होता दिखता है जैसा कि अभी तक कोई युद्ध नहीं हुआ है, क्योंकि अन्य युद्धों में कठिनाईयाँ तो थीं पर जीत स्पष्ट दिखती थी, किन्तु इस बार जीत भी सन्देहास्पद ही है। लेकिन जब यह अंतिम प्रहार भी निष्फल जाता है तो कर्तव्य-विमुख-वृत्ति घुटने टेक देती है। और तब अर्जुन पूर्ण रूप से अपनी कायरता, कर्तव्य-हीनता तथा उसके कारण शोकातुर होने आदि की स्थिति को स्वीकार कर लेता है तथा सफलतापूर्वक मार्ग-दर्शन की वृत्ति के पूर्ण आधीन होकर उसके द्वारा निर्देशित पथ पर इस प्रकार चलने लगता है जैसे शिष्य अपने गुरु द्वारा बताये हुये मार्ग पर चलता है। जैसा कि वह कहता है कि “हे भगवन्! मेरे स्वभाव में कायरता रूपी दोष आ गया है। मेरा चित्त धर्म के विषय में मोहित हो गया है। मैं आपसे पूछता हूँ, जो कुछ निश्चित कल्याणकारक साधन आपकी दृष्टि में हो उसे कृपया कहकर अनुग्रहीत कीजिये, क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ। आपकी शरण में आया हूँ। आप मुझे शिक्षा दीजिए। हे भगवन् चाहे मुझे भूमि में निष्कण्टक धन-धान्य से युक्त राज्य प्राप्त हो जावे और चाहे देवताओं का मैं स्वामी बना दिया जाऊँ तो भी मुझे वह उपाय नहीं दिखाई देता जो कि मेरी इन्द्रियों को सुखाने वाले शोक को दूर कर सके।” इसके उपरान्त वेदव्यास जी संजय द्वारा पुनः कहलवाते हैं कि हे राजन्! यद्यपि कर्तव्य-विमुख-वृत्ति का भाव तो यह है कि युद्ध न किया जावे, परन्तु अब उसके समर्थन में शक्ति और तर्क का अभाव है, अतः वह वृत्ति मौन हो जाती है अर्थात् अर्जुन यह कहकर चुप हो जाता है कि वह अब अपनी ओर से युद्ध नहीं करेगा।^२

१. कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
 यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥७॥
 न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्, यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
 अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं, राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्॥८॥
२. संजय उवाच - एवमुक्ता हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप।
 न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥६॥

चूँकि अब वह शिष्य बन गया है अतः गुरुजी के आदेश से यदि युद्ध करना होगा तो वह युद्ध करने को भी तैयार है, इस विचारधारा का भी यहाँ बीजारोपण हो जाता है और यही विचारधारा आगे चल कर अंकुरित हो क्रमशः पूर्णता को प्राप्त होती है। कर्तव्य-विमुख-वृत्ति के क्रियाशील न रहने पर तथा अपने प्रभाव से प्रभावित होने पर कर्तव्यपथ का मार्ग-दर्शन कराने वाली वृत्ति अर्जुन को वे सब युक्तियाँ सुझाती है जिससे प्रभावित होकर वह अपने कर्तव्य-पथ पर आखड़ हो सके। वस्तुतः ये युक्तियाँ ही श्रीमद्भगवद्गीता के प्राण हैं।

अतः वेदव्यास जी संजय से कहलाते हैं कि “हे राजन्, अंतर्यामी श्रीकृष्ण भगवान् दोनों सेनाओं के बीच में उस शोकयुक्त अर्जुन को सम्बोधित करते हुये हँसती हुई सी मुखमुद्रा से बोले” कि “हे अर्जुन, कर्तव्यपालन के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा प्राणादि के मोह से आती है अर्थात् मनुष्य मात्र मृत्यु से डरकर ही कर्तव्य की अवहेलना करता है, किन्तु यह उसका अज्ञान है। भगवान् कर्तव्यपालन में मृत्यु के भय को दूर करने के हेतु तीन दृष्टि कोण उपस्थित करते हैं -

9

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।

सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः॥१०॥

कर्तव्य-विमुख कराने वाली वृत्ति’ और ‘कर्तव्य पालन कराने वाली वृत्ति के मध्य मस्तिष्क में नित्य होने वाले अंतर्द्वन्द्व से अब पाठक भली भाँति परिचित हो गये हैं अतः यह समझने में कुछ भी कठिनाई किसी को भी नहीं होगी कि ‘सफलता का मार्ग-दर्शन कराने वाली वृत्ति’ की क्रिया ठीक वैसी ही होती है जैसी कि भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा अर्जुन को कर्तव्योन्मुख करने के लिये व्यक्त की गयी है। इसी प्रकार कर्तव्य-विमुख कराने वाली वृत्ति की क्रिया भी ठीक उसी प्रकार की होती है जैसी कि अर्जुन के द्वारा कर्तव्यविमुख होने पर प्रदर्शित की गई है। अतः श्रीमद्भगवद्गीता की प्रस्तुत विवेचना में अब आगे इन वृत्तियों का अधिक उल्लेख न कर केवल भगवान् श्रीकृष्ण एवं अर्जुन के संवाद के रूप में ही उल्लेख किया गया है। इस प्रकार यहाँ भी प्रत्यक्ष में तो भगवान् के उपदेश हैं परन्तु वे साथ ही साथ मन में होने वाली दोनों वृत्तियों की क्रिया प्रतिक्रिया भी हैं। इस प्रकार प्रस्तुत विवेचन में पाठक दोनों ही स्वरूपों का अनुभव करते रहेंगे।

१. आत्मा के अविनाशी स्वभाव का।
२. जन्ममरणधर्मी आत्मा का।
३. लौकिक दृष्टिकोण-शास्त्र एवं धर्मानुसार स्वर्गीय मनोवांछित सुख प्राप्ति का।

आत्मा नित्य है। उसका शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं है। शरीर छूट जाने पर भी वह ज्यों की त्यों रहती है। और, जिसका कोई बिगाड़ नहीं होता उसके लिये यदि कोई शोक करता है तो यह उसका अज्ञान है।

आत्मा का
अविनाशी स्वभाव

अतः भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन, जो शोक करने के योग्य नहीं है उनके प्रति तू शोक करता है और पण्डितों के से वचनों की कहता है, परन्तु पण्डितजन जिनके प्राण चले गये हैं उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं उनके लिये भी शोक नहीं करते हैं। वास्तव में ऐसा नहीं है कि “मैं” या “तू” अथवा तेरे मित्र अन्य राजा लोग केवल मृत्यु होने तक यहाँ रहेंगे और फिर उनका अन्त हो जावेगा। हम सब इस जन्म से पहले भी थे और हमारी मृत्यु हो जाने के बाद भी रहेंगे।^१ जिस प्रकार हमारा बचपन चला गया और हम युवा हो गये पर हममें कोई अन्तर नहीं आया उसी प्रकार हमारी युवा अवस्था के व्यतीत होने पर जब हम वृद्ध हो जावेंगे तब भी हममें कोई परिवर्तन नहीं होगा। इसी प्रकार यह शरीर जब छूट जावेगा और हम नया शरीर धारण कर लेवेंगे तब भी हममें कोई अन्तर नहीं आवेगा। इसलिये तत्व को जानने वाला धीर पुरुष इस विषय में मोहित नहीं होता है।^३ केवल इतना अवश्य है कि इन्द्रियों के द्वारा जब भोग भोगे जाते हैं तो वे अनुकूल होने पर हमको सुख देते हैं और जब अनुकूल नहीं होते तो दुःख देते हैं। किन्तु, यदि विचार करें तो स्वयं ही यह स्पष्ट बोध हो जावेगा कि ये सुख-दुःख तो सदैव ही बने रहते हैं-तथापि हैं ये क्षणभंगुर क्योंकि इनका आना जाना स्वाभाविक ही है। अतः

-
१. श्री भगवानुवाच - अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥११॥
 २. न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥१२॥
 ३. देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥१३॥

धैर्यवान् व्यक्ति सुख आने पर यह समझता है कि सुख सदा तो रहेगा नहीं अतः इसमें लिप्त होना व्यर्थ है और इसी प्रकार दुःख भी स्थायी रहने वाला नहीं है । अतः दुखी होना निरर्थक है, अस्तु, जो सुख-दुःख की परवाह न कर उन्हें सह लेता है, इनके प्रभाव से विचलित नहीं होता है, उसी को मोक्ष का अधिकारी कहते हैं । वस्तुतः व्यक्ति पर सुख-दुःख के प्रभाव का न होना ही मोक्ष की प्राप्ति है। अतः भगवान् कहते हैं कि “हे कुन्ती-पुत्र ! सर्दी-गर्मी और सुख-दुःख को देने वाले इन्द्रियों एवं विषयों के संयोग तो क्षणभंगुर हैं और अनित्य हैं इसलिये तू इनको सहन कर। क्योंकि हे पुरुष श्रेष्ठ, सुख-दुःख को समान समझने वाले जिस धीर पुरुष को इन इन्द्रियों के विषय व्याकुल नहीं कर सकते वही मोक्ष प्राप्त करने का अधिकारी होता है।” अब यह जानना भी अनिवार्य है कि स्थूलदेह और आत्म-शक्ति में क्या अन्तर है। तत्त्वदर्शियों की दृष्टि में स्थूल देह और आत्मशक्ति में यही अन्तर है कि स्थूलदेह के न रहने पर जिस नाम से उसे पुकारा जाता है उस नाम से फिर उसे कोई नहीं पुकारेगा और उसके शरीर के आकार प्रकार भी हमें पूर्ववत् नहीं दिखेंगे। इस प्रकार स्थूल शरीर का रूप और उसका नाम दोनों का अस्तित्व क्षणभंगुर है, किन्तु आत्म-शक्ति की स्थिति स्थूलदेह से सर्वथा भिन्न है। आत्म-शक्ति का अस्तित्व स्थायी है। अतः भगवान् कहते हैं कि “हे अर्जुन! असत् वस्तु का (स्थूलशरीर के नाम रूप का) तो अस्तित्व नहीं है और सत् का (आत्मतत्त्व का) अभाव नहीं है। इस प्रकार ज्ञानी पुरुषों द्वारा इन दोनों का ही निर्णय देखा गया है।” वस्तुतः यह आत्म-तत्त्व-शक्ति इस समस्त जगत् में सदा व्याप्त रहती है । इसके अस्तित्व को मिटाने की किसी में सामर्थ्य नहीं है। अतः इस समस्त जगत् में व्याप्त शक्ति को तो अविनाशी कहते हैं; और इस सीमा रहित नित्य एवं अविनाशी शक्ति के रहने के गृह को ‘शरीर’ कहते हैं जो बदलते रहते हैं तथा जिनके नाम व रूप

9

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥१४॥

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।

समुदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥१५॥

२

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥१६॥

नाशवान हैं। शरीर के बदलने से अथवा नाम रूप के नष्ट हो जाने से स्वधर्मपालन में कोई बाधा नहीं आती। अस्तु, स्वधर्म पालन करना ही चाहिये अर्थात् संघर्ष करना ही उचित है।^१ अतएव जो इस आत्मा को मरने वाला मानता है अथवा जो इसको मरा हुआ समझता है ऐसा प्रत्येक व्यक्ति आत्मा के वास्तविक स्वरूप से अपरिचित होता है क्योंकि आत्मा न तो मरती है और न मारी जाती है।^२ वास्तव में सत्य तो यह है कि यह आत्म-शक्ति कभी जन्म ही नहीं लेती। और, जब उसने जन्म ही नहीं लिया तो वह फिर मृत्यु को कैसे प्राप्त हो सकती है? साथ ही ऐसा भी नहीं है कि आत्मा उत्पन्न होकर अंत में नहीं रहेगी। वस्तुतः आत्मा तो उत्पत्ति और विनाश से रहित है। वह अजन्मा, नित्य, शाश्वत, एवं सनातन है। शरीर के नाम-रूप के नाश हो जाने पर भी इसका नाश नहीं होता।^३ अतः हे अर्जुन, जो व्यक्ति इस आत्मा को अविनाशी, नित्य, अजन्मा और अव्यय जानता है उस व्यक्ति के विषय में यह कैसे कहा जा सकता है कि वह किसको मरवाता है और कैसे किसको मारता है।^४ अस्तु, यथार्थ में तथ्य तो यह है कि जिस प्रकार पुराने वस्त्र को त्यागकर हम नवीन वस्त्र धारण कर लेते हैं वैसे ही जीवात्म शक्ति पुराने शरीर के बेकार हो जाने पर दूसरा नवीन शरीर ग्रहण कर लेती है।^५ युद्ध में भाग लेते समय शस्त्र से देह को काटा जा सकता है, किन्तु आत्म-शक्ति पर

-
- १ अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति॥१७॥
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताःशरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्बुध्यस्व भारत॥१८॥
- २ य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥१९॥
- ३ न जायते म्रियते वा कदाचिन् नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो, न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥२०॥
- ४ वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥२१॥
- ५ वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥२२॥

शस्त्र का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। देह के कट जाने पर यदि देह को जलाया जाता है तो देह तो जल जाती है किन्तु जीवात्म-शक्ति ज्यों की त्यों बनी रहती है। उस पर अग्नि का प्रभाव नहीं होता है। इसी प्रकार यदि देह को जलाने के बाद उसकी भस्म जल में प्रवाहित कर देते हैं, तब भी आत्मा पर जल का प्रभाव कुछ नहीं होता है। और, जल के सूख जाने पर भी वायु के स्पर्श से आत्मा पर वायु का भी किंचित् मात्र भी प्रभाव नहीं होता। अतः यह आत्मा अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, और अशोष्य है। निस्सन्देह यह आत्मा नित्य, सर्व-व्यापक, ठूँठ के समान अचल रहने वाला और सनातन है।^१ इस आत्मा की जानकारी इन्द्रियों द्वारा नहीं हो सकती। मन भी इसके रूप को नहीं जान सकता; यह विकार रहित अर्थात् अपरिवर्तनशील है। अतः जब स्थूल, जड़ देह के छूट जाने पर जीवात्मा का सूक्ष्म शरीर जो कर्म का कर्ता है, एवं आत्मा का स्वरूप जो कर्म का प्रेरक है दोनों का अस्तित्व ज्यों का त्यों रहता ही है तो फिर देह के छूट जाने का यानी मृत्यु का डर बिल्कुल नहीं रहना चाहिये। क्योंकि स्थूलदेह तो बढ़ई के औजार के समान है। अगर बढ़ई है और उसमें काम करने की शक्ति भी बनी है, केवल औजार घिस-घिस कर बेकार हो गये हैं तो वह औजार दूसरे ले लेता है। इस प्रकार बेकार औजारों को बदलने में बढ़ई कभी भयभीत नहीं होता वरन् उसे सन्तोष ही होता है तथा औजारों के अभाव में जो कार्य करने में शिथिलता आ जाती है, वह भी नवीन औजारों के आते ही दूर हो जाती है और वह पूर्ववत् पुनः कार्य करने लग जाता है। अतएव यदि शरीर के उपयोग में लाये जाने के बाद अथवा यूँ कहिये कि औजारों के घिस-घिस कर बेकार हो जाने के कारण यदि कोई उनके अभाव में कर्तव्य न कर सकने के कारण दुखी होता है तो यह उसका अज्ञान है। किन्तु जो यह जानता है कि स्थूलदेह के बेकार हो जाने पर नई देह फिर लेलेंगे वह व्यक्ति आत्म-तत्त्व को जानने वाला

१-

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥२३॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥२४॥

वीर है। ऐसा व्यक्ति मृत्यु की परवाह नहीं करता, अपितु निरन्तर कर्तव्यपालन करता हुआ प्रसन्न रहता है। उसकी दृष्टि में तो देह की मृत्यु ऐसे ही है जैसे कि एक शस्त्र का टूटना। ऐसी धारणा वाले व्यक्ति के कर्तव्यपालन में मृत्यु लेशमात्र भी रुकावट नहीं डाल सकती। अतः भगवान् कहते हैं कि, “यह आत्मा अव्यक्त, अचिन्त्य, और निर्विकार कही जाती है। अतएव आत्मा को ऐसा जानकर उसके लिये शोक करना सर्वथा अनुचित है।”

जन्म-मरण धर्मी
आत्मा

लेकिन यदि कोई व्यक्ति आत्मा के अमरत्व के रहस्य से अनभिज्ञ है तो भी कर्तव्यपालन में देह के नाम व रूप के नाश होने मात्र से उसे पीछे नहीं हटना चाहिये, कर्तव्यपालन तो सर्वोपरि धर्म है। क्योंकि यदि उसकी दृष्टि में आत्मा नित्य मरने वाली एवं नित्य जन्म लेने वाली है तो फिर जन्म लेना और मृत्यु को प्राप्त हो जाना भी अवश्यम्भावी है जो प्रकृति की एक अनिवार्य क्रिया है। इस दृष्टि से मृत्यु तो टल सकती ही नहीं फिर यदि कुछ जल्दी हो गई तो कोई बड़ी बात नहीं है; कर्तव्यपालन तो हो ही सकेगा, ऐसा विश्वास रखते हुये व्यक्ति कर्तव्य करता ही रहेगा। इस प्रकार वह अकर्मण्यजीवन की अपेक्षा कर्तव्यरतजीवन के गौरव को प्राप्त कर सकेगा। अतः भगवान् कहते हैं कि “हे महाबाहो! यदि तू इस आत्मा को सदा जन्म लेने वाला और सदा मरने वाला ही समझता है तो भी तेरा आत्मा के विषय में चिन्तित होना उचित नहीं है, क्योंकि जो जन्म लेता है उसकी मृत्यु निश्चित देखी जाती है। अतएव जो होकर ही रहेगा अर्थात् अवश्यम्भावी है उसके लिये शोक करना व्यर्थ है। साथ ही जीवों की जन्म से पूर्व क्या स्थिति थी और मृत्यु के उपरान्त क्या स्थिति होगी इसकी हमें कुछ भी स्पष्ट जानकारी नहीं है। हाँ, केवल जीवों के जीवन काल की अर्थात् वर्तमान की स्थिति का ही हमें ज्ञान है। अतः वस्तु की आदि और अन्त से रहित केवल मध्य की स्थिति के लोप होने पर चिन्ता व्यक्त करना न्यायसंगत नहीं है। सचमुच, इस आत्म-तत्त्व का रहस्य बड़ा ही गूढ़ है। क्योंकि सम्भवतः ऐसा कोई बिरला ही व्यक्ति होता

है जो शरीर से भिन्न आत्मा को इस प्रकार देखता है मानो कि वह आश्चर्य की वस्तु है, तथा देखकर दूसरों को भी इस प्रकार ही बताता है मानो कि वह कोई आश्चर्य की वस्तु है। इसी प्रकार कोई इस आत्म-वर्णन को आश्चर्य से सुनता तो है परन्तु सुनकर भी इसके यथार्थ स्वरूप को नहीं जान पाता। वस्तुतः हे भारत, यह आत्मा जो प्रत्येक प्राणी के शरीर में व्याप्त है उसे कोई भी काट नहीं सकता, वह अवध्य है। अतः प्राणियों के निधन के सम्बन्ध में शोक करना व्यर्थ है।'

अब यदि लौकिक दृष्टि से भी विचार किया जावे तो जिस व्यक्ति ने क्षत्रिय परिवार में जन्म लिया है उसे क्षात्रधर्म का पालन करना ही चाहिये और क्षात्रधर्मानुसार ऐसा युद्ध कर्तव्य ही है जो अपने आप ही उपस्थित हो जावे तथा जो

लौकिक दृष्टिकोण अर्थात्
शास्त्र एवं धर्मानुसार
मनोवांछित स्वर्गीय सुखप्राप्ति

न्यायसंगत भी हो।

अतः क्षत्रिय को अपने स्वधर्मपालन हेतु भी ऐसे युद्ध का स्वागत करना चाहिये और यदि क्षत्रिय ऐसे युद्ध में संघर्ष-रत रहकर दिवंगत भी हो जाता है तो भी उसे स्वर्गीय सुख प्राप्त होता है अर्थात् उसके इस धर्माचरण के परिणामस्वरूप उसे ऐसा जन्म मिलता है जहाँ उसे उन सब सुखों के साधन उपलब्ध हो जाते हैं जिनकी प्राप्ति की उत्कट अभिलाषा उसे

9

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥२६॥
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहायेऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥
अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्भवति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति, श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥
देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

उसके विगत जीवन में थी और वह उन्हें प्राप्त नहीं कर सका था।'

अतः आत्मा को अविनाशी समझकर या उसे नित्य जन्म-मरण धर्मी समझकर अथवा मनोवांछित अभिलाषा की पूर्ति के हेतु मृत्यु की चिन्ता न कर कर्तव्यपालन करना तो नितान्त आवश्यक है। यदि क्षत्रिय कर्तव्य-पालन से विमुख होता है तो उसे अपनी अपकीर्ति जीतेजी सुननी पड़ेगी। इतना ही नहीं वरन् उसके मरने के उपरान्त भी लोग उसके अपयशपूर्ण कार्यों का उल्लेख किया करेंगे। इस प्रकार वह क्षत्रिय धर्म-युद्ध से भागा हुआ कहलावेगा और स्वयं सामर्थ्यवान है तो भी उसको अपनी सामर्थ्य का तिरस्कार देखना पड़ेगा। और फिर, यदि वह व्यक्ति माननीय है तो उसको अपनी अपकीर्ति का यह दुःख युद्ध में मृत्यु को प्राप्त होने के दुःख से अधिक प्रतीत होगा अर्थात् कर्तव्य से विमुख होकर उसको निश्चयात्मक रूप से तिरस्कृत जीवन का असह्य दुःख सहना पड़ेगा। इसके विपरीत यदि वह कर्तव्यपालन समझकर युद्ध करेगा तो यह निश्चयात्मक रूप में नहीं कहा जा सकता कि युद्ध में मृत्यु ही हो जावेगी। यह भी सम्भव है कि विजयलक्ष्मी ही उसको प्राप्त हो। अतः कर्तव्यपालन में तो दोनों ही प्रकार से हित है। यदि मृत्यु होती है तो मनोवांछित स्वर्गीय सुख की प्राप्ति होगी और यदि जीवन रहता है तो विजयपूर्वक राज्यलक्ष्मी का भोग प्राप्त होगा, क्योंकि क्षात्रधर्मानुसार क्षत्रिय युद्ध से हारा हुआ वापिस नहीं आता। वह या तो जीत कर ही युद्ध से वापिस आता है अन्यथा युद्ध में ही मृत्यु को प्राप्त होता है। अतएव भगवान् कहते हैं कि "हे अर्जुन, तू इस धर्मयुक्त युद्ध को नहीं लड़ेगा तो अपने क्षत्रिय धर्म को और अपनी कीर्ति को खोकर पाप का भागी होगा तथा सब लोग तेरी अपकीर्ति का वर्णन भी अनन्त काल तक करेंगे। निस्सन्देह, तेरे जैसे स्वाभिमानी व्यक्ति के लिये अपकीर्ति मृत्यु से भी अधिक दुखदायी है। इतना ही नहीं वरन् जो लोग तेरी अब तक प्रतिष्ठा करते थे उनकी दृष्टि में भी तू तुच्छ दिखने लगेगा। वे महारथी

केवल यही समझेंगे कि तू भयभीत होकर ही युद्ध से विमुख हुआ है। इतना ही नहीं शत्रुगण तेरी सामर्थ्य की निन्दा करते हुए ऐसी अनेकों बातें कहेंगे जो नहीं कही जानी चाहिये, तुझे इससे अधिक दुःख क्या होगा? अतः सब प्रकार से यही कल्याणकर है कि तू युद्ध कर। क्योंकि यदि तू युद्ध में मारा जावेगा तो तुझे स्वर्ग प्राप्त होगा और यदि जीतेगा तो पृथ्वी के सुखों को भोगेगा। अतः तू युद्ध करने का निश्चय कर और युद्ध के लिये तैयार होजा। १

सारांश यह है कि भगवान् परोक्षतः मानवमात्र को यह उपदेश दे रहे हैं कि कर्त्तव्यपालन में सफलता द्वारा लाभ हो अथवा असफलता से हानि हो, दोनों (जय और पराजय) पर ही समान दृष्टि रख कर जिस प्रकार क्षत्रिय को धर्मयुद्ध करना (कर्त्तव्य पालन करना) उचित है, उसी प्रकार मानव मात्र को सफलता और असफलता को समान समझकर अपना-अपना कर्त्तव्य-पालन करना चाहिये। यदि हम उपरोक्त तीनों दृष्टिकोणों का विवेचन करें तो कर्त्तव्यपालन करने के तीनों दृष्टिकोणों में प्रथम दृष्टिकोण को ही सर्वोत्तम कहेंगे जिसमें कि आत्मा को अविनाशी कहा गया है। तृतीय दृष्टिकोण के अन्त में सुखप्राप्ति तो अवश्य है पर अस्थायी है; साथ ही इसमें तो सन्देह नहीं कि स्वर्गीय सुख क्षत्रिय को धर्मयुद्ध में प्राण त्यागने से अवश्य प्राप्त होंगे परन्तु पुण्यकर्म की अवाधि समाप्त होने पर उसे पुनः कर्म करने के हेतु जन्म लेना पड़ेगा*।

- १ अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
 ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥३३॥
 अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
 संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥
 भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
 येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥३५॥
 अवाच्यवादांश्च बहुन्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
 निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥३६॥
 हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
 तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥३७॥

*जैसा कि आगे चलकर भगवान् कहेंगे कि “क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति” (अध्याय ६ श्लोक २१)

इस प्रकार इस लौकिक दृष्टिकोण को अपनाने से दुःख से पूरा-पूरा छुटकारा नहीं मिलता है। अब द्वितीय दृष्टिकोण पर विचार करें तो आत्मा के नित्य मरने तथा जीने से बाँस पर चढ़ना और उतरने जैसी कहावत के अनुसार अंत में दुःख ही प्राप्त होगा। विवेचन से स्पष्ट है कि प्रथम दृष्टिकोण में व्यक्त विचारधारा ही केवल आत्मा को अविनाशी सिद्ध करती है और उसे स्थूल शरीर से भिन्न भी। स्थूल शरीर जड़ वस्तु के सदृश उपयोग में आने वाली वस्तु है जिसके बेकार होने पर दूसरी वस्तु ली जा सकती है और दूसरी इसी तरह की वस्तु प्राप्त होने पर हम पूर्ववत् अपना कार्य कर सकते हैं। अस्तु, कर्तव्यपालन हेतु (यदि वह कर्तव्य एक बड़ी योजना है तो) अनेक शरीर धारण करके भी कर्तव्य को पूरा किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में शरीर के जीर्ण हो जाने पर अथवा बदल जाने पर कुछ भी दुःख नहीं होगा वरन् प्रसन्नता ही होगी। यह प्रसन्नता भी वैसी ही होगी जैसी कि पुरानी वस्तु बदलकर नई वस्तु लेने में होती है। अतः स्पष्ट है कि इस प्रकार भगवान् द्वारा व्यक्त इस विचारधारा से दुःख का अन्त हो जाता है क्योंकि स्थूलशरीर को साधन बनाकर जीवात्मा का सूक्ष्मशरीर अपने कर्तव्य का पालन पूर्ण मनोयोग से कर सकता है। चूँकि जीवात्मा को मुक्त होना भी आता है अर्थात् उसे विदित है कि आत्मा तो सूक्ष्मशरीर के कृत्यों की केवल जानकारी ही रखती है अतः उसके कर्तव्य के फलस्वरूप दुःख-सुख से वह निर्लिप्त है। इस प्रकार जीवात्मा फल पाने के समय अपने आप को मुक्त अवस्था में ला सकता है और फल से निर्लिप्त भी हो सकता है। उसे विश्वास होता है कि कर्म का फल तो अवश्य ही होता है और वह फल प्राप्त भी समय आने पर ही होता है, अतः यदि अभीष्ट फल तत्काल नहीं मिला तो कारण स्पष्ट है कि अभी उस कर्म की परिपक्व अवस्था आने में विलम्ब है। यह जानकारी उसे दुखी होने से मुक्त कर देती है। साथ ही वह फल के सम्बन्ध में भी निश्चिन्त है, अतः कर्तव्यपालन में उसके मार्ग में कोई रुकावट नहीं आ सकती है।

अस्तु, भगवान् सांख्यशास्त्र का प्रतिपादन करते हुये कहते हैं कि सुख-दुःख, लाभ-हानि, और जय-पराजय को समान समझकर तू युद्ध आरम्भ कर। इस रीति को अपनाने से युद्ध कर्म तेरा कर्तव्यकर्म हो जावेगा और तब तू युद्ध के पाप का भागी नहीं होगा।' इसके उपरान्त

भगवान् कहते हैं कि 'हे पार्थ, यह ज्ञान तुझे सांख्यशास्त्र का कहा गया है। अब कर्मयोग के विषय में उस ज्ञान (बुद्धि) को तू सुन जिस बुद्धि को प्राप्त करने से तू कर्म-बन्धन का भली प्रकार त्याग कर सकेगा। साथ ही निश्चय ही बुद्धि द्वारा आत्मा के अविनाशी भाव को जान लेने पर तथा उसके निर्लिप्त स्वरूप का अनुभव हो जाने पर दैनिक कर्तव्यधर्म करते समय समभाव में रहने की आदत डाली जा सकती है। अतः यह समभाव की रीति से कर्म करना केवल सैद्धान्तिक ही नहीं है वरन् पूर्ण रूप से व्यावहारिक भी है। चूँकि इस युक्ति का प्रयोग बुद्धि द्वारा होता है अर्थात् इस युक्ति का अभ्यास बुद्धि से सम्बन्ध रखता है, अतः इसे बुद्धि-योग कहते हैं, तथा इस बुद्धि-योग को व्यवहार में लाने के लिये यदि ईश्वरार्पण-बुद्धि (निष्काम कर्मयोग) से कार्य किया जावे तो अधिक सुविधा रहती है। अतः व्यावहारिकता के क्षेत्र में यह निष्काम-कर्म-योग ही बुद्धि-योग के प्रारम्भ करने का पहला चरण है।^१

इस प्रयोग को सरलता से आरम्भ किया जा सकता है। यदि यह प्रयोग अभ्यास करते-करते कभी विस्मृत हो भी जावेगा तो भी इसका बीज नष्ट नहीं होता। साथ ही इस अभ्यास को आरम्भ करके छोड़ देने पर भी कोई हानि नहीं होती और न भूल हो जाने से विपरीत परिणाम होने का ही डर रहता है। बल्कि इस युक्ति से चलने में यह विशेषता और है कि यदि इसका अभ्यास थोड़ा भी हो गया तो वह जन्म-मृत्यु रूप स्थूलशरीर के नाम रूप के नाश होने के महान दुःख और भय से उद्धार कर देता है।^३

- १ सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥३८॥
- २ एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमांशृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥३९॥
- ३ नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥४०॥

जो व्यक्ति 'निष्काम' अर्थात् 'फल की इच्छा त्यागकर' कर्तव्य-पालन का अभ्यास करता है उसकी बुद्धि निश्चयात्मक रहती है। वह अपने कर्तव्य का ध्यान रखता है और उसको विश्वास रहता है कि कर्म का फल उपयुक्त समय पर तथा अनुकूल वातावरण होने पर आया करता है। इसके विपरीत वह व्यक्ति जो फल की इच्छा से काम करता है और आत्मज्ञान से रहित है उसकी बुद्धि अनिश्चयात्मक रहती है। अतः अज्ञानी अनुकूल परिस्थिति में सुखी तथा विपरीत स्थिति में दुःखी रहा करता है। अतः इसकी बुद्धि इसकी विभिन्न कामनाओं के अनुसार विभिन्न भेदों वाली होती है अर्थात् कभी कुछ होती हैं तो कभी कुछ, निश्चित नहीं। वस्तुतः हे अर्जुन, जो सकामी पुरुष होते हैं उनकी केवल वेदों के फलश्रुतियुक्त वचनों में रुचि होती है। उनकी दृष्टि में स्वर्ग के सुख ही सब कुछ हैं। इनसे बढ़कर वे और कुछ नहीं मानते। अतः वे अज्ञानी लोग कर्मफल रूप जन्म को देने वाली एवं अन्य बहुत सी ऐसी क्रियाओं के विस्तार वाली दिखाऊ एवं शोभायुक्त वाणी को कहते हैं जिनसे कि भोग एवं ऐश्वर्य मिले। सचमुच ऐसे व्यक्तियों के अन्तःकरण में निश्चयात्मक बुद्धि नहीं होती है; क्योंकि वे ऐश्वर्य में ही आसक्त हैं और उनका चित्त दर्शनीय (दिखाऊ) वाणी द्वारा मोहित हो रहा है। २

वस्तुतः निश्चयात्मकबुद्धिवाला व्यक्ति सूक्ष्मशरीर के क्रियाकलाप से भी भली-भाँति परिचित रहता है। वह जानता है कि जगत में व्याप्त जो वायु है उसमें सत्वगुणी, रजोगुणी, और तमोगुणी विचार-धारा की तरंगें भरी हुई हैं। साथ ही तीनों गुणों की विचारधाराओं के संस्मरण एक व्यक्ति के मस्तिष्क के भीतर कोषों में भी अंकित हैं। अन्तर केवल यही है कि एक व्यक्ति की विचार

-
- १ व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥४१॥
- २ यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥४३॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥४४॥

तरंगे बाहरी वायुमण्डल में व्याप्त विचारतरंगों की अपेक्षाकृत अत्यन्त न्यून हैं। व्यक्ति जब श्वास लेता है तब श्वास के साथ ही तीनों गुणों की विचार तरंगें भी व्यक्ति के मस्तिष्क के भीतर के कोषों में अंकित तीनों गुणों के संस्मरणों को प्रभावित करती हैं। परिणामस्वरूप व्यक्ति के सत्त्व गुणी संस्मरण सत्त्व गुण को, रजोगुणी, रजोगुण को और तमोगुणी, तमोगुण को कार्य करने की प्रेरणा देते हैं। इस प्रकार व्यक्ति अपने-अपने स्थूलशरीरों से सत्त्व, रज एवं तम के कार्य करते रहते हैं। चूँकि तीनों गुणों के संस्मरणों को हम सूक्ष्मशरीर कहते हैं, अतः काम करने की समस्त क्रिया का कर्ता सूक्ष्म शरीर है और वह स्थूल-शरीर से कार्य करवाता है, जबकि वह व्यक्ति स्वयं दृष्टा है। इस प्रकार वह व्यक्ति जिसकी बुद्धि निश्चयात्मक है, भली प्रकार से ये तीनों बातें जानता है कि सूक्ष्मशरीर, स्थूलशरीर से कैसे कार्य कराता है, कार्य का परिणाम कैसे निकलता है और उससे किस प्रकार निश्चिन्त रहना चाहिये। इस प्रकार वह परिणाम से निश्चिन्त रहने के लिये आत्मस्वरूप में दृष्टा बनकर स्थित होना जानता है। इस जानकारी से वह निर्द्वन्द्व हो जाता है और सदैव आत्मपरायण रहता है। वह स्वधर्मपालन तो करता है, किन्तु फल की चिन्ता उसे तनिक भी नहीं रहती।

अतः भगवान् कहते हैं कि 'हे अर्जुन, चूँकि वेद, सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण के विषय को व्यक्त करते हैं अर्थात् वेद में तीनों गुण के कर्मकाण्ड एवं उनकी फलश्रुतियों का वर्णन है, इसलिये तू इन तीनों गुणों से अलग (स्वयं को बुद्धि से समझकर) अपने वास्तविक आत्म-स्वरूप में सदैव स्थित रह। साथ ही तू निष्कामकर्म करने वाला भी बन अर्थात् कर्म के परिणाम से उत्पन्न होने वाले सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से अलिप्त रह और यह भी ध्यान रख कि अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करना 'योग' और प्राप्त वस्तु की रक्षा करना 'क्षेम' कहलाता है। चूँकि आत्म-भाव तो सदा ही प्राप्त है और साथ ही वह स्वयं सुरक्षित है अतः तू 'योग' और 'क्षेम' के विचारों को छोड़कर अर्थात् नियोगक्षेम होकर स्वधर्मपालन करने के लिये आत्मनिष्ठ हो।'१

जिस प्रकार जिस मनुष्य को जितने जल की आवश्यकता होती है वह उतना ही जल जलाशय से लेता है और शेष जल से उसको कोई प्रयोजन नहीं होता इसी प्रकार आत्मतत्त्व का ज्ञाता स्थूल और सूक्ष्म शरीर से कर्तव्यपालन करते रहने का कार्य लेता है, विभिन्न परिणामों आदि से उसका कोई प्रयोजन नहीं रहता अर्थात् वेदों को अच्छी तरह जानने वाला वेदविहित स्वधर्मपालनार्थ कर्म तो करता है किन्तु वेदों में वर्णित अनेक प्रकार के फलों की प्राप्ति से सम्बन्ध नहीं रखता^१

अस्तु, भगवान् (गीता के) मूल सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि 'हे अर्जुन, तेरा कर्म करने में अधिकार है, वैसे ही जैसे कि भूख लगने पर भोजन करने का अधिकार स्वाभाविक है। वस्तुतः इसी प्रकार जीवन-निर्वाह करने के लिये अथवा समाज या राष्ट्र के लिये भी कर्म करना स्वाभाविक है। किन्तु कर्म के फल पर तेरा अधिकार कभी नहीं है, क्योंकि अनुकूल वातावरण होने पर ही कर्म का वांछित फल मिला करता है। साथ ही अनुकूल फल लाने में मानव प्रायः परावलम्बी ही रहता है। अतः अनुकूल वातावरण बनाने के लिये सदैव उत्साही रहना मात्र उसका धर्म है। इसी प्रकार तुझे कर्म के फल का भी हेतु बनना उचित नहीं; क्योंकि कर्म के संकल्प मन से उदय होते हैं और मन तीनों गुणों (सत्त्व, रज और तम) की संघर्ष शक्ति को कहते हैं। आकाशतत्त्व में व्याप्त सत्त्व, रज और तम से युक्त त्रिगुणात्मक विचार तरंगे वायु के माध्यम से मन को प्रभावित करती हैं। इस प्रकार आकाश में व्याप्त त्रिगुणात्मक तरंगों के स्फुरण से मानव की मन-बुद्धि प्रभावित होकर इन्द्रियों द्वारा स्थूलशरीर से कार्य कराती रहती है जबकि मानव अपने शुद्ध स्वरूप में केवल साक्षी मात्र है। अतः स्पष्ट है कि वह वास्तव में कर्म का हेतु नहीं है तथापि उसे कर्म से विमुख भी नहीं होना चाहिये क्योंकि बिना कर्म किये शरीर के अवयवों को भी सुरक्षित रखना असम्भव है। अस्तु, संक्षेप में भाव यह है कि तेरा कर्म करने में ही अधिकार है, फल में कदापि नहीं और तुझे कर्म का हेतु भी नहीं बनना चाहिये और साथ ही कर्म करने से विमुख भी नहीं होना चाहिये अर्थात् सदैव निष्काम बुद्धि से स्वधर्मपालन करना

ही उचित है और यही निष्काम कर्मयोग है।^१ इस निष्काम कर्मयोग के अभ्यास से कर्म में सिद्धि हो अथवा असिद्धि दोनों स्थितियों में समत्वभाव सुगमता से ही आ जाता है। अतः भगवान् स्पष्ट शब्दों में यह कहते हैं कि “हे धनन्जय, समत्व बुद्धि में स्थित होकर तू कर्म कर, क्योंकि अनासक्ति से अर्थात् फलेच्छा से रहित, सिद्धि और असिद्धि को समान समझकर कर्म करने को ही ‘समत्वयोग’ कहा जाता है और यह समत्वभाव ही वस्तुतः योग है।”^२ चूँकि इस समत्वबुद्धि से कर्म करने की अपेक्षा सकाम कर्म अत्यन्त ही तुच्छ है अतः तू समत्वबुद्धि-योग को अपना ले और फल की कामना न कर।

निस्सन्देह मनुष्य का यही परम धर्म है कि वह कर्तव्यकर्म तो करता रहे किन्तु फल के सम्बन्ध में अनासक्त ही रहे। चूँकि फल की याचना से दीनता का भाव आता है अतः कभी दीनभाव को भी प्राप्त न होवे। इस प्रकार निष्कामकर्म द्वारा मनुष्य दीनभाव (मांगने की वृत्ति) को दूर करदे।^३ समत्वबुद्धियुक्त व्यक्ति पुण्य और पाप दोनों को इस लोक में ही त्याग देता है; क्योंकि वह कर्मफल में आसक्त नहीं होता है, अतः शुभ कर्म के परिणामस्वरूप पुण्य अथवा अशुभ कर्म के परिणामस्वरूप पाप से उसका सम्बन्ध रहता ही नहीं है। इसलिये समत्वबुद्धियोग के लिये ही तू प्रयत्न कर। समत्वबुद्धि से कार्य करने को ही कर्म में कुशलता कहते हैं। यही कर्म के बन्धन दूर करने की अमोघ युक्ति है। फल पाने की इच्छा से ही जन्म हुआ करता है। अतः जब निष्काम कर्म करने में फल की अभिलाषा ही नहीं है अर्थात् जन्म का बीज ही नहीं रहा तब उसके अंकुरित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। भाव यही है कि जन्म लेना पड़े या न लेना पड़े उससे कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

- १ कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥४७॥
- २ योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥४८॥
- ३ दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥४९॥

इस प्रकार निष्कामकर्म द्वारा बुद्धियोग-युक्त ज्ञानी लोग कर्मों से उत्पन्न होने वाले फल को त्याग कर जन्म-बन्धन से मुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार दुःख-सुख का प्रभाव उन पर नहीं पड़ता और वे निर्दोष अर्थात् विकार रहित पद (परम शान्ति) को प्राप्त कर लेते हैं।⁹

इस प्रकरण के प्रारम्भ में ही अर्जुन ने बुद्ध करने में अपनी असमर्थता प्रकट की तथा भगवान् का शिष्य बनकर कार्य करने का निश्चय प्रकट किया। तदुपरान्त अबतक भगवान् ने कर्तव्यपालन करने हेतु तीन दृष्टिकोण अर्जुन के सामने रखे। इनके अन्त में फलप्राप्ति के समय जीवात्मा को आत्मा के स्वरूप में स्थित हो जाने का आदेश दिया। इसके बाद यह बताया गया कि बुद्धि द्वारा आत्मा की जानकारी हो जाने पर उस जानकारी को प्रयोग में कैसे लाना चाहिये। इसकी विधि बताने के बाद वे व्यक्ति विशेष की अपेक्षा समत्वबुद्धि की शरण में जाने का आदेश देते हैं अर्थात् जैसे शरणागत व्यक्ति अपने मन में आया वैसा ही नहीं करता बल्कि जिसकी शरण में जाता है उसी के आदेशानुसार आचरण करता है इसी प्रकार जो व्यक्ति समत्वबुद्धि की शरण जाता है वह सम-बुद्धि के अनुसार अर्थात् बुद्धि को सम रखकर ही कार्य करता है। भाव यह है कि कर्तव्यकर्म करने का स्फुरण होते ही वह एकदम कर्म करने नहीं लग जाता बल्कि पहले सोचता है कि सबकी आत्मा समान है, सब के सुख-दुःख समान हैं, आदि। इस प्रकार वह पहले अपनी बुद्धि को सम कर लेता है। इस सम-बुद्धि की पद्धति से कर्म करने को समत्वबुद्धि की शरण में जाकर कर्म करना कहा जाता है।

इतने लम्बे संवाद के हो जाने पर भी अर्जुन मौन ही क्यों रहा? इसका कारण यह हो सकता है कि भगवान् द्वारा दिया गया

9

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।

तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥५०॥

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।

जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥५१॥

उपदेश ही उसकी समझ में न आया हो अथवा उपदेश समझ में तो आ गया हो पर उसे 'प्रयोग में कैसे लाया जावे' इस समस्या पर ही अर्जुन मनन करने लगा हो।

अतः भगवान् स्वयं ही उसकी मानसिक दशा का अनुभव कर उसकी शंका के समाधान हेतु प्रश्न पूछने के लिये यह कहकर प्रेरित करते हैं कि देखो अर्जुन! सत्संग में अनेक महात्माओं के प्रवचन हुआ करते हैं और सभी महात्मा एकसा ही अनुभव करें और एक ही सिद्धान्त का प्रतिपादन करें यह सम्भव नहीं क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपना निज का अनुभव रखता है और इस प्रकार अनेक महात्माओं के अनेक सिद्धान्तों के संस्कार श्रोतागण के मस्तिष्कों पर प्रायः पड़ते रहते हैं; और जब कोई श्रोता किसी सिद्धान्तानुसार आचरण करना चाहता है तो अन्य सुने हुए संस्कार उसे अपनी ओर खींचने लगते हैं। इस खींचातानी में बुद्धि चन्चल हो जाती है अर्थात् वह स्थिर नहीं रहती कभी किसी सिद्धान्त को पालन करना चाहती है और कभी किसी अन्य को। इन सिद्धान्तों के पालन करने में सिद्धान्त की फलप्राप्ति प्रमुख है जिसकी अनुकूलता एवं प्रतिकूलता सुख-दुःख के द्वन्द्व में डालती है अतः सभी प्रकार के फलों में आसक्ति ही मोह रूप दलदल के समान है। जब कोई व्यक्ति इस मोह-रूपी दल-दल को जो उसे आगे बढ़ने से रोकता है, अच्छी तरह से पार कर जावेगा, तब ही उसकी बुद्धि स्थिर होगी। जब शिष्य अपने गुरु पर पूरी श्रद्धा रखने लगता है और उसको उनके कल्याणकारी उपदेशों पर पूर्ण विश्वास हो जाता है तब चूँकि उसे कोई शंका नहीं रहती अतः उसे आगे फिर शंका निवारण के लिये कुछ और सुनने की आवश्यकता नहीं रहती तथा पिछले सुने हुए सब सिद्धान्तों की अपेक्षा अपने गुरु के उपदेशों को वह अब श्रेयस्कर समझने लगता है। ऐसी दशा में तुरन्त ही उसकी बुद्धि अपने गुरु का आदेश पालन करने में स्थिर हो जाती है। यदि अर्जुन अपने गुरु श्रीकृष्ण भगवान् की शरण में जाता है तो उसकी बुद्धि को भी स्थिर हो जाना चाहिये और अपने गुरु के उपदेशानुसार आचरण करना चाहिये।

अतः भगवान्, अर्जुन की स्थिति की परीक्षार्थ कहते हैं कि 'हे अर्जुन! जब तेरी बुद्धि मोह रूपी दलदल के बिलकुल पार हो

जावेगी तब तू आगे सुनने के योग्य और जो पीछे सुन चुका है उससे वैराग्य को प्राप्त हो जायेगा। और जब तेरी नाना प्रकार के सिद्धान्तों से विचलित हुई बुद्धि आत्मस्वरूप में स्थिर होकर अचल हो जावेगी तब तू 'समत्वयोग' को प्राप्त होकर स्वधर्मपालन करने लगेगा। वस्तुतः ऐसे ही व्यक्ति को जिसकी बुद्धि स्थिर है 'स्थित प्रज्ञ' कहते हैं।'

जब भगवान् ने उसकी मानसिक विचारधारा के अनुसार ही उसका समाधान करते हुये उपदेश दिया तो अर्जुन का मौन भंग हो गया और 'स्थित-प्रज्ञ' से सम्बन्धित जानकारी पूरी कर लेने हेतु अब वह भगवान् से विनय-पूर्वक निवेदन करता है कि 'हे भगवान् ! यद्यपि मैंने आपका उपदेश तो ध्यान-पूर्वक सुना और वास्तव में वह बहुत ही सुन्दर भी था तथापि मैं उसे भली प्रकार हृदयंगम नहीं कर सका हूँ। क्योंकि जब मैं उसकी व्यावहारिकता पर विचार करता हूँ तो बिना कर्मफल में आसक्त हुए समत्वबुद्धि से समाधि में स्थित होकर कर्तव्यपालन करने में अत्यन्त कठिनाई अनुभव करता हूँ। अतः आप कृपाकर मुझे यह बतलाने का अनुग्रह कीजिये कि (१) समाधि में स्थित अथवा तटस्थ रहकर कर्तव्यपालन करने वाले व्यक्ति के क्या-क्या लक्षण हैं? (२) वह कैसे बोलता है अर्थात् यदि वह तटस्थ है तो फिर उसे डटकर कर्म करने में प्रवृत्त नहीं होना चाहिये, ऐसा मेरी तुच्छ बुद्धि में आता है, किन्तु आपके उपदेश से यह ध्वनि निकलती है कि वह कर्म भी करता है, यदि वस्तुतः आपको भी ऐसा ही मान्य है तो हे भगवान्! कृपया बताइये कि स्थिर-बुद्धि पुरुष कैसे कर्म करता है? क्योंकि कर्म करने में राग-द्वेष का आना तो पूर्णतः स्वाभाविक ही है फिर वह राग-द्वेष रहित रहकर कैसे कार्य-कलाप करता है? (३) फिर ऐसी परिस्थिति में जब इन्द्रियों के वेग उत्पन्न होंगे तो वह कैसे बैठता है अर्थात् उनके वेग को कैसे शान्त कर देता है अथवा यों कहिये कि वह स्वयं को इन्द्रियों के वेग से किस

9

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।

तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥५२॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।

समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥५३॥

प्रकार अप्रभावित रखता है? (४) और वह कैसे चलता है अर्थात् समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ की इन्द्रियाँ यदि शान्त रहती हैं तो फिर उससे कर्म का आचरण ही कैसे होता है और वह किस रीति से उत्तेजित न होते हुए भी शान्त इन्द्रियों को चलाते हुए स्वयं कर्मरत रहता है? संक्षेप में भाव यह है कि समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ पुरुष के लक्षण क्या हैं? वह कैसे बोलता है कैसे बैठता है, और कैसे चलता है?

अर्जुन के इन प्रश्नों से भगवान् श्रीकृष्ण यह जान गये कि अभी तक अर्जुन ने मेरे उपदेश के भाव को ही नहीं समझा है। वह समाधि अथवा तटस्थ अवस्था को हाथ पैर न हिलाना और आँख बन्द कर एक स्थान पर बैठे रहना समझ रहा है और 'इस प्रकार बैठे रहकर कोई किसी काम को कैसे कर सकता है?' इस धारणा के चक्कर में पड़ गया है। अतः भगवान् पुनः अपने पूर्व दिये उपदेश की ही अधिक सरल रीति से पुनरावृत्ति करते हैं और अर्जुन के प्रश्न का उत्तर देते हुए सर्वप्रथम स्थिर-बुद्धि (स्थितप्रज्ञ) के लक्षण बताते हैं।

स्थिर-बुद्धि व्यक्ति का लक्षण यह है कि वह अपने मन में उत्पन्न समस्त कामनाओं को त्याग देता है अर्थात् उन्हें अपनी नहीं मानता बल्कि इस यथार्थ तथ्य को समझ लेता है कि समस्त कामनाओं के स्फुरण उसके नहीं हैं, गुणों के हैं। क्योंकि व्यक्ति के बाहर ईथर (आकाश द्रव) में

स्थिर - बुद्धि के लक्षण

तीनों गुणों की अनन्त विचार तरंगें, जिन्हें संकल्प या कामना भी कह सकते हैं, मिश्रित हैं और व्यक्ति के मस्तिष्क के भीतर भी सूक्ष्म रूप से तीनों गुणों के संस्मरण विद्यमान रहते हैं। व्यक्ति के बाह्य वातावरण में चहुँओर विद्यमान त्रिगुणात्मक विचार तरंगे व्यक्ति के मस्तिष्क के भीतर स्थित गुणों के संस्मरणों को प्रेरित करती हैं। उनकी प्रेरणा से ही मस्तिष्क के भीतर के कोषों में अंकित संस्मरण के स्फुरण, संकल्प या कामना के रूप में इन्द्रियों द्वारा व्यक्त होने लगते हैं। इसी को

‘गुण-गुणों में वरत रहे हैं’ कहा जाता है। अतः समस्त कामनाएँ स्पष्ट हैं कि गुणों से ही सम्बन्ध रखती हैं, व्यक्ति से नहीं।

इस प्रकार जो व्यक्ति कामनाओं में से कर्तव्यभावना को हटा लेता है और ऐसा करने से उसको आत्मसंतुष्टि अर्थात् सन्तोष होता है उस व्यक्ति की बुद्धि स्थिर कही जाती है। इसी कारण कामनाओं के त्याग की योग्यता प्राप्त व्यक्ति को स्थिरबुद्धिवाला व्यक्ति कहते हैं। हे अर्जुन, मैं अब तुम्हें स्थिरबुद्धि पुरुष के बोलने की विधि बतलाता हूँ।

प्रायः सभी सामान्य व्यक्ति आसक्ति से कार्य किया करते हैं। अतः काम के किञ्चित-मात्र भी विपरीत होने पर उनके मस्तिष्क का सन्तुलन विचलित हो जाता है और वे क्रोधित हो जाते हैं। साथ

स्थिर - बुद्धि वाले व्यक्ति
के बोलने की विधि

ही कहीं काम बिगड़ न जावे इसका भय भी उन्हें लगा रहता है। इस प्रकार वे व्यक्ति राग, भय और क्रोध के कारण खिन्न चित्त रहते हैं

और अनुकूलस्थितिजन्य सुख के इच्छुक रहते हैं। किन्तु स्थिर-बुद्धि व्यक्ति कर्तव्य-पालन तो डटकर करता है पर फल की इच्छा नहीं करता। उसे पूर्ण विश्वास होता है कि प्रत्येक कार्य का परिणाम (फल) प्राप्त होना अनिवार्य है और वह अनुकूल वातावरण और परिपक्व अवस्था प्राप्त होने पर ही प्राप्त होता है। अतः उसे फल सम्बन्धी आसक्ति न होने के कारण उसके चित्त में किसी प्रकार का उद्वेग, स्पृहा, भय या क्रोध नहीं होता। साथ ही जब वह वार्तालाप करता है तो उसकी वाणी, उद्वेग, इच्छा, भय या क्रोध से रहित होती है अर्थात् स्वाभाविक स्थिति में प्रसन्नवदन रहकर वार्तालाप करता है। भाव यह है कि जिस व्यक्ति का मन (परस्पर वार्तालाप करते समय) दुःखों की प्राप्ति में उद्वेग रहित है तथा जो सुखों की प्राप्ति की स्पृहा (इच्छा) से अपने को सदैव दूर रखता है, साथ ही राग, भय और क्रोध जिसके नष्ट हो गये हैं ऐसे व्यक्ति को मुनि कहते हैं और वही

स्थिर-बुद्धि कहा जाता है।^१

यदि ऐसे मुनि के द्वारा कोई अच्छा कार्य हो रहा है तो उसकी यह धारणा नहीं होती कि दूसरे व्यक्तियों को उसके कार्य की सराहना करनी चाहिए। यदि उस व्यक्ति की अपेक्षा कोई अन्य व्यक्ति अधिक अच्छा कार्य कर दिखाता है, अथवा किसी दूसरे व्यक्ति के परिश्रम से कार्य के न होने पर भी यदि लोग उसके स्थान पर दूसरे व्यक्ति को ही श्रेय देते हैं तो भी उसे दूसरे व्यक्ति से द्वेष नहीं होता। उसका ध्येय तो यही होता है कि सावधानी से तथा पूर्ण मनोयोग पूर्वक ही बुद्धि का प्रयोग करते हुए कर्तव्य-पालन करते रहना चाहिए। भाव यह है कि जो व्यक्ति वार्तालाप करते समय सर्वत्र स्नेह (आसक्ति) रहित होकर, जो कुछ भी शुभ अथवा अशुभ परिस्थिति हो, उसमें न तो (शुभ में) हर्ष करता है और न (अशुभ में) द्वेष करता है उसकी बुद्धि स्थिर कही जाती है। अस्तु, उपरोक्त रीति से स्थिर-बुद्धि व्यक्ति वार्तालाप करता है।^२ इसके बाद भगवान् यह बतलाते हैं कि स्थिर-बुद्धि व्यक्ति बैठता कैसे है?

जिस प्रकार कछुए को चलते समय कोई छेड़ दे तो वह तुरन्त ही अपने अंगों को संकुचित कर लेता है उसी प्रकार जिस व्यक्ति की बुद्धि स्थिर होती है वह जब काम करता है तब काम करते-करते फल की

स्थिर - बुद्धि वाले व्यक्ति
के बैठने की विधि

इच्छा उसे छेड़ देती है, अर्थात् उत्पन्न होती है तब, वह तुरन्त ही इन्द्रियों में से अपनत्व की भावना को हटा लेता है और सोचने लगता है कि

यह कार्य तो त्रिगुणात्मक माया का है। वह स्वयं तो शुद्धआत्मस्वरूप है तथा माया के कार्य का दृष्टा मात्र है। इस प्रकार इन्द्रियों के विषय से

१

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥५६॥

२

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥५७॥

वह मुक्त भी हो जाता है और इन्द्रियों द्वारा काम करने में भी उसे बाधा नहीं आती।'

यहाँ यह भ्रम भी दूर हो जाना चाहिए कि 'स्थित-प्रज्ञ इन्द्रियों के विषय से मुक्त हो जाता है' का अर्थ यह नहीं है कि उसकी इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं और वे काम करने के योग्य नहीं रहतीं जैसे कि रोगी आदमी या उपवास करने वाले व्यक्ति की इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं और काम के योग्य नहीं रहतीं हैं। वस्तुतः रोगी या उपवास करने वाले की इन्द्रियाँ तो खाद्य पदार्थ के अभाव में अथवा अन्य किसी विकार के कारण अशक्त, निर्बल तथा काम करने के अयोग्य हो जाती हैं, परन्तु स्थिर-बुद्धि व्यक्ति की इन्द्रियाँ स्वस्थ-पुरुष की भाँति ही कार्य करती हैं, केवल स्थिर-बुद्धि व्यक्ति इन्द्रियों को अपनी नहीं कहता अर्थात् वह यह मानता है कि इन्द्रियों का सम्बन्ध त्रिगुणात्मक माया से है उससे नहीं, वह तो दृष्टा मात्र है। इस प्रकार दृष्टा बनने से अर्थात् आत्म-स्वरूप में स्थित होने से उसकी आसक्ति इन्द्रियों से हट जाती है। अतः कर्तव्यकर्म का पालन तो उसकी इन्द्रियों से होता रहता है किन्तु वह स्वयं उनके वेग को अपना वेग नहीं मानता। परिणामस्वरूप वह उनमें बहता नहीं है अर्थात् वह स्थिर रहता है।^२ निस्संदेह, इन्द्रियों का वेग बड़ा बलवान होता है। विवेकी पुरुष के मन को भी, यत्न करने पर भी, यह जब चलायमान कर देता है फिर साधारण पुरुष की तो बात ही क्या है।^३ अतः इन सब इन्द्रियों की क्रिया को त्रिगुणात्मक माया की समझकर और इनके वेग को अपना वेग न मानकर अर्थात् उसमें आसक्ति न होकर तटस्थ रहते हुए उनसे काम लेना चाहिए। जो व्यक्ति इस विधि से मेरे परायण होकर इन्द्रियों के वेग में न बहते

- १ यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥५८॥
- २ विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्टा निवर्तते॥५९॥
- ३ यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥६०॥

हुए उनसे उचित आवश्यकतानुसार भरपूर काम लेता है वही स्थिर बुद्धि-व्यक्ति कहा जाता है।^१

यह तो बुद्धिमान व्यक्तियों का भी अनुभूत विषय है कि जब हम किसी प्राप्त करने योग्य पद या वस्तु के विषय में सोचने लगते हैं तो हम उसी विचारधारा में ओत-प्रोत हो जाते हैं। इस प्रकार उस पद की प्राप्ति में आसक्ति हो जाती है, और जब उस वस्तु या पद की प्राप्ति में बाधा उपस्थित होती दिखती है तब जिसके द्वारा विघ्न प्रस्तुत किया जाता है उसके प्रति हम क्रोध करने लगते हैं। क्रोध के आते ही उसके प्रभाव से हमारी बुद्धि भ्रमात्मक अर्थात् चञ्चल हो जाती है। बुद्धि के स्थिर न रहने पर हमको यह स्मरण नहीं रहता कि हम निष्काम-कर्म का अभ्यास कर रहे हैं। परिणाम-स्वरूप ज्ञान आने से पूर्व जैसे इन्द्रियों की क्रियाओं में हम आसक्त हो जाया करते थे, वैसे ही पुनः आसक्त हो जाते हैं। इस प्रकार समझे हुए ज्ञान का प्रभाव चला जाता है और हम कर्तव्य-पालन के पथ से भ्रष्ट हो जाते हैं। अतः स्थिर बुद्धिव्यक्ति कर्तव्य-पालन में रत रहता है और उसके फल (परिणाम) के विषय में किञ्चित भी विचार नहीं करता।^२ वस्तुतः वह तो स्थिरतापूर्वक बैठा रहता है। अतः इस रीति से कर्म करने की विधि को स्थिरबुद्धिव्यक्ति के बैठने की विधि कहते हैं। अब इसी प्रसंग में स्थिर-बुद्धि वाले व्यक्ति के चलने की विधि भी तुझे जान लेनी चाहिए। अतः सुनः -

स्थिर बुद्धि वाले
व्यक्ति के चलने
की विधि

स्थिर-बुद्धि वाले व्यक्ति के चलने का तात्पर्य यह है कि वह व्यक्ति जिस की बुद्धि स्थिर है, अपना काम करने के लिए कैसे जाता है और काम पूरा करके किस प्रकार वापिस आता है अर्थात् अपना कर्तव्य कैसे पालन करता है और कैसे उसे समाप्त करता है। वैसे तो अन्य व्यक्ति जैसे अपना कर्तव्य समाप्त करते हैं वैसे ही स्थिर-बुद्धि वाला व्यक्ति भी करता है

१

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।

वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥६१॥

२

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।

सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥६२॥

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।

स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥६३॥

लेकिन अन्तर केवल इतना ही है कि स्थिर-बुद्धि वाले व्यक्ति की मानसिक विचारधारा साधारण व्यक्ति की विचारधारा से भिन्न होती है, उसकी बुद्धि में कर्तापन नहीं होता। उसकी दृष्टि में यह स्पष्ट होता है कि कार्य की जड़ तो संकल्प होते हैं और वे संकल्प तब ही उठते हैं जबकि उन्हीं संकल्पों जैसे बाहरी वायु में व्याप्त अन्य संकल्प उनसे टकराते हैं। जैसे कि एक पैदल यात्री सड़क की किसी पुलिया पर बैठा है। उसकी वेशभूषा से वह एक सुसंस्कृत व्यक्ति प्रतीत होता है। पैसे समाप्त हो जाने के कारण वह दिन भर का भूखा है। उस मार्ग से कई व्यक्ति आ जा रहे हैं। स्वाभिमानी होने के कारण वह किसी से भी याचना नहीं करता है। एक उदार हृदय व्यक्ति भी उसी मार्ग से निकलता है और उस पथिक को देखते हुए आगे बढ़ जाता है। लेकिन थोड़ी दूर तक जाने के बाद वह पुनः वापिस लौटता है और इस बैठे हुए आदमी से पूछताछ कर उसकी स्थिति का पता लगाता है। इसके बाद उसे समीप की ही हलवाई की दुकान पर ले जाकर भोजन करा देता है।

अब इस घटना पर विचार कीजिए और सोचिये कि अन्य व्यक्तियों ने उस पथिक से पूछताछ क्यों नहीं की? इसी उदार व्यक्ति ने क्यों पूछा? सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर हमें इसका सही उत्तर मिल सकता है। उस भूखे व्यक्ति की क्षुधा-निवृत्ति की विचारधारा की तरंगें उसके आस-पास के क्षेत्र के वायुमण्डल में व्याप्त थीं और जब उदार-हृदय व्यक्ति उधर से निकला तो उसकी श्वास के साथ उस पथिक की विचारधारा की तरंगें भी उसके मस्तिष्क में विद्यमान सजातीय संस्मरणों की तरंगों से टकरा गईं। फिर चूँकि उदार व्यक्ति ने अपने जीवन में भूखों को भोजन अनेक बार दिया है, अतः उसके मस्तिष्क के कोषों में वैसे संस्मरण (स्मृति-चिन्ह) पूर्व से ही विद्यमान थे। अतएव एक से विचारों का परस्पर मिलन सहज ही हो गया। जैसे ही भूखों को भोजन देने के उसके संस्मरणों की तरंगें अन्य संस्मरणों की तरंगों को दबाकर ऊपर आईं वैसे ही उदारहृदयव्यक्ति को स्फुरण हुआ कि पुलिया पर बैठा व्यक्ति जिसे वह पीछे छोड़ आया है, सम्भव है भूखा हो। अस्तु, उसे भोजन कराया जाना चाहिए। इस प्रकार उस पथिक की क्षुधानिवृत्ति सम्बन्धी विचारधारा ने उदारहृदयव्यक्ति की क्षुधानिवृत्ति कराने वाली विचारधारा को उभारा और पथिक की क्षुधा-निवृत्ति की क्रिया पूर्ण हो गई।

इस प्रकार इस कार्य-व्यापार में प्रत्यक्ष तो दो व्यक्ति ही कर्म करते हुए दिखाई पड़ते हैं - एक भोजन करने वाला और दूसरा भोजन कराने वाला। लेकिन यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो स्पष्ट है कि एक व्यक्ति के संकल्पों ने ही दूसरे व्यक्ति के संकल्पों द्वारा कार्य पूर्ण कराया है। यदि उस सुसंस्कृत व्यक्ति को और उस उदार हृदय व्यक्ति को इस रहस्य का पता है तो उन दोनों में से कोई भी स्वयं को कर्त्ता नहीं मानेगा और भोजन करने के कार्य को तथा भोजन कराने के कार्य को उनमें से प्रत्येक एक दूसरे के संकल्पों का ही कार्य-व्यापार समझेगा। वस्तुतः यदि इस विचारधारा से काम किया जावे तो काम में अपनापन नहीं रहता और अपनापन नहीं रहने पर राग-द्वेष नहीं रहता है।

अस्तु, भगवान् कहते हैं कि वह व्यक्ति जो राग-द्वेष से रहित है और जो अपने वश में मन सहित इन्द्रियों को रखकर उनके द्वारा विषयों को भोगता है उस व्यक्ति के अन्तःकरण पर विषयों का प्रभाव नहीं पड़ता। उसका अन्तःकरण निर्मलता को प्राप्त हो जाता है अर्थात् वह कर्म करते हुए भी शान्ति अनुभव करता है।^१

इस प्रकार निर्मल चित्त से जो व्यक्ति कार्य करने जाता है और कार्य को पूरा करता है अर्थात् स्वधर्म-रूप-कर्त्तव्य-पालन को सुसंपादित करता है उसके इस प्रकार के आचरण को स्थिर बुद्धि व्यक्ति का चलना कहते हैं।

वस्तुतः चित्त की फल में अनासक्ति ही चित्त की निर्मलता है। निर्मल चित्त होते ही कर्त्तापन नहीं रहता और कर्त्तापन के अभाव के कारण कर्म रूपी बीज जम नहीं पाते। अतः जब बीज ही नहीं जमा तो सुख-दुःख रूपी उसके फल आवेंगे ही कहाँ से! इस प्रकार सुख-दुःख का अभाव शांति का कारण है और शांत चित्त होते ही व्यक्ति की बुद्धि तत्काल स्थिर हो जाती है।^२

१ रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥६४॥

२ प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥६५॥

जिस व्यक्ति ने इस प्रकार के ज्ञान से युक्त अपनी बुद्धि नहीं बनाई है उसको अपने मन को वश में करने की वह भावना ही नहीं उठ सकती जिससे ज्ञान प्राप्त होता है। जब ज्ञानार्जन की भावना ही नहीं है तो फिर शांति कैसे प्राप्त हो सकती है और बिना शांति के कोई भी स्थायी सुख नहीं पा सकता।^१ अतः जिस प्रकार प्रबल वायु चलकर भली-भाँति चलती हुई नाव को जलमग्न कर देती है, उसी प्रकार स्थिर-बुद्धि के कार्य में लगी हुई इन्द्रियों पर यदि कहीं फलासक्ति का प्रबल भाव आ जाता है तो वह भी बुद्धि की स्थिरता को हर लेता है। बुद्धि की स्थिरता फलासक्त व्यक्ति को बेचैन कर देती है। अतः जो व्यक्ति इन्द्रियों द्वारा कार्य करते हुए उनके यथार्थ रूप से परिचित है उसकी बुद्धि सदैव स्थिर बनी रहती है।^२

अब ज्ञानी व अज्ञानी कब सोते हैं व कब जागते हैं, इसमें क्या रहस्य है, यह भी कृपा कर भगवान्, अर्जुन को बतलाते हैं।

अज्ञानियों की बुद्धि को फलासक्त होने से शांति का दर्शन नहीं होता, अतः फलासक्ति को

ज्ञानी एवं अज्ञानी के सोने
व जागने का रहस्य

अज्ञान अन्धकार की रात्रि कहते हैं। चूँकि निष्कामकर्म करने वाले ज्ञानी को ज्ञान रूपी शांति का

दर्शन होता है अतः निष्काम बुद्धि को दिन कहते हैं। इसीलिए मननशील-स्थिर-बुद्धि वाला व्यक्ति फलासक्ति से युक्त बुद्धि को रात्रि मानता है और उस रात्रि में सोता है अर्थात् फल की आसक्ति से युक्त बुद्धि से कार्य नहीं करता। वह तो निष्कामकर्म-बुद्धि को ही ज्ञान रूपी दिन मानता है तथा उसी ज्ञान के प्रकाश में

-
१. नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥६६॥
 २. इन्द्रियाणां हि चरतां यन्नोऽनु-विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥६७॥
तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥६८॥

जागता रहता है अर्थात् निष्कामबुद्धि से कार्य करता रहता है। इसके विपरीत अज्ञानी फलासक्ति से युक्त बुद्धि से कार्य करते रहते हैं अर्थात् उस रात्रि में जागते हैं जिस रात्रि में स्थिरबुद्धिव्यक्ति सोता है। चूँकि अज्ञानी निष्कामकर्म करने की बुद्धि के ज्ञान के प्रकाश से अनभिज्ञ होते हैं अतः उस प्रकाश को रात्रि समझकर उसमें वे सोते हैं जबकि स्थिरबुद्धिव्यक्ति उसे दिन समझता है और सोने के स्थान पर जागता है अर्थात् कर्तव्यपालन करता है।

अतः भगवान् कहते हैं कि जो समस्त अज्ञानीजीवों की दृष्टि में उनके सोने के लिए रात्रि है वही आत्म-दृष्टा संयमी व्यक्ति के जागने के लिए दिन है। और इसी प्रकार जो सारे संसार के अज्ञानीजीवों का दिन है और जिसमें वे जागते हैं वही आत्म-दृष्टा संयमी व्यक्ति की दृष्टि में उसके सोने के लिए रात्रि है।^१

वस्तुतः जिस प्रकार सब ओर से परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र में छोटी-छोटी अनेक नदियों का जल समा जाता है और समुद्र की चलायमान नहीं कर पाता उसी प्रकार स्थिर-बुद्धि वाले व्यक्ति की बुद्धि में सम्पूर्ण कामनाएँ समा जाती हैं और उन कामनाओं का उस अनासक्त व्यक्ति पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता अर्थात् उसे वे उसके निश्चय से नहीं डिगा पातीं। इस प्रकार केवल स्थिर-बुद्धि वाला व्यक्ति ही शांति को प्राप्त होता है किन्तु यह शांति कामनाओं के फलों में आसक्त व्यक्ति को प्राप्त नहीं होती।^२

अतः जो पुरुष अपने मन में उत्पन्न हुई सम्पूर्ण कामनाओं को त्रिगुणात्मक माया का कार्य समझता है और उसमें अपनापन नहीं लाता है तथा इस अनासक्ति के भाव की योग्यता आने पर भी जिसे इसका न तो अहंकार ही उत्पन्न होता है और न यह सुनने की इच्छा होती है कि लोग उसे ज्ञानी या महात्मा कहें, उसे ही वास्तविक स्थायी शान्ति (ब्राह्मी-स्थिति) प्राप्त होती है।^३

इस प्रकार जीवात्मा स्थूल व सूक्ष्म शरीर में अनासक्त होकर कर्तव्य-पालन करता रहता है। उसे यह ज्ञान होता है कि कर्म का

१. या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥६६॥
२. आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्क्रमा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमान्नोति न कामकामी॥७०॥
३. विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥७१॥

फल का निश्चित है। फल प्राप्ति में यदि विलम्ब हो रहा है तो उसके कारण को भी वह जानता है कि या तो अभी उसके कर्म की परिपक्व अवस्था नहीं आई है अथवा उसके कर्म को सफल होने के लिए अभी उपयुक्त वायुमण्डल का निर्माण नहीं हुआ है अतः कर्म सफल नहीं हुआ है। इसके अतिरिक्त उसे यह भी ज्ञान रहता है कि समस्त कार्य जिसे

ब्राह्मी स्थिति तथा
मोक्ष का रहस्य

स्थूलशरीर व सूक्ष्मशरीर या त्रिगुणात्मक माया कहते हैं, उसी के क्रिया कलाप हैं, अतः कर्म का फल भी उसी क्रिया के अन्तर्गत है। साथ ही वह यह भी जानता

है कि आत्मा निर्लिप्त एवं दृष्टा मात्र है। तब ज्योंही कर्म फल की भावना उसके मन में आती है त्योंही वह जीवात्मा अपने को आत्मा के स्वरूप में स्थित कर देता है। इस प्रकार वह स्वयं को कर्त्ता न बनाते हुए अपने को दृष्टा बना लेने की योग्यता रखता है। ऐसी योग्यता रखने वाले कर्त्तव्यरत व्यक्ति की स्थिति को ब्राह्मी स्थिति कहते हैं। इस स्थिति में उसे किसी भी प्रकार का भ्रम नहीं रहता अर्थात् वह मोहित नहीं होता। इसलिए जब शरीर के बदलने का समय आता है तब भी वह व्यक्ति उसी स्थिति में रहता है। परिणामस्वरूप इस स्थिति में रहने से उसका सुख-दुःख से छुटकारा हो जाता है। अतः जब वह पुनः जन्म लेता है तो गुणातीत-अवतारों की भाँति आचरण करता है, क्योंकि गुणातीत होने का संस्कार उसके पूर्वजन्म में ही उसमें पड़ चुका होता है। इस प्रकार संसार में आकर वह अपने आचरण द्वारा जनसाधारण को आकर्षित करता है और उनको अनुकरण करने की प्रेरणा भी देता है।

अतः भगवान् कहते हैं कि 'हे अर्जुन, यह ब्राह्मी स्थिति है। इसको पाकर मानव फिर मोह में नहीं फँसता तथा मृत्यु के समय में भी इस स्थिति में स्थित होकर वह शुद्धसच्चिदानन्दब्रह्म के परम सुख को अर्थात् पूर्ण शान्ति को प्राप्त हो जाता है।'

ॐ शम्

ॐ

तृतीय अध्याय

कर्म – योग

अर्थात्

स्वधर्म (कर्त्तव्य) पालन
करने का प्रकरण ।

कर्म - योग

“नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥८॥”

शास्त्र-विहित स्वधर्मपालन करना वास्तव में कर्त्तव्य है। कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना सर्वथा श्रेष्ठ एवं हितकर है। यदि कर्म करना बिल्कुल बन्द कर दिया जाय तो शरीर का निर्वाह करना भी असम्भव हो जावेगा। अतः तू नियत कर्त्तव्य कर्म कर ॥८॥

ਸਿੱਖ - ਪੰਥ

ਸਿੱਖਤਾ ਕਾ ਪੰਥ ਪੰਥ ਪੰਥ ਪੰਥ
ਸਿੱਖਤਾ ਕਾ ਪੰਥ ਪੰਥ ਪੰਥ ਪੰਥ

ਸਿੱਖਤਾ ਕਾ ਪੰਥ ਪੰਥ ਪੰਥ ਪੰਥ
ਸਿੱਖਤਾ ਕਾ ਪੰਥ ਪੰਥ ਪੰਥ ਪੰਥ
ਸਿੱਖਤਾ ਕਾ ਪੰਥ ਪੰਥ ਪੰਥ ਪੰਥ
ਸਿੱਖਤਾ ਕਾ ਪੰਥ ਪੰਥ ਪੰਥ ਪੰਥ

‘श्रीमद्भगवद्गीता’ के भाव को दैनिक मनन करने वाले किसी व्यक्ति से यह कहा जाये कि ‘श्रीमद्भगवद्गीता’ के द्वितीय अध्याय में श्रीकृष्ण भगवान् के उपदेश अद्वितीय हैं तो उस व्यक्ति के स्मृति पटल पर श्रीकृष्ण भगवान् का चित्र अनायास ही आ जायगा। उसे उपदेश श्रवण करता हुआ अर्जुन भी दिखेगा। इतना ही नहीं वरन् उसे श्रीकृष्ण भगवान् के अन्य उपदेशों के प्रसंग भी स्मरण हो आवेंगे और वह उन प्रसंगों की सराहना भी करने लगे तो आश्चर्य नहीं। वैसे ही श्रीकृष्ण भगवान् द्वारा जीवन-मुक्तस्थिति के उपदेश जब अर्जुन को स्मरण होने लगते हैं तब उसे यह प्रसंग भी स्मरण होने लगा कि उसने भगवान् से ज्ञान और कर्म के सम्बन्ध में भी एक प्रश्न किया था और भगवान् ने उसका बड़ा ही सुन्दर उत्तर दिया था। अब पाठक यह जानने को उत्सुक होंगे कि अर्जुन का वह प्रश्न विस्तृत रूप में क्या था और भगवान् ने उत्तर देकर कैसे उसका समाधान किया। अतः अब वेदव्यास जी पाठकों की जिज्ञासा तृप्त करने के हेतु इस तृतीय अध्याय में अर्जुन का प्रश्न तथा भगवान् के द्वारा दिये उत्तर के प्रसंगों को विशद रूप से तो प्रस्तुत कर ही रहे हैं साथ ही साथ भगवान् द्वारा सुझाई गई विधि का भी वे इसी अध्याय में वर्णन करने की कृपा करते हैं कि स्थूलशरीर को साधन बनाकर जीवात्मा (व्यक्ति) जब कार्य करे तो उस समय वह किस विधि से आचरण करे कि जिससे उस काम के फल की प्राप्ति के समय सुगमता से वह अपने आत्मस्वरूप में स्थित हो दुःख सुख से मुक्त हो सके।

श्रीकृष्ण भगवान् द्वारा जीवन-मुक्त-स्थिति पर दिया गया रोचक प्रवचन श्रवण कर अर्जुन ने उस पर मनन किया। तदुपरान्त प्रसंगानुसार वह प्रश्न उपस्थित करता है कि ‘भगवन्, यह तो आपको मान्य है ही कि जब मानव दुःख-सुख से ऊपर उठकर, शांत, स्थितप्रज्ञ ज्ञानी बन जाता है तब वह स्थायी शांति का अनुभव करता है। कर्म का बीज बोने से ही कर्म का वृक्ष बनता है और तब उसमें

फल आते हैं। ये ही फल अनुकूल स्थिति में सुख तथा विपरीत स्थिति में दुःख के कारण माने गये हैं। यदि जीवात्मा कर्मों के फल आने के समय आत्मस्वरूप की स्थिति में पहुंच जावे और अपने को कर्ता न मानकर त्रिगुणात्मक माया को कर्ता बना ले तो वह फल रूप दुःख-सुख से मुक्त हो सकता है, इसमें तो सन्देह नहीं, परन्तु मेरी तुच्छ बुद्धि में यह आता है कि पहले कर्म के बीज बोएँ और वृक्ष को सींचकर उसे फलयुक्त बनावें और तब ज्ञानी बनकर फलों से विरक्त हों इसकी अपेक्षा यदि कर्मों के बीज ही न बोए जावें तो फिर फल आवेंगे ही कहाँ से ! इस स्थिति में स्थित-प्रज्ञ को शांति सदैव ही रह सकती है। न होगा बांस न बजेगी बांसुरी। कीचड़ में पहले हाथ डालें और फिर धोकर साफ करें, इससे तो कीचड़ में हाथ ही नहीं डालना उत्तम है। अस्तु, कर्म का बीज ही नहीं बोना चाहिये। अतः आप अपना तात्पर्य पुनः स्पष्ट करने की कृपा कीजिए कि जब कर्म न करने से स्थायी शांति का आना निश्चित है तो फिर कर्म क्यों किया जावे? क्योंकि कर्म करने की स्थिति में यदि फल आने के समय आत्म-स्वरूप में व्यक्ति स्थित हो जाता है तब तो उसको शांति प्राप्त हो सकती है और कहीं वह चूक गया तो फिर अशांति का आना स्वाभाविक ही है। इस प्रकार कर्म करने में स्थायी शांति द्विविधाजनक है। अतः आपको यह द्विविधाजनक स्थिति की अपेक्षा कर्म ही न किया जाय, यही मान्य है या फिर इसमें भी कोई रहस्य है। यदि कुछ रहस्य हो-तो उसे स्पष्ट करने की कृपा करें। हे जनार्दन, यदि आपकी दृष्टि में कर्मों की अपेक्षा समत्वबुद्धि से स्थित-प्रज्ञ होने का ज्ञान श्रेष्ठ है तो फिर हे केशव, मुझे भयंकर युद्ध कर्म में प्रवृत्त होने का क्यों आदेश देते हैं? आपके मिले हुए से (अस्पष्ट) वचन मेरी बुद्धि में भ्रम उत्पन्न करते हैं। अतः उस एक बात को ही निश्चय करके कहिये जिसमें मेरा कल्याण हो।'

-
9. अर्जुन उवाच - ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
 तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥१॥
 व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
 तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥२॥

अर्जुन के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन, तूने जो मेरा सांख्यशास्त्र पर प्रवचन सुना था उसके भाव को तू पूर्णतया ग्रहण नहीं कर सका है। यही कारण है कि तूने ऐसा प्रश्न किया है। वस्तुतः सृष्टि रचना का रहस्य समझना साधारण बात नहीं है। किन्तु, जब यह रहस्य ठीक-ठीक समझ में आ जाता है तब वह ज्ञान फिर

ज्ञानी व निष्काम
कर्म योगी की
परिभाषा तथा उनके
कर्म करने की विधि

स्थायित्व ग्रहण करने लगता है। इतना तो तू समझता ही है कि स्थूलशरीर के अभाव में जब सूक्ष्मशरीर नया स्थूलशरीर धारण करता है तब उसके द्वारा अपनी इच्छाओं की पूर्ति करता है। चूँकि सृष्टि के समस्त मानवों का

ज्ञान एकसा तो होता नहीं अतः मानव की सृष्टि के रहस्य सम्बन्धी जानकारी शरीर छूटते समय जिसकी जितनी होती है उसी जानकारी को लिए हुए ही तो वह पुनर्जन्म प्राप्त करके अपने नवीन शरीर द्वारा अपना कार्य प्रारम्भ करता है। इस प्रकार से जब वह व्यक्ति अपने शरीर छूटने के समय तक स्थित-प्रज्ञ स्थिति को प्राप्त हो जाता है और साथ ही साथ स्थित-प्रज्ञ की विचारधाराएँ भी उसके संस्कारों में पूर्णरूपेण सम्मिलित हो जाती हैं तब वह नवीन शरीर धारण करते ही पूर्व संस्कारानुसार आचरण करता है अर्थात् वह बद्ध-जीव की भाँति तो कार्य करता है और फल प्राप्त करते समय उसकी मनोवृत्ति स्वाभाविक रूप से स्थितप्रज्ञ जैसी हो जाती है। इस हेतु उसे कुछ प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इस प्रकार वह कर्म को आरम्भ से अन्त तक करता हुआ भी कुछ नहीं करते हुए के समान ही रहता है। परन्तु, जिस व्यक्ति को शरीर छूटने तक भी स्थितप्रज्ञस्थिति में रहना नहीं आया है, और अभ्यास करते-करते ही उसका शरीर छूट जाता है तो वह व्यक्ति नवीन शरीर धारण करते ही पुनः स्थितप्रज्ञस्थिति में रहने का अभ्यास आरम्भ कर देता है। किन्तु, वह व्यक्ति जिसका जीवन सुख-दुःखमय बीत रहा है और जो स्थितप्रज्ञस्थिति से पूर्णतः अनभिज्ञ है ऐसे व्यक्ति का जब शरीर छूट जाता है तब वह नवीन शरीर धारण करते ही पूर्व जीवन की भाँति सुख-दुःखमय जीवन व्यतीत करने लगता है, और जब दुःखों से अत्यन्त ही ऊब जाता है तब फिर सत्संग करता है। इस प्रकार शनैःशनैः कर्म करते-करते फिर कहीं स्थित-प्रज्ञ होने की ओर अग्रसर

होता है। अतः इस संसार में तीन प्रकार के व्यक्ति दृष्टिगोचर होते हैं। एक तो वे जिन्हें स्थितप्रज्ञस्थिति का भान ही नहीं होता है। दूसरे वे जिन्हें भान तो है पर अभ्यास नहीं, ऐसे व्यक्तियों की उनके अभ्यासानुसार अनेक श्रेणियाँ भी हो सकती हैं, तीसरे वे जिन्हें स्थितप्रज्ञस्थिति का पूर्ण अभ्यास है। स्पष्टतः हे अर्जुन, तेरा प्रश्न अन्तिम दो तरह के व्यक्तियों से है अर्थात् उन व्यक्तियों के सम्बन्ध में जिनके स्थितप्रज्ञ होने के अभ्यास में अभी कमी है तथा उन व्यक्तियों के सम्बन्ध में जो पूर्ण अभ्यास कर स्थितप्रज्ञ हो चुके हैं। दूसरे शब्दों में एक तो पूर्णस्थितप्रज्ञ जो कर्त्तापन से रहित हैं और जिन्हें ज्ञानी कहते हैं और दूसरे पूर्णस्थितप्रज्ञस्थिति लाने के अभ्यासी जिन्हें निष्कामकर्मयोगी कहते हैं और जो ईश्वरार्पण बुद्धि से काम करते हैं तथा जिनमें कुछ कर्त्तापन रहता है। पूर्णस्थितप्रज्ञज्ञानी प्रत्येक कर्म करते समय स्पष्ट अनुभव करता है कि कर्म प्रकृति कर रही है, वह नहीं। परिणाम से भी वह निश्चिन्त है, क्योंकि वह जानता है कि कर्म-फल, परिपक्व अवस्था आने पर ही सिद्ध होता है। कर्म का फल आने पर उसे विशेष तैयारियाँ करके स्थित-प्रज्ञ स्थिति प्राप्त करनी नहीं होती। वह स्थितप्रज्ञस्थिति में सदैव रहता है अर्थात् वह स्वयं को कर्त्ता न मान कर प्रकृति को कर्त्ता मानता है। फलतः वह कर्मबन्धन में नहीं बँधता। परन्तु निष्काम कर्मयोगी को वैसा अभ्यास न होने से कर्म करते समय प्रयत्नपूर्वक समझना पड़ता है कि वह स्वधर्म (कर्त्तव्य) पालन ईश्वर के निमित्त कर रहा है और जब कर्म का फल आने को होता है तब उसे विशेष रूप से सावधान होकर ईश्वर के अर्पण करना पड़ता है और क्योंकि वह फल ईश्वर के अर्पण कर रहा है इस कारण उसको कर्त्तापन का भान हो जाता है। अतः तुझे स्पष्ट हो गया होगा कि कर्म तो ज्ञानी तथा निष्कामकर्मयोगी दोनों ही करते हैं। ज्ञानी को पूर्व अभ्यास के कारण कर्म करने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती, परन्तु निष्काम कर्मयोगी को सावधानी से बाधा दूर करनी होती है। इस प्रकार कार्य करते-करते वह भी समय आने पर ज्ञानी हो जाता है। एक बात यह भी है कि निष्कामकर्म करने के लिए भी कर्म करना आवश्यक है, क्योंकि मनुष्य यदि कर्म नहीं करता है तो बिना कर्म किए उसमें निष्काम कर्म करने की योग्यता आ ही कैसे सकती है। साथ ही यह तथ्य भी ध्यान में रहना चाहिए कि यदि कोई व्यक्ति

कर्मों को पूर्णतः त्यागना भी चाहे तो भी वह वैसा नहीं कर सकता। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के मन में संकल्प नित्य उठते ही रहते हैं। चूँकि संकल्प ही कर्म के प्रेरक हैं, अतः व्यक्ति विवश होकर कर्म करता है। इस प्रकार न तो कर्मों के अनारम्भ से कोई भी व्यक्ति निष्कामकर्मयोगी बन सकता है और न कर्मों को पूर्णतः त्यागा जा सकता है। ऐसी स्थिति में ज्ञानी, कर्मों को त्यागने से सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। वस्तुतः निष्कामकर्म-योगी और ज्ञानी दोनों को ही कर्म करना आवश्यक है। अतः भगवान् कहते हैं कि हे निष्पाप अर्जुन, इस लोक में आत्म-साक्षात्कार के लिए दो प्रकार की निष्ठा (साधन की परिपक्व अवस्था) मेरे द्वारा पहले कही गई है, ज्ञानियों की स्थित-प्रज्ञ की विधि से और कर्मयोगियों की निष्काम स्वधर्मपालन की रीति से। वस्तुतः न तो मनुष्य कर्मों को स्वरूप से ही त्यागकर सिद्धि को प्राप्त होता है और न वह बिना कर्म किये निष्कामकर्म करने की योग्यता को ही प्राप्त होता है।^१ अस्तु इस तथ्य को और अधिक स्पष्ट समझने के लिए यदि अब तू सृष्टि की रचना पर किंचित् भी ध्यान देगा तो तुझे स्पष्ट विदित होने लगेगा कि मानव बिना कर्म किये रह ही नहीं सकता। कर्म करना प्रकृति का अटल नियम है। हम प्रकृति के नियम बदलने में सर्वथा असमर्थ हैं। क्योंकि कोई भी व्यक्ति किसी काल में क्षण मात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता है। निस्सन्देह, समस्त प्राणी, प्रकृति अर्थात् त्रिगुणात्मक माया से ही उत्पन्न हुए तीनों गुणों द्वारा परवश हुए कर्म करते हैं।^२ वस्तुतः प्राणियों का जीवन श्वास पर ही निर्भर है और श्वास के साथ ही बाहरी वायु-मण्डल में व्याप्त तीनों गुणों की विचार तरंगों का मानवमस्तिष्क में विद्यमान कोषों में अंकित विचारों के स्मृति चिन्हों पर प्रभाव पड़ता है। अतः मानव को गुणों से बाध्य होकर कर्म करना पड़ता है। हाँ, यदि हम चाहें

-
१. श्री भगवानुवाच - लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानं कर्मयोगेन योगिनाम्॥३॥
न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥४॥
२. न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥५॥

तो इस प्रकार आचरण करना सीख सकते हैं कि कर्म करते हुए भी वे हम पर अपना कुछ भी प्रभाव न डाल सकें। जो अज्ञानी कर्मेन्द्रियों को हठपूर्वक भोगों से रोक लेता है, पर मन में उन इन्द्रियों के भोगों का चिन्तन करता रहता है, ऐसा व्यक्ति दम्भी कहलाता है। क्योंकि वह भीतर से तो भोग, भोग ही रहा है लेकिन ऊपर से वह प्रकट करता है कि वह कुछ भी नहीं करता।' किन्तु वह व्यक्ति श्रेष्ठ होता है जिसका मन अन्दर से तो इन्द्रियों के भोगों में आसक्त नहीं होता और ऊपर से कर्मेन्द्रियों द्वारा स्वधर्मपालन के लिए कर्म किया करता है। उदाहरणार्थ तीन व्यक्तियों को लें - जिनमें से एक तो ऐसा है जो कि लोगों को दिखाने के लिए विवाह नहीं करता और अपने को ब्रह्मचारी कहता है, पर अपने मन में नित्य वैवाहिक जीवन का चिन्तन करता रहता है। दूसरा व्यक्ति ऐसा है जो कि प्रत्यक्ष ही गृहस्थ बनकर आसक्ति से वैवाहिक जीवन व्यतीत करता है। और तीसरा व्यक्ति ऐसा है जो कि गृहस्थी में आसक्त भी नहीं है और कर्तव्य-पालन हेतु गृहस्थी का समस्त कार्य भी करता रहता है। इस प्रकार कर्म तो उपरोक्त तीनों ही व्यक्ति करते हैं, पर प्रथम जो दम्भी है वह दूसरों को धोखा देता है तथा स्वयं अपने मन को दुःखी रखता है, द्वितीय के बाहरी व भीतरी जीवन में तो धोखा नहीं है पर आसक्ति के कारण कर्म का जब इच्छित परिणाम नहीं निकलता तो दुःख से घिर जाता है, जबकि तृतीय बाहर से और भीतर से भी शुद्ध रहता है साथ ही दुःख-सुख से निर्द्वन्द्व रह कर प्रसन्नतापूर्वक जीवन व्यतीत करता है। अतः हे अर्जुन, जो व्यक्ति मन से इन्द्रियों को वश में करके आसक्ति-रहित होकर कर्मेन्द्रियों से स्वधर्मपालन के लिए निष्कामकर्मयोग का आचरण करता है वह श्रेष्ठ है।'

अस्तु, शास्त्र विहित स्वधर्मपालन करना वास्तव में कर्तव्य है। कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना सर्वथा श्रेष्ठ एवं हितकर है। यदि कर्म करना बिल्कुल बन्द कर दिया जाय तो शरीर का

-
१. कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥६॥
 २. यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥७॥

निर्वाह करना भी असम्भव हो जावेगा अतः तू नियत कर्म कर।' क्योंकि इस प्रकार कर्म करने में तो किंचित् भी भय नहीं है, यदि भय है तो केवल उसको आसक्तिपूर्वक करने में है। अतएव आसक्ति-रहित कर्म कैसे करते हैं इसकी विधि जानना अत्यावश्यक है।

प्रायः लोग ऐसा कहते हैं कि "बिना कर्त्तापन के लाये तो कोई कार्य होता ही नहीं, कर्त्तापन आते ही पुरुष कर्म के बन्धन में पड़ जाता है, और उसके फलस्वरूप दुःख-सुख में फँस जाता है। वस्तुतः लोगों को इस प्रचलित कथन में कुछ परिवर्तन करने की आवश्यकता है। परिवर्तन इतना किया जावे कि जीवात्मा स्वयं को कर्त्ता न समझकर त्रिगुणात्मक

आसक्तिरहित कर्म
करने की विधि

माया अर्थात् सत्त्वगुण (विष्णु तत्त्व) रजोगुण (ब्रह्मा तत्त्व) तमोगुण (रुद्र तत्त्व) के सम्मिलित रूप के प्रमुख पोषक तत्त्व विष्णुशक्ति को कर्त्ता समझे। इस प्रकार जीवात्मा विष्णु को

निमित्त बताकर कर्त्तव्य करे। इस रीति से काम तो हो जावेगा विष्णुशक्ति का और जीवात्मा बन जावेगा विष्णुशक्ति का काम करने वाला। इस युक्ति से कर्म का फल सीधा विष्णु प्राप्त करेगा और उसका कार्य करने वाला उसके फल से मुक्त हो जावेगा अर्थात् जीवात्मा कर्म के बन्धन में नहीं पड़ेगा। प्रायः लौकिक व्यवहार में यह देखने में आता है कि काम करने वाले मालिक पर ही कर्म के परिणाम का उत्तरदायित्व आता है। स्वामी के निमित्त कर्म करने वाला व्यक्ति उस किये हुए कर्म के परिणाम का भागी नहीं होता। जैसे बधिक शासन के आदेश से अभियुक्त को जब फाँसी देता है तो हम बधिक को निर्दोष समझते हैं। शासन को ही उचित न्याय होने पर न्यायी तथा अनुचित न्याय होने पर अन्यायी कहते हैं। यहाँ यह भी जान लेना अप्रासंगिक नहीं होगा कि विष्णुशक्ति को ही कर्त्ता क्यों माना जावे? ब्रह्मा की शक्ति अथवा रुद्रशक्ति को क्यों नहीं? वस्तुतः ब्रह्मा की शक्ति तो केवल संकल्प को स्फुरण करने वाली है और रुद्र की शक्ति संकल्प को समाप्त करती है। संकल्प के अंकुरित होने से लेकर पूर्ण होने तक के समस्त उत्तरदायित्व का भार विष्णुशक्ति पर ही है। अतः विष्णुशक्ति

-
9. नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥८॥

को ही कर्ता मानना सर्वथा उचित है। विष्णु का पर्यायवाची शब्द यज्ञ है अतः यज्ञ के निमित्त कार्य करना और विष्णु के निमित्त कार्य करना एक ही बात है। अस्तु, भगवान् कहते हैं कि 'हे कुन्ती पुत्र अर्जुन, यज्ञ अर्थात् विष्णु के निमित्त जो व्यक्ति कर्म करता है वह कर्म-बन्धन से मुक्त रहता है। किन्तु जो व्यक्ति विष्णु के निमित्त कर्म न कर अपने लिए कर्म करता है वह कर्मों के द्वारा बन्धन में बँध जाता है। इसलिए अनासक्ति से अर्थात् विष्णु के निमित्त, स्वधर्मपालन के लिए कर्म का भली-प्रकार से आचरण करा।'

अर्जुन, यह तो तुझे पूर्व से ही विदित है कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश (रुद्र) को त्रिगुणात्मक प्रकृति की शक्ति कहते हैं। उनका सामूहिक कार्य जगत की विचारधारा के रूप में जगत का सूक्ष्मशरीर है और प्राणियों के पृथक्-पृथक् विचारों के पृथक्-पृथक् सूक्ष्मशरीर उनकी प्रजा के समान हैं। अतः हम त्रिगुणात्मक

सृष्टि रचना में कर्म करने की प्रमुखता

प्रकृति को प्रजापति भी स्पष्टतः कह सकते हैं। प्रजापति ने पहले अर्थात् कल्प के आदि में सृष्टि को यज्ञ के सहित रचकर सृष्टि के जीवों से कहा कि "यज्ञ द्वारा जीवों की (सृष्टि की) वृद्धि होती रहे और यह यज्ञ तुम लोगों के मनवांछित फलों को सिद्ध करने वाला होवे।"

यहाँ यह समझना आवश्यक है कि प्रजापति ने सृष्टि को संदेश कैसे दिया तथा यज्ञ से सृष्टि की व सृष्टि से यज्ञ की वृद्धि किस प्रकार होती है? देखो अर्जुन, जिस प्रकार हम देखते हैं कि जब हमें किसी काम से कहीं जाना होता है तब सर्वप्रथम वहाँ जाने का स्फुरण होता है, इसके बाद हम वहाँ जाते हैं अर्थात् तभी हमारा शरीर वहाँ देखा जा सकता है। इसे यों भी कह सकते हैं कि उस स्थान

१. यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥६॥
२. सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥१०॥

पर हमारे शरीर का तब जन्म होता है। अस्तु, किसी काम से ही हमारे शरीर को उस स्थान पर जाना पड़ा है। यदि काम न होता तो हमारे शरीर को वहाँ जाने की आवश्यकता न थी। अतः प्राणी कुछ अभीष्ट कार्यों को जिन्हें वह पूर्व जन्म की अवधि में पूर्ण न कर सका था और उनको पूर्ण करने की उसकी लालसा थी, उनको पूर्ण करने के हेतु पुनः शरीर धारण करता है अर्थात् जन्म लेता है। जिन संकल्पों को लेकर प्राणी ने जन्म ले लिया है उन संकल्पों की क्रिया के कार्य को हम कह सकते हैं कि ब्रह्मा की शक्ति का कार्य अर्थात् सृष्टि रचने का कार्य सम्पन्न हो गया। अब जीवन भर की अवधि में अनेकों संकल्पों को ही तो पूर्ण करना होता है, अतः जन्म लेने के बाद संकल्पों को पूर्ण कराने वाली शक्ति विष्णु की ही हमें आवश्यकता पड़ती है। अस्तु, त्रिगुणात्मक प्रकृति अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों की सामूहिक शक्ति जिसे हमने प्रजापति कहा है वह अपने संकल्पों को पूर्ण करने हेतु अपने एक गुण सत्वगुण को अर्थात् विष्णु को स्फुरण करती है ठीक उसी प्रकार जैसे कि हम जब अपने हाथ के द्वारा, जो कि हमारे शरीर का ही एक अवयव है, कोई वस्तु ग्रहण करना चाहते हैं तब उसे वैसा ही करने का स्फुरण हो जाता है। परिणाम-स्वरूप तत्काल हाथ से वैसा ही कार्य, हमारे मुख से आदेश दिये बिना ही, होने लगता है। अतः जैसे हाथ हमारी आज्ञा को मुख से व्यक्त न होने पर भी समझ जाता है वैसे ही विष्णु-शक्ति को भी प्रजापति का आदेश मुख से सुनने की आवश्यकता नहीं। वह भी अपने आप ही प्रजापति का आदेश समझ लेती है, और तुरन्त ही तदनुसार आचरण करने लगती है। विचारणीय है कि हमारे जन्म होने के बाद जिन इच्छाओं की पूर्ति के निमित्त हमारा जन्म हुआ है उन इच्छाओं का स्पष्ट रूप से हमें स्मरण नहीं रहता। वस्तुतः हम अपनी इच्छाओं को जो हैं तो पूर्व-जन्म की इच्छाएँ किन्तु इस जन्म में हम उन अपनी इच्छाओं को यही समझते हैं कि वे हमारे इसी जन्म की हैं। अतः उन्हें इसी जन्म की इच्छाएँ समझकर पूर्ण करने का जो स्फुरण हमको होता रहता है वह स्फुरण ही वास्तव में प्रजापति का सन्देश है जिसे प्रजापति सृष्टि के एक-एक प्राणी की विष्णुशक्ति (पालन करने वाली शक्ति) को पालन करने के लिए देता है। अतः भगवान् अर्जुन से यह स्पष्ट कहते हैं कि सृष्टि की त्रिगुणात्मक प्रकृति अथवा प्रजापति ने जब सृष्टि को सर्वप्रथम रचा तब उसके साथ ही उसके पालन

करने वाली यज्ञ (विष्णु) शक्ति को भी रचा और आशीर्वाद दिया कि इस यज्ञ द्वारा सृष्टि की वृद्धि होती रहे। साथ ही यह यज्ञ (विष्णु) शक्ति सृष्टि के जीवों की इच्छित कामनाओं को पूर्ण करे। इतना ही नहीं वरन् भगवान् यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि तुम लोग स्थूलशरीर के हाथ आदि अवयवों से श्रमपूर्वक यथेष्ट कर्म कराओ और शारीरिक शक्ति को पूर्णरूपेण बढ़ाओ अर्थात् शारीरिक समस्त अवयवों के अधिपतियों अथवा देवताओं की वृद्धि करो। साथ ही शरीर के अधिपतियों अर्थात् देवों की वृद्धि से वे देव तुम्हारे शरीर के अवयवों की कर्म करने की क्षमता को बढ़ावें। इस प्रकार परस्पर के सहयोग से दोनों ही (शरीर के अवयव एवं शरीर के अवयवों के अधिपति देवगण) लाभान्वित होते रहेंगे।⁹ अतः स्पष्ट है कि जब तक प्राणी का शरीर है तब तक उसके अवयवों को कर्म करना आवश्यक है और इस प्रकार दोनों के कर्म करने से दोनों की वृद्धि हो सकती है। यहाँ अब यह भी समझना आवश्यक है कि कर्म सम्पादन करने के श्रेय के वास्तविक अधिकारी कौन हैं?

विदित ही है कि वाक् (वाणी), पाणि (हाथ), पाद (पैर), शिश्न (जननेन्द्रिय), और गुदा ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं और इन इन्द्रियों की शक्तियों को देवता कहते हैं। वाक् का देवता अग्नि है, पाणि का देवता इन्द्र है, पाद का देवता उपेन्द्र है, शिश्न का देवता जननशक्ति के रूप में विश्वकर्मा है, और गुदा का देवता मृत्यु है। इसी प्रकार श्रोत्र (कान) त्वचा (खाल) चक्षु (आँख) घ्राण (नाक) जिह्वा (जीभ) ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और इनके देवता क्रम से दिशा, वायु, सूर्य, अश्विनीकुमार और वरुण हैं। इन समस्त इन्द्रियों की सहायता से हम अपना काम करते हैं। यदि सूक्ष्मशरीर इन्द्रियों का सदुपयोग करता है अर्थात् उनसे उचित काम लेता है और उन्हें उचित आहारादि से हृष्ट-पुष्ट रखने का प्रयत्न करता है तो इन्द्रियाँ स्वस्थ रहती हैं। चूँकि इन्द्रियों का सम्बन्ध उनकी शक्ति से है, अतः

कर्मसम्पादन में
श्रेय के भागीदार

उनके स्वस्थ होने से उनकी शक्ति के रूप में देवता भी स्वस्थ रहते हैं। परिणामस्वरूप आँखों की ज्योति तीव्र रहती है, घ्राण में सूंघने की उचित शक्ति रहती है, जिह्वा में बोलने की शक्ति यथेष्ट बनी रहती है, त्वचा सुन्दर रहती है एवं स्पर्श का अनुभव समुचित रीति से करती है। श्रोत्र में पर्याप्त श्रवणशक्ति विद्यमान रहती है। इसी प्रकार वाक्, पाणि, पाद, शिश्न, गुदा अपना-अपना कार्य करके ही स्वस्थ रहते हैं। इसी रीति से इन्द्रियाँ और उनके देवता अपना-अपना कर्तव्य-पालन कर अपने-अपने कल्याण को प्राप्त हो सकते हैं। उनका यह प्राकृतिक नियम है अतः इन्द्रियों के देवताओं की आराधना की आवश्यकता नहीं। वे बिना किसी याचना के स्वयं ही अवयवों को कर्म करने की शक्ति प्रदान करेंगे।

इस भाँति सूक्ष्मशरीर जब कर्म करता है तो इन्द्रियों व उनके देवताओं का उसको पूरा-पूरा सहयोग होता है। अतः स्पष्ट है कि कर्म के परिणामस्वरूप जो भोग उपलब्ध होते हैं उनमें स्थूलशरीर एवं सूक्ष्मशरीर का ही प्रत्यक्ष रूप से श्रम दिखलाई देता है क्योंकि स्थूलशरीर को साधन बनाकर काम किया गया है, और सूक्ष्मशरीर ने कर्त्ता बनकर काम किया है। दूसरे शब्दों में सूक्ष्मशरीर, स्थूलशरीर को साधन बनाकर समस्त कार्य करता है। अतः कर्मों के परिणाम जिन्हें भोग कहा जाता है सब स्थूलशरीर व सूक्ष्मशरीर के श्रम से ही प्राप्त होते हैं। अतएव स्पष्ट है कि भोगों का उपभोग करते समय जब व्यक्ति स्थूल व सूक्ष्मशरीर को ही श्रेय देता है तब तो उसका शरीर-निर्वाह के हेतु उचित उपभोग न्यायसंगत है अन्यथा वह दूसरे के श्रेय का हरण करने वाला चोर सदृश है और इस कुकर्म के फल का भागी है। यदि व्यक्ति अज्ञानवश स्थूल व सूक्ष्मशरीर के कार्य से अनभिज्ञ होने के कारण यह समझता है कि वह स्वयं ही अपने शरीर का पोषण कर रहा है और उसके शरीर को पुष्ट करने के लिए ही भोजन किया जाता है तो उसका भोजन करना अन्याययुक्त पापकर्म है। यद्यपि अज्ञान से हो सकता है कि उसको उसमें कोई दोष न दिखे किन्तु अज्ञान क्षम्य नहीं है। अज्ञान के कारण वह पाप से नहीं बच सकता केवल उस व्यक्ति के प्रति सहानुभूति प्रकट की जा सकती है। उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कर्मसम्पादन में श्रेय के भागीदार वास्तव में स्थूल व सूक्ष्मशरीर हैं। अतः भगवान् कहते हैं कि यज्ञ द्वारा वृद्धि

को प्राप्त हुए देवता लोग तुम्हारे लिए प्रिय भोगों को देंगे। किन्तु जो व्यक्ति उनके द्वारा दिए हुये भोगों को उनको बिना दिये ही अर्थात् उनको श्रेय न देते हुए स्वयं ही उपभोग करता है तो वह निश्चय ही चोर है।'

वस्तुतः वे लोग जो यज्ञ से शेष बचे हुए (अर्थात् जिसे कर्म का श्रेय देना चाहिये उसे श्रेय देकर) अन्न को खाते हैं वे सब पापों से मुक्त हो जाते हैं और जो पापी लोग (देवताओं को श्रेय न देकर) स्वयं ही उपभोग करते हैं वे पापमय भोजन को ही खाते हैं।^२

उपरोक्त रहस्य की और अधिक जानकारी की दृष्टि से सृष्टि की गतिविधि जाननी आवश्यक है।

सृष्टिचक्र का
शास्त्रीय ज्ञान

सृष्टिचक्र को समझने के लिए सर्वप्रथम त्रिगुणात्मक माया को जिसे 'अक्षर' कहा जाता है जानना चाहिए। इसके उपरान्त ब्रह्म का अर्थात् वेद का (ब्रह्म का पर्यायवाची

शब्द वेद है) आविर्भाव कैसे हुआ यह जानना आवश्यक है।

अक्षर का स्वरूप
तथा उससे ब्रह्म का
आविर्भाव

विचारणीय है कि सम्पूर्ण प्रकृति के अन्तर्गत जितने भी जीव हैं उन समस्त जीवों के संकल्प (कामनाएँ) और उन्हें पूर्ण करने के कर्तव्य की विचारधाराओं की तरंगे वायु के माध्यम से अखिल ब्रह्माण्ड में सदैव प्रगतिशील होती रहती

हैं। अतः वे अक्षर या अविनाशी कही जाती हैं। इनको (सम्पूर्ण जगत की विचारधाराओं को) हम जगत का सूक्ष्मशरीर अथवा त्रिगुणात्मक माया भी कह सकते हैं। अखिल ब्रह्माण्ड के समस्त जीवों की त्रिगुणात्मक विचारधाराओं

१. इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥१२॥
२. यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुक्ष्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥१३॥

में से यदि केवल मानव मात्र की त्रिगुणात्मक विचारधाराओं की तरंगों को पृथक कर दिया जावे तो उन मानवों की पृथक की हुई विचारधाराओं की तरंगों को हम ऐसा कहेंगे कि वे समस्त, त्रिगुणात्मक विचारधाराओं से जो अक्षर (अविनाशी) हैं, निकली हैं। अतः जिस प्रकार समस्त जगत की कामनाओं की तरंगों को जगत का सूक्ष्मशरीर ऊपर सम्बोधन किया गया है उसी प्रकार इन मानव-मात्र की कामनाओं की तरंगों को मानव-मात्र का सूक्ष्मशरीर कहा जा सकता है। मानव-मात्र के सूक्ष्मशरीर को समष्टि रूप से हम 'बड़ीमाया' की संज्ञा दे सकते हैं। अस्तु, मानव-मात्र की कामनाओं को तथा उनके पूरे करने के हेतु कर्तव्यों को जिन ग्रन्थों में अंकित किया गया है उन्हें हम वेद या ब्रह्म कह सकते हैं (ब्रह्म का पर्यायवाची शब्द वेद है) क्योंकि वेदों द्वारा ही हमें मानव-मात्र के कर्तव्य और उनको पूर्ण करने की विविध विधियाँ प्राप्त होती हैं, अतः वेदों का रूप हमें अक्षर (त्रिगुणात्मक विचारधाराओं) से प्राप्त हुआ है ऐसा कहने में कोई शङ्का उत्पन्न नहीं हो सकती।

अब यह जानना आवश्यक है कि ब्रह्म से कर्म की रचना कैसे हुई तथा कर्म से यज्ञ का आविर्भाव कैसे हुआ?

समस्त मानव-मात्र की सकल कामनाओं और उनको पूर्ण करने के कर्तव्य जिन्हें हमने ब्रह्म कहा है, उनमें से यदि एक-एक मानव के कार्य और

ब्रह्म से कर्म की
रचना और कर्म से
यज्ञ का आविर्भाव

उनके पूर्ण करने के कर्तव्यों को पृथक किया जावे तो वे एक-एक मानव के संकल्प की रचना ब्रह्म या वेद से हुई है कहना असंगत प्रतीत नहीं होता।

चूँकि मानव-मात्र के संकल्पों को हम मानव-मात्र का सूक्ष्म-शरीर (बड़ी माया) कहते हैं, अतः स्पष्ट है कि पृथक-पृथक मानव के संकल्पों को हम पृथक-पृथक मानव के सूक्ष्मशरीर (छोटी माया) कह सकते हैं। अब यह विचारणीय है कि मानव को अपने संकल्प पूर्ण करने के लिए शक्ति चाहिए। चूँकि हमें यह पूर्व में ही विदित हो चुका है कि संकल्पों का संरक्षण व भरण-पोषण करने वाली शक्ति वस्तुतः

विष्णु है अतः यदि समस्त वैष्णवीशक्ति प्रत्येक मानव में पृथक-पृथक विभाजित की जाय तो वह वैष्णवीशक्ति एक-एक मानव के संकल्पों को पोषण करने वाली प्रत्येक मानव के मस्तिष्क में पृथक-पृथक विभक्त हो जावेगी। अतः स्पष्ट है कि एक-एक मानव के संकल्पों को पोषण करने वाली शक्ति पूर्ण वैष्णवी शक्ति का ही एक-एक अत्यन्त सूक्ष्म अंश है। स्मरण रहे कि विष्णु और यज्ञ पृथक-पृथक नहीं वरन् पर्यायवाची शब्द हैं जैसा कि श्रुति कहती है “यज्ञो वै विष्णुः” (तै.सं. 9-9-8) यज्ञ ही विष्णु है, अतः जगत की पोषकशक्ति और यज्ञशक्ति में कोई अन्तर नहीं है अर्थात् वैष्णवी शक्ति ही यज्ञशक्ति है। प्राचीनकाल से ही संकल्प पूर्त्यर्थ विविध यज्ञों का आयोजन होता रहा है, जैसे राजसूय यज्ञ, पुत्रेष्टि यज्ञ आदि। इन यज्ञों द्वारा देवताओं का यानी शक्तियों का, सर्वप्रथम सामर्थ्यवान् विश्वास करके, आह्वान करते हैं और उनसे स्वयं के उपयोग के लिए सामर्थ्य याचना करते हैं जैसे ‘ओऽम् तेजोसि, तेजोमयिधेहि’, ‘ओऽम् बलमसि, बलमयिधेहि’ आदि। इस रीति से संकल्पों को पूर्ण करने के लिए दृढ़ता लाई जाती है। अतः स्पष्ट है कि कर्मों अथवा संकल्पों की पूर्त्यर्थ यज्ञ का आविर्भाव हुआ है। अब यह जानना आवश्यक प्रतीत होता है कि मानव (प्राणी) की रचना में कर्म और यज्ञ का क्या महत्व है?

शास्त्र कहता है कि कर्म से यज्ञ, यज्ञ से पर्जन्य, पर्जन्य से अन्न और अन्न से मानव (प्राणी) फिर मानव (प्राणी) से कर्म इसी प्रकार यह सृष्टि चक्र चलता है। इस चक्र को समझने के लिए हमें कर्म से यज्ञ की

कर्म से मानव (प्राणी)
की रचना

उत्पत्ति तक की क्रिया तो विदित हो ही गई है अब यह समझना है कि यज्ञ से पर्जन्य, पर्जन्य से अन्न और अन्न से मानव (प्राणी)

की रचना कैसे होती है?

वस्तुतः शरीर संज्ञा तो केवल शरीर के समस्त अवयवों का समष्टि

यज्ञ से पर्जन्य का
आविर्भाव

रूप है। काम तो शरीर के अवयव वाक्, पाणि, पाद, शिश्न, गुदा, श्रोत्र, चक्षु, त्वचा, घ्राण, और जिह्वा करते हैं और

वह शक्ति जो इन अवयवों को गतिशील करती है उसे ही शारीरिक

शक्ति या वैष्णवीशक्ति अथवा यज्ञशक्ति कहते हैं। विचारणीय है कि यदि हमें पैरों से कहीं जाना है तो सर्वप्रथम जाने के संकल्प का स्फुरण होता है। उसका संवेदन पाते ही पैरों से हम चलने लगते हैं। पैरों को वाणी से आदेश देने की आवश्यकता नहीं पड़ती उन्हें तो केवल जाने के संकल्प का स्फुरण पर्याप्त है। अतः स्पष्ट है कि शारीरिक शक्ति के उपयोग के लिए हस्त, पैर आदि अवयव अत्यन्त आवश्यक हैं। बिना अवयवों के शारीरिक शक्ति व्यर्थ सिद्ध होगी। अतएव शारीरिक शक्ति को अपने उपयोग के लिए पाणि, पाद, चक्षु आदि अवयवों की अत्यावश्यकता प्रतीत हुई। अस्तु, शारीरिकशक्ति के उपयोग के हेतु शरीर के अवयवों का जन्म हुआ। अतः स्पष्ट है कि शारीरिक-शक्ति या वैष्णवी-शक्ति अथवा यों कहिए कि यज्ञ-शक्ति से ही शरीर के पाणि, पाद आदि का आविर्भाव हुआ है, यह कथन सर्वथा उचित है। अब पर्जन्य का भाव समझना आवश्यक है। पर्जन्य का अर्थ है मेघों का राजा इन्द्र और इन्द्र को ही पाणि का देवता अथवा शक्ति कहते हैं। पाणि शरीर का प्रमुख अवयव है। प्रायः शरीर के समस्त अवयवों की अपेक्षा पाणि को प्रधानता दी जाती है। जैसे यदि किसी व्यक्ति के सहयोग से किसी व्यक्ति का कार्य सिद्ध हो जावे तो प्रायः जनसाधारण यही कहता है कि इस व्यक्ति के कार्य-सिद्ध होने में अमुक व्यक्ति का हाथ था। यद्यपि उस व्यक्ति के शरीर के समस्त अवयवों ने कार्य करने में सहयोग दिया होगा तथापि श्रेय दिया गया केवल “हाथों” को। अतः स्पष्ट है कि जनसाधारण शरीर के समस्त अवयवों के कार्यों का भाव पृथक-पृथक उल्लेख न कर केवल उस व्यक्ति के “पाणि” के कार्य का भाव कहकर व्यक्त किया करता है। अब इसी दृष्टिकोण से विचारणीय है कि शरीर के समस्त अवयवों की यज्ञ-शक्ति (वैष्णवी शक्ति) जब काम करना चाहती है तो यह कहना असंगत नहीं की वह ‘पाणि’ की शक्ति को यानी पाणि के देवता को स्फुरण करती है। (अन्य अवयवों की भिन्न-भिन्न शक्तियों के नामों का उल्लेख करना आवश्यक नहीं)। चूँकि पाणि का देवता है इन्द्र अतः वह इन्द्र को स्फुरण करती है। + इस प्रकार यह स्पष्ट है

+ यह तो सर्वविदित ही है कि मेघ का महत्व अन्न की उत्पत्ति में सर्वाधिक है। साथ ही सूर्य, पृथ्वी आदि का महत्व भी कुछ कम
(शेष अगले पृष्ठ पर)

कि यज्ञ से इन्द्र अनुप्राणित होता है। चूँकि इन्द्र को पर्जन्य कहते ही हैं अतः यज्ञ से पर्जन्य का आविर्भाव होना स्वाभाविक है।

पर्जन्य अर्थात् मेघों के राजा इन्द्र से अनुप्राणित होकर हाथों से

पर्जन्य से अन्न की
उत्पत्ति

श्रम होने लगता है। साथ ही शरीर के समस्त अवयव अपना-अपना काम करने लगते हैं। विचारणीय है कि समस्त श्रमपूर्ण कर्मों में “अन्न उत्पादन करना” सर्वोपरि है और अन्न-उत्पादन में धरती जोतना, बीज-बोना, जल-सींचना, नींदना, गोड़ना, कुरप आदि देना, फसल काटना व बरसाना आदि सबमें ही प्रमुख रूप से ‘हाथ’ का कार्य ही स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। साथ ही अन्न उत्पादन जीवन निर्वाह के लिए भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है, अतः अन्य श्रमपूर्ण कार्यों को गौण रखकर अन्न उत्पादन के श्रम का उल्लेख करना पर्याप्त है। अतः पर्जन्य से अन्न उत्पादन होता है, कहना सर्वथा उपयुक्त है।

अन्न से मानव
(प्राणी) की उत्पत्ति

विदित ही है कि अन्नादि के आहार से रक्त का निर्माण होता है और रक्त से शुक्र (वीर्य) एवं रज का। वीर्य एवं रज के मिश्रण से प्राणी गर्भ रूप में रहकर भू-मण्डल पर जन्म लेता है। अतः अन्न से मानव (प्राणी) की उत्पत्ति होना स्पष्ट है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मानव (प्राणी) मस्तिष्क में कर्म (संकल्प) का स्फुरण नित्य होता रहता है कर्म (संकल्प) से

(पृष्ठ ११७ का शेष)

नहीं वैसे ही शास्त्रानुसार यज्ञ (अग्निहोत्र) से वृष्टि होती है, किन्तु यदि केवल मंत्र विहित ही वृष्टि होती है तो संसार में सर्वत्र शास्त्रानुसार यज्ञ नहीं होते फिर भी वृष्टि तो होती ही है। अतः अनुमानतः भगवान् का अभिप्राय गीता में मानवीय यज्ञ अर्थात् श्रम से ही हो सकता है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि प्रकृति पर सीधा मानव का अधिकार नहीं है अतः मानव, शक्ति के अधीन है अर्थात् ‘श्रम करना’ एवं ‘उसका सदुपयोग करना’ यही भगवान् को अभीष्ट हो सकता है।

यज्ञ अर्थात् संकल्प पूर्त्यर्थ सामर्थ्य प्राप्त करने देवताओं को (शरीर के अवयवों की वैष्णवी-शक्ति के रूप में विविध शक्तियों को) प्रेरणा होती है। यज्ञ (वैष्णवी-शक्ति) से पर्जन्य (पाणि के देवता इन्द्र), पर्जन्य से (हाथ आदि के श्रम से) अन्न उत्पन्न होता है और अन्न से मानव (प्राणी) और फिर प्राणी से कर्म (संकल्प) का स्फुरण इस रीति से सृष्टि रचना का चक्र सदैव चलता रहता है।

अब यह जानना आवश्यक है कि कर्म से लेकर मानव (प्राणी) तक की समस्त क्रियाओं में कौनसी क्रिया अधिक महत्वपूर्ण है? उस क्रिया पर किसका प्रभाव रहता है? किंचित् विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञ क्रिया सबसे महत्वपूर्ण है क्योंकि शरीर को शक्ति चाहिये। शक्तिहीन शरीर का कोई मूल्य नहीं। चूँकि शरीर को शक्ति प्राप्त होती है यज्ञ से, अतः यज्ञक्रिया सबसे महत्वपूर्ण है। अब यह देखना है कि यज्ञक्रिया को कौन प्रभावित करता है? वैसे तो एक-एक

सर्वाधिक महत्वपूर्ण
क्रिया-‘यज्ञ-क्रिया’

मानव के संकल्प जिन्हें हम कर्म कहते हैं अपनी-अपनी पूर्ति के लिए सामर्थ्य प्राप्त करके शक्ति अर्थात् यज्ञ क्रिया को प्रभावित करते दिखते हैं पर थोड़ा और अधिक विचार करें तो अनुभव में आवेगा कि ब्रह्म या वेद (जगत के समस्त मानवों के विचार) वस्तुतः एक-एक मानव के विचारों (संकल्पों) को प्रभावित करते हैं। क्योंकि सामूहिक रूप से जगत के मानव मात्र के संकल्पों की विचार-तरंगें, जो बाह्य वायुमण्डल में नित्य व्याप्त रहती हैं, वायु के माध्यम से एक-एक मानव के मस्तिष्क के कोषों में विद्यमान सजातीय स्मृतिचिह्नों को सदैव प्रभावित करती हैं एवं उनको तदनुकूल आचरण करने को प्रवृत्त करती रहती हैं। अतः स्पष्ट है कि एक व्यक्ति की विचारतरंगों का जो शक्ति उद्दीपन करती है उस शक्ति को हम वे विचारतरंगें कह सकते हैं जो कि उस व्यक्ति के आस-पास रहने वाले मानवों द्वारा प्रायः व्यक्त हुआ करती हैं और इन मानवों की विचारतरंगें प्रभावित होती रहती हैं उन मानवों की विचारतरंगों से जिन मानवों के मध्य वे रहते हैं। अस्तु, इस विधि से इस विचारधारा का क्षेत्र बढ़ते-बढ़ते अन्त में जगत के समस्त मानव मात्र पर पहुंचकर स्थित हो जावेगा। अतः स्पष्ट है कि एक-एक मानव के संकल्प यानी कर्म अर्थात् त्रिगुणात्मक

माया का अत्यन्त लघुरूप, शक्ति-सम्पादन के लिए वैष्णवी-शक्ति के एक-एक अंश को अर्थात् यज्ञ-क्रिया को प्रभावित करता है। विचारणीय है कि जगत के समस्त मानवमात्र की विचारधाराओं यानी संकल्पों को हम ब्रह्म के रूप में पहले ही जान चुके हैं। साथ ही ब्रह्म को हमने वेदों की संज्ञा भी दी है। अतः स्पष्ट है कि यज्ञ, ब्रह्म से प्रभावित है अर्थात् यज्ञ में ब्रह्म सदैव प्रतिष्ठित है। तात्पर्य यह है कि यज्ञ, वेद विहित है। अतः भगवान् कहते हैं कि सम्पूर्ण मानव (प्राणी) अन्न से उत्पन्न होते हैं और अन्न की उत्पत्ति पर्जन्य अर्थात् प्राणी अथवा हाथ आदि शारीरिक अवयवों के उपयोग द्वारा श्रम से है। इसी प्रकार यज्ञ (वैष्णवी-शक्ति) से पर्जन्य (हाथ पैर आदि स्थूलशरीर के अवयव) का और कर्मों से यज्ञ का आविर्भाव होता है। १ अस्तु, कर्म को तू वेद (ब्रह्म) से निकला हुआ और वेदों को (ब्रह्मको) अक्षर (अविनाशी त्रिगुणात्मक माया) से निकले हुए समझ। चूँकि यज्ञ का आविर्भाव कर्म से और कर्म का आविर्भाव ब्रह्म से है, अतः सर्वव्यापीब्रह्म, यज्ञ में नित्य ही प्रतिष्ठित है। २ सारांश यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने आस-पास के व्यक्तियों से प्रभावित होता रहता है, इसीलिए शुभ-कार्यों के वायु-मण्डल निर्माणार्थ सत्संग को सर्वाधिक महत्व दिया करते हैं।

अस्तु, जो व्यक्ति उपरोक्त सृष्टि-चक्र से परिचित है वह स्पष्ट समझता है कि उसके विचार बाह्यवायुमण्डल से ही प्रभावित होते हैं। सत्सङ्ग में बैठते ही सत्सङ्ग के विचार उभरने लगते हैं। शाक-भाजी की मण्डी में पहुँचकर शाक-भाजी सम्बन्धी विचारों का उदय होता है। अतः एक-एक मानव के विचार जिन्हें छोटी माया कहा जा चुका है वे बड़ी माया अर्थात् बाह्यवायु-मण्डल में व्याप्त विचारतरंगों से प्रभावित होकर स्थूलशरीर को गतिशील कर उससे कर्म कराते रहते हैं। अतः स्पष्ट है कि स्थूल एवं सूक्ष्मशरीर को अपने अधिकार में मानने वाला अहंभाव स्थूल एवं सूक्ष्मशरीर से

-
१. अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥१४॥
 २. कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥१५॥

पृथक् है किन्तु उनके कार्य-कलाप का दृष्टा अवश्य है। इस दृष्टा रूप अहंभाव को जीवात्मा कहते हैं।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जीवात्मा केवल दृष्टावत् है और सूक्ष्मशरीर द्वारा स्थूलशरीर के किये जाने वाले समस्त कर्म त्रिगुणात्मक माया (बड़ी व छोटी) का कार्य है। इस दृष्टिकोण से जीवात्मा, माया के कर्म से वस्तुतः पृथक् है, अतएव उसे कर्म में आसक्ति रहित रहना अत्यन्त सुगम है। कर्म में अनासक्ति का परिणाम यह होता है कि वह कर्म के बन्धन में नहीं बँधता है। हाँ, उपरोक्त विचारधारा से व्याप्त वातावरण में जीवात्मा अर्थात् व्यक्ति का रहना परमावश्यक है। अस्तु, हे अर्जुन, जो व्यक्ति इस लोक में उपरोक्त विधि से चलाये हुए सृष्टि चक्र के अनुसार नहीं चलता है अर्थात् अनासक्ति से कर्म न करते हुए स्वयं को कर्म का कर्ता मानकर कर्म करता है, (जबकि वस्तुतः वह कर्ता है ही नहीं) और इन्द्रियों के सुख भोगों में व्यस्त रहता है वह पापमय जीवन व्यतीत करता है। इस प्रकार वह पाप-आयु पुरुष व्यर्थ ही जीता है।^१

परन्तु यदि उपरोक्त व्यक्ति त्रिगुणात्मक माया को कर्ता मानता है और स्वयं दृष्टा बना हुआ कर्म करने का अभ्यास करता रहता है तो शनैः-शनैः उसका अनासक्ति से कर्म करने का अभ्यास परिपक्व होने पर स्वयं ही दृढ़ हो जाता है और उसकी गणना ज्ञानियों में होने लगती है। अनासक्ति से कर्म करने के आचरण के अभ्यास में प्रीति करने को ही आत्मा में प्रीति करना, आत्मा में तृप्त होना अथवा आत्मा में संतुष्ट होना कहते हैं। अस्तु, जो मानव आत्मा ही में प्रीति-वाला और आत्मा ही में तृप्त तथा आत्मा ही में संतुष्ट होवे उस आत्मतृप्त के लिए स्वयं का कर्तव्य कुछ नहीं रहता है।^२

आत्म-स्वरूप में स्थित रहने वाले व्यक्ति का इस संसार में कुछ करने या न करने से कोई प्रयोजन नहीं है। ऐसे व्यक्ति का सम्पूर्ण

१. एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥१६॥
२. यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥१७॥

प्राणियों में कुछ भी स्वार्थ साधन का सम्बन्ध नहीं होता है। (क्योंकि वह तो कर्म का साक्षी मात्र है।)^१ हाँ, तटस्थ रहकर जो कुछ कर्म वह करता है वह सब लोक-संग्रह के लिए ही करता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है कि वह अनासक्त होकर निरन्तर अच्छी तरह से कर्तव्य पालन करने में लगा रहे और इस रीति से शरीर की शक्ति का उपयोग लोक-हितार्थ करता रहे। अस्तु, भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन, तू अनासक्त हुआ निरन्तर भली-प्रकार से स्वधर्मपालन कर, क्योंकि आसक्ति-रहित व्यक्ति कर्म करते हुए परम शांति (आत्म-स्वरूप) का अनुभव करता है।^२

स्पष्ट है कि अनासक्त होकर कर्म करने से व्यक्ति कर्मबन्धन से मुक्त ही नहीं होगा वरन् वह लोकहित द्वारा श्रेष्ठत्व को प्राप्त कर परमात्मा के स्वरूप का भी अनुभव करने लगेगा। सर्वविदित है ही कि पूर्व काल में महाराजा जनक आदि भी इसी कर्मपद्धति को अपनाकर परमसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं। अतः ज्ञानी होने पर लोकहित को देखते हुए भी कर्म करना सर्वथा उचित है।^३ क्योंकि प्रायः यही देखने में आता है कि श्रेष्ठ-पुरुष जो-जो आचरण करते हैं अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष जो कुछ आदर्श प्रस्तुत करता है सामान्यजन भी उसी को अपना आदर्श मान लेते हैं।^४ स्मरण रहे कि यहाँ श्रेष्ठपुरुषों से अभिप्राय उन ज्ञानी व्यक्तियों से है जिनमें कर्तापन का भाव नहीं है और जो समस्त कर्मों को त्रिगुणात्मक माया का कार्य अनुभव करने लगे हैं। अतः भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन, यद्यपि तीनों लोकों में

१. नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥१८॥
२. तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥१९॥
३. कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि॥२०॥
४. यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥२१॥

कोई भी कर्तव्य ऐसा नहीं है जो मुझे करना हो और साथ ही प्राप्त होने योग्य ऐसी कोई वस्तु भी नहीं जो मुझे प्राप्त न हो, फिर भी मैं (नित्य) कर्म करता रहता हूँ।^१ क्योंकि यदि मैं सावधान होते हुए भी कभी भी कर्म करने में शिथिलता लाऊँ तो अन्य सब लोग भी मेरे आचरण का अनुकरण करने लग जाँय।^२ वस्तुतः भाव यह है कि ज्ञानी पुरुषों का स्वयं का तो कोई कर्तव्य नहीं होता किन्तु यदि वे लोकहित का काम नहीं करते हैं तो लोगों के सामने अकर्मण्यता का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं और उन्हें पथ-भ्रष्ट करते हैं। हाँ, यह सम्भव है कि कुछ ज्ञानी ऐसे भी हो सकते हैं जो अपनी उदर-पूर्ति के हेतु उन्हें जो कुछ भी मिल जावे उससे ही अपना निर्वाह कर लें और दूसरों पर अपने जीवन-निर्वाह का विशेष भार न डालें। ऐसे व्यक्ति यद्यपि स्वयं तो सुख-दुःख से ऊपर उठ जाते हैं किन्तु जो लोग अभी आसक्त हैं और सुख-दुःख से ऊपर नहीं उठे हैं उनको वे कर्म करने से विमुख बनाते हैं क्योंकि वे भी उनकी देखा-देखी काम नहीं करते। परिणाम यह होता है कि वे अपने परिवार व समाज के प्रति उत्तरदायित्व का निर्वाह करने में शिथिल हो जाते हैं। स्पष्ट है कि उनका समस्त आश्रित परिवार अपने भरण-पोषण के अभाव में उन्हें अभिशाप देगा। इतना ही नहीं वरन् उन्हें समाज भी बुरा कहेगा। सम्भव है कि स्वयं उनको भी सुख-दुःख से ऊपर न उठने के कारण अपनी उदर-पूर्ति में जब कठिनाई आवेगी तो वे अत्यन्त व्याकुल हो जावेंगे। अतः भगवान् कहते हैं कि “यदि मैं कर्म न करूँ तो मेरा अनुकरण कर ये सब लोक भ्रष्ट हो जाँय और मैं फिर उनके मार्गदर्शन में गड़बड़ी डालने वाला (संकर का कर्ता) बनूँ तथा इन प्रजाओं को नष्ट करने वाला अर्थात् कर्मच्युत बनाने वाला बन जाऊँ।”^३ अस्तु, स्पष्ट है कि ज्ञानी पुरुष को अनासक्ति

-
१. न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥२२॥
 २. यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥२३॥
 ३. उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्या कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥२४॥

से लोकहितार्थ कार्य करते रहना चाहिए, जिससे उसकी देखा-देखी आसक्त पुरुषों को कर्म करने में अरुचि न हो और साथ ही उसकी कर्म करने की शैली भी ऐसी हो जिससे उन्हें शनैः-शनैः निष्काम कर्म-योगी होने की प्रेरणा भी मिलती रहे। अतः प्रश्न उठता है कि अनासक्त व्यक्ति (निष्काम कर्मयोगी) की क्या पहिचान है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं ही अत्यन्त दयावन्त होकर अपना स्वयं का अनुभव प्रस्तुत करते हैं कि वस्तुतः बाह्य आचरण से अनासक्त व्यक्ति की पहिचान करना अत्यन्त कठिन है। क्योंकि यह विषय, व्यक्ति विशेष के स्वयं के ही अनुभव का है। अतः वे अपने अनुभव से कहते हैं कि उन्हें आत्म-स्वरूप में स्थित होकर काम करने का पूर्ण अभ्यास हो चुका है। अस्तु, उन्हें न तो संचित कर्म (पूर्व जन्मों के किये कर्म) का फल भोगना है और न प्रारब्ध कर्म (वर्तमान जन्म के कारणभूत कर्म) का फल भोगना है और न ही क्रियमाण कर्म (भविष्य में जन्म के कारणभूत कर्म) के फल भोगने की अभिलाषा है। क्योंकि उन्हें यह स्पष्ट विदित है कि समस्त कर्म संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण तीनों ही माया जनित हैं। विचारणीय है कि उन्हें यह विदित होने पर भी कि कर्म माया के कार्य हैं और उनको करना उनका कर्तव्य नहीं है फिर भी वे अज्ञानियों के मार्गदर्शन हेतु अनासक्ति से कर्म में रत रहते हैं। वे जानते हैं कि निष्कामकर्म करने की योग्यता प्राप्त करने के लिए काम करना तो आवश्यक है ही। केवल समझ आने पर सकामकर्म करना, निष्कामकर्म करने में परिणत हो जाता है। अस्तु, यदि वे कर्तव्य-पालन न करें तो तुरन्त ही उनके अनुकरण करने वाले कर्मच्युत हो जावेंगे और कर्म की अवहेलना करने लगेंगे। अतः स्पष्ट है कि ज्ञानी और अज्ञानी दोनों को ही कर्तव्य-पालन उचित है। अन्तर इतना ही है कि ज्ञानी अनासक्ति से लोकहित के कार्य करता है जबकि अज्ञानी आसक्ति से सकाम कर्म करता है। आसक्ति या अनासक्ति का भाव स्पष्ट रूप से ज्ञानी को ही स्वयं अनुभव में आता है, किन्तु अज्ञानी को नहीं। हाँ, जब अज्ञानी को सत्सङ्ग का संयोग प्राप्त होता है तब ही उसे अनासक्ति से काम करने के ढंग का अनुभव सन्तों से श्रवण करने को मिलता है और फिर वह शनैः-शनैः निष्काम कर्मयोगी बनने की चेष्टा करता है। कालान्तर में निश्चय ही वह ज्ञानी के भाव को प्राप्त हो जाता है। अस्तु, स्पष्ट है कि यदि ज्ञानी व्यक्ति कर्तव्य-पालन करता है तो वह अज्ञानी को कर्म करने

की प्रेरणा देकर उससे कर्म कराता है। अतः हे अर्जुन, जिस प्रकार अज्ञानी जन आसक्ति से कर्म करते हैं उसी प्रकार आसक्ति रहित विद्वान् भी लोकहित की दृष्टि से कर्म करे।^१ वस्तुतः ज्ञानी व्यक्ति का यह धर्म है कि कर्मफल में आसक्त अज्ञानियों की बुद्धि में ऐसा भ्रम न डाले जिससे उन्हें कर्म करने में अश्रद्धा हो जावे। साथ ही स्वयं आत्मस्वरूप में स्थित होकर (साक्षी बनकर) सब काम भली प्रकार स्वयं करे तथा उनसे भी करावे।^२ वस्तुतः वस्तुस्थिति इस प्रकार है कि पहले तो अज्ञानी व्यक्ति आसक्ति एवं फलेच्छा से अपनी अनन्त कामनाओं को पूर्ण करना चाहता है किन्तु जब उसे उनकी पूर्ति होना असम्भव दिखने लगती है तब वह अत्यन्त विकल हो जाता है। अपनी व्याकुलता दूर करने हेतु वह फिर सत्संग गोष्ठियों में जाने लगता है। क्योंकि 'सत्संग' में शान्ति प्राप्त हुआ करती है' यह जनश्रुति प्रसिद्ध है ही। अस्तु, सत्संग में अभिरुचि उत्पन्न होने से वह ध्यानपूर्वक ज्ञानियों के उपदेश श्रवण करता है, साथ ही उन पर मनन भी करता है। ज्ञानोपदेशों के मनन करने से उसे स्पष्ट अनुभव होने लगता है कि प्रकृति अथवा जगत के सूक्ष्मशरीर में व्याप्त तीनों गुणों (सत्त्व, रज व तम) के द्वारा ही समस्त कर्म हो रहे हैं परन्तु, उसको अहंकार से मोहित होने के कारण ऐसा लगता है कि वास्तव में वह स्वयं ही अपने स्थूलशरीर से काम कर रहा है। इस प्रकार वह अपने को कर्त्ता मान लेता है।^३ व्यक्ति अपने को कर्त्ता क्यों मान लेता है इसका कारण स्पष्ट है कि उसे प्रायः ऐसे ही वातावरण में जीवन व्यतीत करना पड़ता है जहाँ लोग अधिकांश में अपने को कर्त्ता मानकर ही समस्त कर्म करते हैं। यदा कदा ही कर्त्तव्य-भावना से रहित चर्चा श्रवण करने को मिलती है। अतः स्पष्ट है कि उसके कर्त्तापन के संस्कार ही अधिक प्रबल होते

१. सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥२५॥
२. न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्म सङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥२६॥
३. प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥२७॥

रहते हैं किन्तु, सन्त समागम से अथवा सत्संग से जब कर्त्तापन की भावना शनैः-शनैः दूर हो जाती है तब स्पष्ट रूप से भान होते लगता है कि त्रिगुणात्मक माया के द्वारा कर्म किये जा रहे हैं। इस स्तर पर पहुँचने के उपरान्त वह गुण और कर्म के क्षेत्र के रहस्य से भली प्रकार परिचित हो जाता है। अस्तु, अब गुण व कर्म के क्षेत्र का रहस्य भी जानना आवश्यक है।

यह भली प्रकार सर्वविदित ही है कि एक राज्य की व्यवस्था के लिए अनेक विभाग, जैसे शिक्षा, न्याय, रक्षा, उद्योग आदि बना लिए जाते हैं, फिर इन विभागों को भी काम की सुव्यवस्था की दृष्टि से और

**गुण व कर्म के क्षेत्र
का रहस्य**

छोटे-छोटे विभागों में बाँट देते हैं जैसे हिसाब-किताब विभाग, पत्राचार विभाग आदि, फिर इनके भी और छोटे-छोटे विभाग बना लिए जाते हैं जैसे- लेखक, सहायक लेखक या चपरासी का कार्य आदि। इस प्रकार जितने विभाग होते हैं उतने ही विभागों के कार्य-क्षेत्र भी पृथक-पृथक विभक्त कर दिये जाते हैं। अस्तु, राज्य व्यवस्था की भाँति ही जगत की विचारधारा का एक बड़ा विभाग, मानव मात्र की विचारधारा है और इसका सबसे छोटा विभाग एक-एक व्यक्ति की विचाराधारा है। मानवमात्र की विचाराधारा सामूहिक रूप से सत्वगुण, रजोगुण व तमोगुण से युक्त त्रिगुणात्मक है, जिसको कि पूर्व में बड़ी माया भी कहा जा चुका है। एक-एक व्यक्ति की विचारधारा भी त्रिगुणात्मक है, किन्तु उसका रूप, मानव-मात्र की विचारधारा का बहुत ही छोटा रूप होता है इसको पूर्व में छोटी माया कहा गया है। मानव मात्र की विचारधारा के विभाग में तीनों गुणों की विचारतरंगों का रूप बहुत बड़ा होता है। अतः गुणों की तरंगों के बाहुल्य के कारण उसे 'गुण-विभाग' कहते हैं। अतः गुण-विभाग को ही 'बड़ी-माया' की संज्ञा दी गई है। व्यक्ति के मस्तिष्क के कोषों में अंकित विचारधारा की तरंगों के विभाग में तीनों गुणों की तरंगों का रूप छोटा होता है अतः उसे छोटी माया कहा है। विचारणीय है कि मानवमस्तिष्क के कोषों में अंकित विचारों के चिह्नों की तरंगें बाह्य वातावरण में व्याप्त सजातीय विचारतरंगों से प्रभावित होकर भिन्न-भिन्न मूर्तरूप धारण करती है। अतः विचारतरंगों के इन मूर्तरूपों को जनसाधारण 'कर्म' कहकर पुकारता है। अस्तु, स्पष्ट है कि व्यक्ति के त्रिगुणात्मक संकल्पों को 'कर्म-विभाग' कहा जा सकता है। संक्षेप में

‘गुण-विभाग’ से तात्पर्य मानवमात्र के संकल्प और ‘कर्म-विभाग’ से तात्पर्य एक व्यक्ति के संकल्पों से है। अब यह जानना आवश्यक है कि गुण, गुणों में कैसे वर्तते हैं?

जैसे राज्य की व्यवस्था के एक प्रमुख अंग ‘शिक्षा-विभाग’ के अन्तर्गत निरीक्षक आदि वरिष्ठ एवं लघु-अधिकारी अपने-अपने अधिकारानुसार परस्पर कार्य करते रहते हैं, वैसे ही गुणविभाग और कर्म-विभाग के संकल्प परस्पर कार्य करते रहते हैं। वस्तुतः मानवमात्र के

गुणों का गुणों में
वर्तने का रहस्य

संकल्पों का स्फुरण वायु के माध्यम से परस्पर व्यक्तियों को नित्य होता रहता है और वे तदनुकूल आचरण करते रहते हैं। इस तथ्य को हम यों कह सकते हैं कि गुणों (आकाश में व्याप्त सत्व, रज, तम की विचार-तरंग) से

गुण (एक-एक व्यक्ति की विचार-तरंगें) प्रभावित हो रहे हैं। इस प्रकार गुणों के गुणों से प्रभावित होने को “गुणों में गुण वर्त रहे हैं” कहते हैं। इस गुण विभाग (बड़ी माया) और कर्मविभाग (छोटी माया) के आचरण के रहस्य को जो तत्त्ववेत्ता जानता है वह अपने मस्तिष्क के अन्दर स्फुरित संकल्पों को और उनकी पूर्ति के लिए किये गये आचरण को वह स्वयं कर रहा है, ऐसा नहीं मानता। उसे स्पष्ट ज्ञान होता है कि बड़ी-माया से प्रेरित होकर परस्पर छोटी-छोटी मायाएँ ही कर्म कर रही हैं। अतः वह आसक्ति रहित हो कार्य करता है। अस्तु, हे महाबाहो! ‘गुण विभाग’ और ‘कर्म विभाग’ से अपने को पृथक् अर्थात् निर्लिप्त जानने वाला तत्त्वज्ञानी महापुरुष ऐसा समझकर कि सम्पूर्ण गुण, गुणों में वर्तते हैं, कर्मों में आसक्त नहीं होता है।’ किन्तु यह ज्ञान समस्त प्राणियों को तो होता नहीं अतः जो व्यक्ति अभी प्रकृति के तीनों गुणों में मोहित हुए कर्मों में आसक्त हैं और

9. तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते॥२८॥

अपने को कर्मों के कर्ता मानते हैं, ऐसे अज्ञानी लोगों से व्यवहार करते समय ज्ञानी को इस ढंग से व्यवहार करना चाहिए कि वे जिस स्तर की उपासना कर रहे हों उससे विचलित न हों।'

भाव यह है कि वे जिस अवतार (भगवान्) के उपासक हों और जिसमें उनकी निष्ठा हो उसे ही वे अपने कर्मों का कर्ता मान लें। इस प्रकार उनके काम के कर्ता जब उनके भगवान् हो जाते हैं तो वे कर्तापन से मुक्त हो जावेंगे। इस रीति से वे ज्ञानी न होने पर भी और वास्तविक तत्व को न समझते हुए भी कर्ता बनने से जो दुःख-सुख का अनुभव होता है, उससे मुक्त हो सकेंगे। इस विधि से अभ्यास करने का प्रभाव आगे चलकर यह होगा कि वे सत्संग में सन्तों के प्रवचन में दिये गये उपदेशों के ठीक-ठीक अर्थ का शनैः-शनैः मनन करने लगेंगे। परिणामतः कालावधि में ज्ञानी बनकर ही रहेंगे। अतः हे अर्जुन, क्षत्रिय का कर्तव्य है कि वह आशा एवं ममता-रहित होकर न्याययुक्त युद्ध करे। ज्ञान की जानकारी होने पर भी उस ज्ञान के अभ्यास के लिए उसे कर्तव्य-विमुख नहीं होना चाहिए, वरन् भगवान् के चरणों में अपने समस्त कर्म अर्पण कर कर्तापन दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। यह पद्धति जहाँ ज्ञानी को दुःख-सुख से मुक्त कर कर्तव्य का पालन कराते हुए शांति अनुभव कराती है वहाँ अज्ञानी को भी दुःख-सुख से मुक्त कर उसे शांति प्रदान करने में सहायक होती है। अतः भगवान् कहते हैं कि "हे अर्जुन, अध्यात्मचित्त से अर्थात् आत्मस्वरूप में स्थित होकर सब कर्मों को मुझमें अर्पण कर अर्थात् उन्हें प्रकृति का कार्य समझकर और आशा, ममता एवं दुःख रहित होकर तू युद्ध कर अर्थात् स्वधर्म का पालन कर।^२ यह ज्ञान ही वस्तुतः समस्त उपनिषदों का सार है जिसे मैंने वर्णन किया है।" अतः भगवान् स्वयं ही अब अपने उपदेश के माहात्म्य का वर्णन करते हैं -

१. प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥२६॥
२. मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥३०॥

जो व्यक्ति दोष-बुद्धि रहित होकर मेरे इस उपदेश का मनन करते हैं और श्रद्धापूर्वक आचरण करते हैं अर्थात् अपनी बात चाहे सत्य हो या असत्य लोग उसे ही मानें, ऐसी हठधर्मी नहीं करते, वे व्यक्ति समस्त

श्रीकृष्ण भगवान् के
उपदेश का माहात्म्य
उन्हीं के शब्दों में

कर्मों के बन्धन से छूट जाते हैं। किन्तु जो दोषदृष्टि वाले व्यक्ति मेरे इस उपदेश को समझने का प्रयत्न नहीं करते हैं तथा अपनी ही अपनी चलाते हैं, वे अपना कल्याण नहीं कर पाते। ऐसे समस्त ज्ञानविमूढ़ लोगों की

अर्थात् पक्के अविवेकियों की दशा सचमुच दयनीय है। उन्हें ऐसा समझो कि वे अपने कल्याण से भ्रष्ट हैं।^१ अतः अब मानव के कल्याण करने की दृष्टि से मानवीय स्वभाव की स्थिति से परिचित होना अत्यन्त आवश्यक है।

वैसे तो उक्त विवेचन में ही श्रीकृष्ण भगवान् का कर्तव्य पालन करने के सम्बन्ध में जो मत है वह स्पष्ट कर दिया गया है। अस्तु, वेदव्यासजी ने पूर्व में ही श्लोक ३१ व ३२ में श्रीकृष्ण भगवान् के मत

व्यक्ति के स्वभाव
की स्थिति

का माहात्म्य उनके मुखारविन्द से ही कहलवा दिया है तथापि यह विषय अत्यन्त गूढ़ है अतः इसका विस्तार से स्पष्ट हो जाना

आवश्यक है। अस्तु, भगवान् पुनः कहते हैं कि “देखो अर्जुन, कार्य करने में प्रत्येक व्यक्ति का एक ढंग होता है जो परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। जब उस ढंग से अनेक बार काम कर लिया जाता है तब बिना विशेष ध्यान दिये वैसा कर्म उसी ढंग से अपने आप होने लगता है। बिना सोचे जो कर्म अपने आप हो जाता है उस कर्म को स्वाभाविक कर्म कहते हैं। अतः प्रत्येक व्यक्ति स्वभाव से पराधीन होकर कर्म करता रहता है। ज्ञानी हो अथवा अज्ञानी

१.

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।

श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥३१॥

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।

सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः॥३२॥

अपने को कर्मों के कर्त्ता मानते हैं, ऐसे अज्ञानी लोगों से व्यवहार करते समय ज्ञानी को इस ढंग से व्यवहार करना चाहिए कि वे जिस स्तर की उपासना कर रहे हों उससे विचलित न हों।'

भाव यह है कि वे जिस अवतार (भगवान्) के उपासक हों और जिसमें उनकी निष्ठा हो उसे ही वे अपने कर्मों का कर्त्ता मान लें। इस प्रकार उनके काम के कर्त्ता जब उनके भगवान् हो जाते हैं तो वे कर्त्तापन से मुक्त हो जावेंगे। इस रीति से वे ज्ञानी न होने पर भी और वास्तविक तत्व को न समझते हुए भी कर्त्ता बनने से जो दुःख-सुख का अनुभव होता है, उससे मुक्त हो सकेंगे। इस विधि से अभ्यास करने का प्रभाव आगे चलकर यह होगा कि वे सत्संग में सन्तों के प्रवचन में दिये गये उपदेशों के ठीक-ठीक अर्थ का शनैः-शनैः मनन करने लगेंगे। परिणामतः कालावधि में ज्ञानी बनकर ही रहेंगे। अतः हे अर्जुन, क्षत्रिय का कर्त्तव्य है कि वह आशा एवं ममता-रहित होकर न्याययुक्त युद्ध करे। ज्ञान की जानकारी होने पर भी उस ज्ञान के अभ्यास के लिए उसे कर्त्तव्य-विमुख नहीं होना चाहिए, वरन् भगवान् के चरणों में अपने समस्त कर्म अर्पण कर कर्त्तापन दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। यह पद्धति जहाँ ज्ञानी को दुःख-सुख से मुक्त कर कर्त्तव्य का पालन कराते हुए शांति अनुभव कराती है वहाँ अज्ञानी को भी दुःख-सुख से मुक्त कर उसे शांति प्रदान करने में सहायक होती है। अतः भगवान् कहते हैं कि "हे अर्जुन, अध्यात्मचित्त से अर्थात् आत्मस्वरूप में स्थित होकर सब कर्मों को मुझमें अर्पण कर अर्थात् उन्हें प्रकृति का कार्य समझकर और आशा, ममता एवं दुःख रहित होकर तू युद्ध कर अर्थात् स्वधर्म का पालन कर। २ यह ज्ञान ही वस्तुतः समस्त उपनिषदों का सार है जिसे मैंने वर्णन किया है।" अतः भगवान् स्वयं ही अब अपने उपदेश के माहात्म्य का वर्णन करते हैं -

१. प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥२६॥
२. मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥३०॥

जो व्यक्ति दोष-बुद्धि रहित होकर मेरे इस उपदेश का मनन करते हैं और श्रद्धापूर्वक आचरण करते हैं अर्थात् अपनी बात चाहे सत्य हो या असत्य लोग उसे ही मानें, ऐसी हठधर्मी नहीं करते, वे व्यक्ति समस्त

श्रीकृष्ण भगवान् के
उपदेश का माहात्म्य
उन्हीं के शब्दों में

कर्मों के बन्धन से छूट जाते हैं। किन्तु जो दोषदृष्टि वाले व्यक्ति मेरे इस उपदेश को समझने का प्रयत्न नहीं करते हैं तथा अपनी ही अपनी चलाते हैं, वे अपना कल्याण नहीं कर पाते। ऐसे समस्त ज्ञानविमूढ़ लोगों की

अर्थात् पक्के अविवेकियों की दशा सचमुच दयनीय है। उन्हें ऐसा समझो कि वे अपने कल्याण से भ्रष्ट हैं। अतः अब मानव के कल्याण करने की दृष्टि से मानवीय स्वभाव की स्थिति से परिचित होना अत्यन्त आवश्यक है।

वैसे तो उक्त विवेचन में ही श्रीकृष्ण भगवान् का कर्तव्य पालन करने के सम्बन्ध में जो मत है वह स्पष्ट कर दिया गया है। अस्तु, वेदव्यासजी ने पूर्व में ही श्लोक ३१ व ३२ में श्रीकृष्ण भगवान् के मत

व्यक्ति के स्वभाव
की स्थिति

का माहात्म्य उनके मुखारविन्द से ही कहलवा दिया है तथापि यह विषय अत्यन्त गूढ़ है अतः इसका विस्तार से स्पष्ट हो जाना

आवश्यक है। अस्तु, भगवान् पुनः कहते हैं कि “देखो अर्जुन, कार्य करने में प्रत्येक व्यक्ति का एक ढंग होता है जो परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। जब उस ढंग से अनेक बार काम कर लिया जाता है तब बिना विशेष ध्यान दिये वैसा कर्म उसी ढंग से अपने आप होने लगता है। बिना सोचे जो कर्म अपने आप हो जाता है उस कर्म को स्वाभाविक कर्म कहते हैं। अतः प्रत्येक व्यक्ति स्वभाव से पराधीन होकर कर्म करता रहता है। ज्ञानी हो अथवा अज्ञानी

-
१. ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥३१॥
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः॥३२॥

दोनो ही अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करते हैं। इसमें कोई हठ करके कहे कि अब वह वैसी चेष्टा नहीं करेगा तो उसका कहना असत्य होगा क्योंकि जब भी उस व्यक्ति को पूर्ववत् कार्य करने का अवसर आवेगा तब ही वह अपनी प्रकृति से विवश होकर अपने अभ्यस्त स्वभाव के अनुकूल ही आचरण करने लगेगा। जैसे कि किसी की इच्छा के विपरीत किसी के द्वारा आचरण किये जाने की स्थिति में किसी को यदि क्रोध आ जाता है तो वह शान्त अवस्था में भले ही कहदे कि वह अब क्रोध नहीं करेगा परन्तु, अनुभव में ऐसा ही आया है कि जब विपरीत प्रसंग उपस्थित होता है तब वह क्रोध के वशीभूत पुनः हो जाता है। फिर पीछे चाहे उसे भले ही पछताना पड़े। वस्तुतः सभी प्राणी अपने स्वभाव (प्रकृति) के वशीभूत होकर कर्म करते हैं। ज्ञानवान भी अपने स्वभाव के अनुसार ही चेष्टा करता है।” अस्तु, इन्द्रियों से काम कैसे लिया जाय जिससे कि वे व्यक्ति के आधीन हो जावें, यह विधि भी आनी चाहिए। यदि बिना विधि समझे कोई उन्हें दमन करने का बलपूर्वक प्रयत्न करेगा तो कोई लाभ नहीं होगा। अतः इन्द्रियों को शक्तिहीन बनाना आवश्यक है। इन्द्रियों को शक्तिहीन बनाने का अभिप्राय उन्हें बेकार बनाना नहीं है, क्योंकि यदि वे बेकार हो जावें तो शरीर ही बेकार हो जावेगा। अतः इन्द्रियों को तो बेकार नहीं करना, केवल उनसे काम लेने की विधि आना चाहिए जिससे अशांति न आवे। प्रायः इन्द्रियों को अशान्ति उस समय आती है जबकि वे अपने काम के अनुकूल परिणाम पर प्रसन्न होती हैं अथवा विपरीत परिणाम पर दुःख प्रकट करती हैं। क्योंकि हर्ष या विषाद से व्यक्ति की बुद्धि चंचल हो जाती है और चंचल बुद्धि अशांति का कारण है। अतः इन्द्रिय, इन्द्रिय के अर्थ में अर्थात् सभी इन्द्रियों के भागों में स्थित जो राग और द्वेष की भावनाएँ हैं उनके वशीभूत व्यक्ति न होवे, क्योंकि वस्तुतः राग और द्वेष ये दोनों ही व्यक्ति के कल्याणमार्ग में विघ्न डालने वाले महान् शत्रु हैं।^२ ये शत्रु उस समय आक्रमण करते हैं जबकि कर्म

-
१. सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥३३॥
 २. इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥३४॥

का परिणाम निकलता है। अतः राग-द्वेष के प्रसंग आने से पूर्व ही “गुण-गुणों में बरत रहे हैं” भावना से अपने को कर्त्तापन से पृथक् किये जाने का अभ्यास परिपक्व हो जावेगा तब अपने आप ही राग या द्वेष उत्पन्न न होकर चित्तवृत्ति समता में रहेगी और शान्ति भंग न होगी। अतएव कर्त्तव्यपालन में विघ्न रूप राग और द्वेष के प्रभाव को दूर करने का अभ्यास आवश्यक है। यदि परिपक्व अवस्था आने से पूर्व ही कर्त्तव्य पालन में राग, द्वेष दूर करने का प्रयत्न करते हुए शरीर छूट भी जावे तो भी कल्याण कारक है। क्योंकि दूसरा (नवीन) शरीर धारण करने पर पूर्व सूक्ष्म शरीर का अभ्यास तो बना ही रहेगा और फिर भी पूर्व अभ्यास की उत्तरोत्तर वृद्धि के हेतु पुनः क्रियाशील होने की संभावना है। किन्तु, यदि व्यक्ति का अभ्यास तो अभी है ज्ञान की निम्न कोटि की अवस्था का और वह आचरण करने लग जावे उच्चकोटि के ज्ञानी के सदृश तो वह कहीं का भी नहीं रहेगा। (क्योंकि उच्चकोटि का अभ्यास नहीं है) और न अपने अभ्यस्त आचरण का वह पालन कर सकेगा। परिणामस्वरूप उसके आगे बढ़ने का सुअवसर भी चला जावेगा। ऐसी स्थिति में उसकी दशा “दोनों दीन से गये पांडे, हलुआ मिले न मांडे” के सदृश होगी। अतएव अपने निम्न स्तर के मार्ग को छोड़कर अन्य अनाभ्यस्त उच्चतर मार्ग को अपनाना भय उत्पन्न करने वाला है साथ ही हास्यास्पद भी है। अतः दूसरे उच्चकोटि के ज्ञान वाले व्यक्ति के अनभ्यस्त आचरण की अपेक्षा अपने निम्न कोटि के ज्ञान का अभ्यस्त आचरण ही उत्तम है। अतः भगवान् कहते हैं कि यदि पराया धर्म सब प्रकार से श्रेष्ठ अनुष्ठान वाला हो किन्तु अभ्यास न होने से यदि व्यक्ति अभी उसका अधिकारी नहीं हुआ हो तो ऐसे अच्छे गुण वाले धर्म की अपेक्षाकृत उसका गुण रहित धर्म जो यद्यपि अभी उतना श्रेष्ठ नहीं जितना कि पराया धर्म है तथापि उसको ही अपनाना अति श्रेष्ठ है। अपने अभ्यस्त धर्म का पालन करते हुए मृत्यु को प्राप्त होना भी अच्छा है, क्योंकि परायाधर्म जिसका अभ्यास नहीं है उसके अनुकूल आचरण प्रारम्भ करने में पथभ्रष्ट होने का भय उत्पन्न होता है, क्योंकि अपने का तो अभ्यास है ही, दूसरे का अभ्यास सन्देहास्पद ही रहता है। वस्तुतः स्वधर्म के अभ्यास से ही उत्तरोत्तर वृद्धि हुआ करती है।’ भाव यह है कि धर्म कोई भी हो चाहे

सेवा धर्म हो चाहे क्षत्रिय धर्म हो, बढ़िया घटिया नहीं होता। हाँ, ईश्वरार्पण बुद्धि से यदि किसी भी धर्म का आचरण किया जाता है तो प्रत्येक धर्म कर्म-बन्धन से मुक्ति दे सकता है। अतः धर्म को बढ़िया-घटिया समझकर परिवर्तन की आवश्यकता नहीं। जिस धर्म का अभ्यास स्वाभाविक हो गया है उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि करते रहने से सरलता से सिद्धि प्राप्त हो जाती है।”

अब यह जानना भी आवश्यक है कि व्यक्ति उतावला बनकर परधर्म अपनाने की अनाधिकार चेष्टा क्यों करता है और यदि वह पहले अधिकारी बनने का प्रयत्न करता है तो अधिकारी बनने से उसकी प्रगति कैसे होती है।

प्रसंगानुसार जब अर्जुन ने भगवान से यह सुना कि “निम्न कोटि के ज्ञान की स्थिति में रहने वाला व्यक्ति जब बिना अभ्यास किए हुए ही रागद्वेष के कारण एकदम उच्चकोटि के ज्ञान की स्थिति में जाने का प्रयत्न करता है तो यह उसका प्रयत्न सारहीन एवं भयावह है” तब अर्जुन को स्मरण हो रहा है कि उसे इस उपदेश को सुनकर यह प्रश्न करने की जिज्ञासा हुई थी कि स्वधर्म को छोड़कर परधर्म के आचरण में प्रवृत्ति कैसे

अधिकारी बनने से
साधक की प्रगति
तथा उतावलेपन से
उसकी हानि

हो जाती है और साथ ही यह जानने की भी लालसा हुई थी कि जानबूझ कर भी मानव ऐसे हेय कर्म कैसे कर जाता है। अतः वेदव्यास जी अर्जुन के द्वारा प्रश्न करवाते हैं कि “हे वृष्णिवंश में उत्पन्न श्रीकृष्ण, फिर यह पुरुष बिना इच्छा के ही मानों कोई उसे बलपूर्वक

प्रवृत्त कर रहा हो इस प्रकार किससे प्रेरित हुआ पापाचरण करता है?” इसके उत्तर में भगवान् ने जिस रीति से उसका समाधान किया था उसका

१. श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥३५॥
२. अर्जुन उवाच-अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥३६॥

भी अर्जुन को स्मरण हो रहा है। वही संवाद भगवान् के शब्दों में इस प्रकार है:-

भगवान् कहते हैं कि “देखो अर्जुन, सूक्ष्मशरीर रूपी विचारधाराएँ तीन प्रकार की होती हैं- सत्वगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी। इनमें रजोगुणी विचार-धारा स्थूलशरीर को कर्म करने की ओर प्रवृत्त करती हैं। यह उसका स्वभाव है। किन्तु, व्यक्ति की रजोगुणी विचार-धारा उसी समय प्रबल होकर सचेष्ट होती है जबकि वह व्यक्ति अन्य उन्नत स्थिति वाले व्यक्तियों के सम्पर्क में आता है। अपने से श्रेष्ठ व्यक्तियों के गुणों से प्रभावित होकर उसकी चित्तवृत्ति उन गुणों के सदृश आचरण करने शीघ्र दौड़ने लगती है। अस्तु, व्यक्ति का इस ओर ध्यान ही नहीं जाता कि वह उस स्थिति को प्राप्त करने का वास्तव में अधिकारी भी है या नहीं। जैसे कि एक गरीब पिता का बालक फेरी से अंगूर बेचने वाले की बोली सुनकर अपने घर की खिड़की से बाहर झाँकता है। वह देखता है कि कोई एक छटाँक तो कोई दो छटाँक अंगूर ले रहा है। वह भी अपने माता-पिता से अंगूर लेने का आग्रह करता है। किन्तु, उस बालक का पिता अल्प वेतन भोगी है। अंगूर क्रय करना उसकी सामर्थ्य से बाहर है। माता-पिता किसी तरह बालक को समझा-बुझाकर शान्त कर देते हैं। वे उसे पढ़-लिखकर धनी होने को प्रोत्साहित करते हैं। उनकी बात उसकी समझ में आ जाती है कि धनी होने पर ही वह इतनी मूल्यवान् वस्तुओं का उपभोग कर सकता है। इस प्रकार से बालक की अंगूर लेने की प्रवृत्ति पर प्रतिबन्ध लग जाता है। और उसको अंगूर प्राप्त करने योग्य बनने की प्रेरणा मिलती है। स्पष्ट है कि बालक की अंगूर लेने की प्रवृत्ति को रोकने वाले उसके संरक्षक हैं। वे अपनी स्थिति को ठीक-ठीक समझते हैं। ऐसे ही उस व्यक्ति की रजोगुणी वृत्ति को (जो श्रेष्ठ व्यक्तियों के गुण शीघ्र प्राप्त करने के हेतु चंचल हो उठी है) नियंत्रण में लाने हेतु उसकी संरक्षक स्थिरबुद्धि-जीवात्मा की आवश्यकता है। वह अपनी स्थिति को ठीक समझकर रजोगुणी वृत्ति को नियंत्रण में रखकर उसे उचित कर्म करने की प्रेरणा देता है।

वैसे तो व्यक्ति की राग-द्वेष की वृत्ति रजोगुणी वायुमण्डल से स्फुरित होती है। किन्तु राग-द्वेष तो केवल वृत्तियाँ हैं जो अनुकूल वस्तु पर

काम अथवा
फलेच्छा घातक
है।

अनुरक्त होती हैं तथा विपरीत वस्तु पर घृणा व्यक्त करती हैं। अनुरक्त होना राग के अन्तर्गत आता है और घृणा करना द्वेष के। परन्तु, आसक्ति और घृणा होती है किसी वस्तु से और उस वस्तु का नाम है “काम” (कामना) अथवा इच्छा और यह ‘काम’ जब स्वच्छन्द विचरने में रुकावट अनुभव

करता है तो क्रोध का रूप धारण कर लेता है। ये इच्छाएँ सदैव अतृप्त रहती हैं ऐसा प्राकृतिक नियम है। इनकी पूर्ति असम्भव है। अतः रजोगुण से उत्पन्न हुई इस इच्छा अर्थात् काम को बहुत खाने वाला (पेटू) कहते हैं और इसी कारण यह महापापी है। वास्तव में यह काम ही क्रोध को जन्म देकर सब कामों को बिगाड़ देने वाला है। अतः इस विषय में इसी को शत्रु समझ।^१ जिस प्रकार प्रकाश रूपी अग्नि धुँएँ से और दर्पण जैसे मैल से आच्छादित रहता है तथा गर्भ, जेर से ढँका रहता है वैसे ही इस काम के द्वारा ज्ञान ढँका हुआ है।^२ इसका भाव यही है कि इच्छाएँ जब प्रबल होती हैं तब अहंभाव भी बलवान् हो जाता है और जब ‘मैं पन’ की भावना प्रबल है तो ‘मैं पन’ से रहित भावना को स्वभावतः ही गौण होना चाहिये। यह तथ्य, ज्ञान (गुण, गुणों से भरत रहे हैं की जानकारी) से ही समझ में आता है कि इच्छाओं की क्रिया-कलाप माया का कार्य है, जीवात्मा का कार्य नहीं। अतः ज्ञान आते ही इच्छा गौण हो जाती है और यदि इच्छा प्रबल है तो ज्ञान गौण हो जाता है। वस्तुतः काम की प्रबलता ज्ञानी के विवेक पर आघात पहुँचाती है। स्पष्ट है कि जैसे अग्नि में आहुति देने से वह और बढ़ती ही है वैसे ही इस काम की पूर्ति करने से और-और अनेकों कामनाएँ बढ़ती ही जाती हैं।

१. श्रीभगवानुवाच-

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।

महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥३७॥

२.

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।

यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृत्तम्॥३८॥

इसलिये हे अर्जुन, कभी न तृप्त होने वाले अग्नि सदृश एवं ज्ञानियों के नित्य वैरी काम से ज्ञान ढँका हुआ है। वस्तुतः काम, ज्ञानियों का नित्य वैरी है। क्योंकि, ज्ञानी 'कर्त्तापन' की भावना को हटाना चाहता है जबकि काम "कर्त्तापन' की भावना को और भी अधिक प्रबल बनाता है, अतः कामनाएँ त्याज्य हैं।' अस्तु, अब यह जानना आवश्यक है कि कामनाओं का अन्त कैसे किया जाय।

काम (इच्छा) के प्रभाव का अन्त करने के लिए उसकी समस्त

कर्त्तव्यपालन में विघ्न रूप
काम शत्रु का अंत एवं
कर्त्तव्यपालन में सहायक
लोकसंग्रह की भावना का
समर्थन

क्रियाओं की गतिविधियाँ जानना अत्यन्त आवश्यक है। अतः देखो अर्जुन, सर्वप्रथम काम अथवा इच्छा का स्फुरण व्यक्ति के मन पर पड़ता है। मन जब तदनुकूल आचरण करता है तब वह एकदम वैसा नहीं कर पाता। उसे भी पहले अनुमति लेनी पड़ती है। जिस क्रिया से वह अनुमति

प्राप्त करता है उसे बुद्धि कहते हैं। बुद्धि की अनुमति मिलते ही मन समस्त इन्द्रियों को अपने प्रयोग में लाने लगता है। अस्तु, स्पष्ट है कि काम के प्रभावशील होने के तीन प्रमुख स्थान हैं—मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ। अतः ये उसके निवासस्थान कहे जाते हैं। वस्तुतः इन्हीं के सहयोग से काम शक्तिशाली बनकर व्यक्ति को (जीवात्मा को) नाना प्रकार से मोहित करता है। परिणामतः व्यक्ति कर्त्तव्यभावना से रहित अपने आत्म-स्वरूप का ध्यान ही नहीं कर पाता।^२

अतएव विवेकी पुरुष का सर्वप्रथम यही कर्त्तव्य है कि वह काम के मायावी रूप को स्पष्ट समझले। क्योंकि, यह मायावी काम आत्मस्वरूप के कार्य की जानकारी (ज्ञान) को ढँक लेता है तथा आत्मा के स्वरूप की जिससे पहिचान होती है, उस विज्ञान को भी

१. आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्य वैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥३६॥
२. इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥४०॥

वैसे तो व्यक्ति की राग-द्वेष की वृत्ति रजोगुणी वायुमण्डल से स्फुरित होती है। किन्तु राग-द्वेष तो केवल वृत्तियाँ हैं जो अनुकूल वस्तु पर अनुरक्त होती हैं तथा विपरीत वस्तु पर घृणा व्यक्त करती हैं। अनुरक्त होना राग के अन्तर्गत आता है और घृणा करना द्वेष के। परन्तु, आसक्ति और घृणा होती है किसी वस्तु से और उस वस्तु का नाम है “काम” (कामना) अथवा इच्छा और यह ‘काम’ जब स्वच्छन्द विचरने में रुकावट अनुभव

काम अथवा
फलेच्छा घातक
है।

करता है तो क्रोध का रूप धारण कर लेता है। ये इच्छाएँ सदैव अतृप्त रहती हैं ऐसा प्राकृतिक नियम है। इनकी पूर्ति असम्भव है। अतः रजोगुण से उत्पन्न हुई इस इच्छा अर्थात् काम को बहुत खाने वाला (पेटू) कहते हैं और इसी कारण यह महापापी है। वास्तव में यह काम ही क्रोध को जन्म देकर सब कामों को बिगाड़ देने वाला है। अतः इस विषय में इसी को शत्रु समझ।^१ जिस प्रकार प्रकाश रूपी अग्नि धुँएँ से और दर्पण जैसे मैल से आच्छादित रहता है तथा गर्भ, जेर से ढँका रहता है वैसे ही इस काम के द्वारा ज्ञान ढँका हुआ है।^२ इसका भाव यही है कि इच्छाएँ जब प्रबल होती हैं तब अहंभाव भी बलवान् हो जाता है और जब ‘मैं पन’ की भावना प्रबल है तो ‘मैं पन’ से रहित भावना को स्वभावतः ही गौण होना चाहिये। यह तथ्य, ज्ञान (गुण, गुणों से भरत रहे हैं की जानकारी) से ही समझ में आता है कि इच्छाओं की क्रिया-कलाप माया का कार्य है, जीवात्मा का कार्य नहीं। अतः ज्ञान आते ही इच्छा गौण हो जाती है और यदि इच्छा प्रबल है तो ज्ञान गौण हो जाता है। वस्तुतः काम की प्रबलता ज्ञानी के विवेक पर आघात पहुँचाती है। स्पष्ट है कि जैसे अग्नि में आहुति देने से वह और बढ़ती ही है वैसे ही इस काम की पूर्ति करने से और-और अनेकों कामनाएँ बढ़ती ही जाती हैं।

१. श्रीभगवानुवाच-

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।

महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥३७॥

२.

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।

यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥३८॥

इसलिये हे अर्जुन, कभी न तृप्त होने वाले अग्नि सदृश एवं ज्ञानियों के नित्य वैरी काम से ज्ञान ढँका हुआ है। वस्तुतः काम, ज्ञानियों का नित्य वैरी है। क्योंकि, ज्ञानी 'कर्त्तापन' की भावना को हटाना चाहता है जबकि काम "कर्त्तापन" की भावना को और भी अधिक प्रबल बनाता है, अतः कामनाएँ त्याज्य हैं।^१ अस्तु, अब यह जानना आवश्यक है कि कामनाओं का अन्त कैसे किया जाय।

कर्त्तव्यपालन में विघ्न रूप
काम शत्रु का अंत एवं
कर्त्तव्यपालन में सहायक
लोकसंग्रह की भावना का
समर्थन

काम (इच्छा) के प्रभाव का अन्त करने के लिए उसकी समस्त क्रियाओं की गतिविधियाँ जानना अत्यन्त आवश्यक है। अतः देखो अर्जुन, सर्वप्रथम काम अथवा इच्छा का स्फुरण व्यक्ति के मन पर पड़ता है। मन जब तदनुकूल आचरण करता है तब वह एकदम वैसा नहीं कर पाता। उसे भी पहले अनुमति लेनी पड़ती है। जिस क्रिया से वह अनुमति

प्राप्त करता है उसे बुद्धि कहते हैं। बुद्धि की अनुमति मिलते ही मन समस्त इन्द्रियों को अपने प्रयोग में लाने लगता है। अस्तु, स्पष्ट है कि काम के प्रभावशील होने के तीन प्रमुख स्थान हैं—मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ। अतः ये उसके निवासस्थान कहे जाते हैं। वस्तुतः इन्हीं के सहयोग से काम शक्तिशाली बनकर व्यक्ति को (जीवात्मा को) नाना प्रकार से मोहित करता है। परिणामतः व्यक्ति कर्त्तव्यभावना से रहित अपने आत्म-स्वरूप का ध्यान ही नहीं कर पाता।^२

अतएव विवेकी पुरुष का सर्वप्रथम यही कर्त्तव्य है कि वह काम के मायावी रूप को स्पष्ट समझले। क्योंकि, यह मायावी काम आत्मस्वरूप के कार्य की जानकारी (ज्ञान) को ढँक लेता है तथा आत्मा के स्वरूप की जिससे पहिचान होती है, उस विज्ञान को भी

१. आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्य वैरिणा।

कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥३६॥

२. इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।

एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥४०॥

लुप्तकर अशांति की ओर ले जाता है। अस्तु, यह स्पष्ट ध्यान में रखना चाहिये कि आत्मा का स्वरूप और काम का रूप बिल्कुल भिन्न-भिन्न है। अतः विवेकी पुरुष सदैव ध्यान में रखे कि काम अथवा संकल्प (इच्छा) का स्फुरण त्रिगुणात्मक माया (बड़ी माया) से होता है, शुद्ध चैतन्य आत्मा से नहीं। अतः नित्य ही स्वधर्म पालन करते समय यह स्मरण रखना चाहिए कि “मैं तो शुद्ध आत्मा (साक्षी रूप) हूँ और कर्म करने की क्रिया वस्तुतः माया की है, मेरी नहीं” इस विधि से जीवात्मा (व्यक्ति) को चाहिए कि वह समस्त कर्म की क्रियाओं से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर ले। किन्तु कर्म में से अपनापन हट जाने से कर्म के आचरण करने में प्रायः शिथिलता आ जाती है। अस्तु शिथिलता निवारणार्थ ‘कर्म’ को अपने लिए न करते हुए लोकहित के लिये करे। ऐसा निश्चयपूर्वक सोचकर करने से न तो का करने में शिथिलता आवेगी और न ही स्वधर्मपालन की अवहेलना होगी अर्थात् कर्तव्यपालन ठीक-ठीक होने लगेगा। अतः भगवान् कहते हैं कि “हे अर्जुन, तू पहले इन्द्रियों को वश में करके ज्ञान और विज्ञान के अन्त करने वाले इस प्रापी काम को निश्चयपूर्वक मार अर्थात् काम को अपने नियंत्रण में कर ले”।

अब देखो अर्जुन, यह विचारणीय है कि प्रायः जनसाधारण में यह कथन प्रचलित है कि “अमुक काम की धुन ने अमुक व्यक्ति को पागल सा बना दिया है। कोई कितना भी समझावे पर उसकी बुद्धि पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता” इस कथन से स्पष्ट है कि बुद्धि जो सबसे सूक्ष्म है उसको भी काम प्रभावित किए बिना नहीं रहता। वस्तुतः तथ्य तो यह है कि स्थूलशरीर के पिण्ड से इन्द्रियाँ परे अर्थात् श्रेष्ठ, बलिष्ठ एवं सूक्ष्म कही जाती हैं। इन्द्रियों से भी मन परे अर्थात् अधिक बलवान् और सूक्ष्मगतिवाला कहा जाता है। मन से भी बुद्धि परे अर्थात् अति सूक्ष्म एवं शक्तिशाली कही जाती है क्योंकि, बिना उसकी अनुमति के मन कुछ भी नहीं कर सकता है। किन्तु, “काम” इतना शक्तिशाली और सूक्ष्म बुद्धि से भी परे अर्थात् उससे भी अति सूक्ष्म और अधिक शक्तिसम्पन्न कहा

जाता है।' अस्तु, स्पष्ट है कि त्रिगुणात्मक माया का सबसे शक्तिशाली तत्व 'काम', 'इच्छा' या 'वासना' को ही समझना चाहिए, क्योंकि, इसका ही प्रभाव मानव की बुद्धि पर पड़ता है। फलस्वरूप यह काम ही प्राणी के स्थूल एवं सूक्ष्मशरीर को नित्य ही नचाया करता है। इस प्रकार बुद्धि से सूक्ष्म और अधिक शक्तिशाली 'काम' को जानकर जीवात्मा (व्यक्ति) को चाहिए कि अपनी बुद्धि को इस रीति से शिक्षित कर दें कि बाह्यवायु-मण्डल में व्याप्त कामनाओं की विचारतरंगों जब श्वास के साथ व्यक्ति के मस्तिष्क के कोषों पर अंकित विचारतरंगों के चिन्हों को स्फुरित करें तब वह उनसे सावधान हो जाया करे। वह स्पष्ट अनुभव कर सके कि इन विचारतरंगों के स्फुरण के रूप में त्रिगुणात्मक माया का कार्य हो रहा है, आत्मा का कार्य नहीं है और साथ ही यह लोकहित के लिए किया जा रहा है। जब बुद्धि, आत्म-तत्त्व के शुद्ध, शान्त एवं निर्विकारी स्वरूप से परिचित होकर उससे प्रेम करने लगेगी तब वह मन पर नियंत्रण रखेगी। जब बाह्य-वायुमण्डल की विचारतरंगों (कामनाओं) का प्रभाव मन पर पड़ेगा और वह उनके अनुसार चलने की बुद्धि से अनुमति मांगेगा (जैसा कि उसका स्वभाव है) तब वह उसे अनुमति तो देगी ही नहीं वरन् उसे (मन को) समझा देगी कि यह कार्य अपना नहीं है, त्रिगुणात्मक माया का है जो लोकसंग्रह के लिए हो रहा है, अतः इसे अपना काम न समझे। अस्तु, काम करते समय ऐसी भावना रखने का अभ्यास किया जावे कि सूक्ष्म एवं स्थूलशरीर से लोकसंग्रह का काम किया जा रहा है। क्योंकि, जीवात्मा का परमधर्म है कि वह अपने आत्म-स्वरूप में स्थित होकर काम करने के महत्व को समझे और राग-द्वेष से निर्द्वन्द्व होकर लोक-संग्रह हेतु कर्तव्य-पालन करता रहे। स्मरण रहे कि काम (वासना) का वेग मन में जैसे ही उठे वैसे ही उसके वेग को तुरन्त ही बुद्धि द्वारा दबाकर निर्बल कर दें। दुर्दमनीय काम के वेग को दमन करने की यही युक्ति है। अस्तु,

१. इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः॥

मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥४२॥

भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन, इस प्रकार इस दुर्दमनीय शत्रु 'काम' को बुद्धि से परे (बुद्धि को दूषित करने वाला अत्यन्त सूक्ष्म एवं शक्तिशाली तत्व) समझकर उसके वेग का मन पर पूर्णरूपेण प्रभाव पड़ने से पूर्व ही उसको सुशिक्षित बुद्धि द्वारा नियंत्रित कर उसे निष्काम कर्तव्यकर्म अर्थात् स्वधर्मपालन में लगा दे जिससे काम का विकार मन पर अपना प्रभाव न डाल सके। इस विधि से तू काम को मार (काम के वेग को निरर्थक कर)'

ॐ शंभू

-
१. एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥४३॥

ॐ

चतुर्थ-अध्याय

ज्ञान-कर्म-संन्यास-योग

अर्थात्

ज्ञान द्वारा कर्मफल के त्याग

का प्रकरण ।

ज्ञान-कर्म-संन्यास-योग

“योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।

आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय॥४१॥

हे अर्जुन, जिस आत्म-ज्ञानी ने कर्मयोग के रहस्य को पूर्णतः समझकर समत्वबुद्धि से कर्मबन्धन रूप कर्मफल को ईश्वरार्पण कर दिये हैं और ज्ञान से जिसके सन्देह दूर हो गये हैं उस आत्म-परायण पुरुष को कर्म नहीं बाँधते हैं॥४१॥

1510-1515-1516-1517

भगवान् श्रीकृष्ण तीसरे अध्याय में स्पष्ट कर चुके हैं कि स्वधर्म रूप कर्तव्य-पालन किस प्रकार किया जाता है। अब वे चौथे अध्याय में यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि उनका उपदेश नया नहीं है। सृष्टि के प्रारंभ से ही इसी पद्धति द्वारा अनेक ज्ञानीजन जीवन-मुक्त होकर कर्तव्य-पालन कर चुके हैं। जब-जब यह पद्धति लुप्त होने लगती है तब-तब वैष्णवीशक्ति उसे पुनः क्रियान्वित कर व्यापक कर देती है। यह प्रकृति का नियम है। साथ ही इसी अध्याय में वे यह भी बतलाने की कृपा करते हैं कि वैष्णवीशक्ति कैसे जन्म लेकर इस पद्धति को क्रियान्वित करती है। कर्म, विकर्म एवं अकर्म की पहिचान क्या है? कर्म-बन्धन से मुक्त होने के हेतु विविध यज्ञों की उपासना लोग कैसे करते हैं? सब यज्ञ त्रिगुणात्मक माया के ही अन्तर्गत कैसे आ जाते हैं? तथा अन्त में वे इस तथ्य पर प्रकाश डालते हैं कि श्रद्धापूर्वक ईश्वरार्पण बुद्धि द्वारा अपने में से कर्त्तापन का भाव हटाकर कर्तव्य-पालन कैसे किया जाता है?

भगवान् श्रीकृष्ण उपदेश देते हुए प्रसंगानुसार कहते हैं कि संसार के संरक्षण का उत्तरदायित्व, पालन करने वाली विष्णु भगवान् की वैष्णवीशक्ति पर निर्भर है। वैष्णवीशक्ति के ही एक-एक अंश से मानव आदि समस्त प्राणी अपने-अपने जीवन का संरक्षण कर रहे हैं। यह जीवन-संरक्षण-क्रम सृष्टि के प्रारंभ से ही चल रहा है। त्रेतायुग के आरंभ में विवस्वान् इसी उत्तम विधि से सृष्टि का पालन करते थे। मैंने ही इस अविनाशी योग की पद्धति को विवस्वान् को बतलाया था। विवस्वान् ने मनु को कहा और मनु ने इक्ष्वाकु को बतलाया। १ भाव यह है कि विवस्वान् ने मेरी बताई हुई कर्तव्य-पालन की पद्धति को अपनाया था उसी पद्धति का अनुसरण उसके पुत्र मनु ने किया और

१. श्रीभवानुवाच- इमं विवस्वते योग प्रोक्तवानहमव्ययम्।

विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥१॥

मनु के बाद उसके पुत्र इक्ष्वाकु ने भी इसी पद्धति का अनुसरण किया। इसी प्रकार राजा जनक आदि अनेक राजर्षियों द्वारा भी प्रजा का पालन इसी पद्धति से होता रहा है। किन्तु, ऐसा अनुभव होता है कि एक पद्धति जब पीढ़ी दर पीढ़ी चलती रहती है तो अपनाने वालों की प्रकृति की भिन्नता के कारण उस पद्धति में शनैः शनैः अन्तर आने लगता है। अन्त में वह प्रायः लुप्त सी होने लगती है। तब पुनः वैष्णवीशक्ति द्वारा उस पद्धति का शुद्ध रूप सामने रखा जाता है। यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। जैसे कि प्रयाग के उत्तम अमरूद की पौध यदि दूसरे स्थान पर लगाई जावे तो उसके फलने पर प्रथम बार तो वह प्रयाग जैसा ही अमरूद देती है फिर उनके बीजों के पौधों से कुछ घटिया अमरूद आते हैं फिर उनके बीजों से और भी घटिया। इस प्रकार पीढ़ी दर पीढ़ी उन बीजों में प्रयाग के अमरूदों जैसा रूप, आकार व गुण आदि नहीं के बराबर रह जाता है। तब पुनः प्रयाग की नवीन पौध लगाई जाती है। इसी प्रकार क्रम-क्रम से वंशपरम्परागत इस योग-पद्धति को एक राजर्षि ने दूसरे राजर्षि से जाना। परन्तु हे शत्रुओं को सन्तापित करने वाले अर्जुन, बहुत समय के उपरान्त वह कर्म-योग-पद्धति इस लोक से लुप्त हो गई।^१ अतः हे अर्जुन, चूँकि तू मेरा अधिकारी भक्त और सखा है, इसलिये मैंने उसी पुरानी रहस्यमयी कर्म-योग की सर्वोत्तम पद्धति को (काम करने के उत्तम ढंग को) तुझे बताया है।^२ इस प्रकार वह पद्धति पुनः पूर्ववत् सुसंस्कृत हो गई है।

अर्जुन जिज्ञासु वृत्ति का है। वह बिना समझे हाँ में हाँ मिलाने वाला नहीं है। वह तत्काल ही भगवान् से प्रश्न करता है कि हे भगवन्! आपका जन्म तो वर्तमानकाल में ही हुआ है और विवस्वान् का जन्म बहुत प्राचीनकाल का है अतः आपकी बताई पद्धति का अनुसरण विवस्वान्

१. एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप॥२॥
२. स एवायं तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥३॥

ने कैसे किया? कृपया इस रहस्य का उद्घाटन कीजिये।' आपके कर्तव्यपालन के ढंग से मुझे तो पूर्ण विश्वास है कि आप उच्चकोटि के ज्ञानी हैं। क्या ऐसे महानुभावों में त्रिकालज्ञ की विशेषता भी विद्यमान रहती है?

अर्जुन की जिज्ञासा की तृप्ति हेतु भगवान् कहते हैं कि देखो अर्जुन, यह तो तुझे विदित हो ही गया है कि समस्त जगत में व्याप्त, उत्पत्ति, पालन तथा संहार की सम्मिलित शक्ति को त्रिगुणात्मक माया कहते हैं और उसकी केवल पालन करने वाली शक्ति को विष्णु। विष्णु का ही नाम 'यज्ञ' है इससे भी तू भली-भाँति परिचित है। समष्टि रूप में वैष्णवीशक्ति एक-एक मानव के मस्तिष्क की विचारतरंगों को स्फुरित कर उस-उस मानव की इन्द्रियों को तदनुकूल आचरण करने के लिए प्रवृत्त करती है। उसके इस आचरण को कर्म कहते हैं, यह भी तू भली प्रकार समझ चुका है। अब इस तथ्य पर भी किंचित विचार कर कि एक मानव अपने कर्म को पूरा करने में जब अपने को असमर्थ पाता है तब वह अपने उस कर्म को पूरा करने के लिये अन्य मानवों की सहायता लेता है। इस प्रकार उस मानव की तथा उसके सहायक मानवों की सामूहिक शक्ति से वह कार्य सम्पादित हो जाता है। जैसे राम अपने चबूतरे पर एक बड़ी पत्थर की शिला रखना चाहता है। जब उससे वह नहीं उठती तब वह अन्य व्यक्तियों की सहायता से उस शिला को अपने चबूतरे पर रख लेता है। इस प्रकार शिला रखने के कार्य में कुछ मानवों की सामूहिक शक्ति का उपयोग हुआ है। इसी तथ्य को तू ऐसे भी कह सकता है कि कुछ मानवों की सामूहिक वैष्णवीशक्ति के उपयोग से यह कार्य सम्पन्न हुआ है। इसी प्रकार वैष्णवीशक्ति का बृहत् रूप आवश्यकतानुसार राजा अथवा समाज के नेता को भी जन्म दे दिया करता है। अब यह विचारणीय है कि राजा अथवा समाज के नेता का जन्म कैसे हो जाता है? किंचित विचार करने से यह तथ्य भी स्पष्ट हो जाता है। कल्पना कर कि, एक व्यक्ति समाज में फैले हुए आवंछनीय तत्व का अन्त कर देना चाहता है अथवा

9. अर्जुन उवाच-अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।

कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति॥४॥

बिखरे समाज की व्यवस्था पुनः करना चाहता है। किन्तु, उस कार्य के लिए वह अपने को शक्तिहीन पाता है। इस व्यक्ति की भांति ही और भी कुछ ऐसे मनुष्य हैं जो पृथक-पृथक उस अत्याचार को मिटाने अथवा समाज व्यवस्था को ठीक करने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु, वे भी उस कार्य को सम्पादित करने में असफल रहते हैं। ऐसी स्थिति में एक ओर तो वह अत्याचार अथवा समाज का बिखरापन सबल होता रहता है, जबकि दूसरी ओर उसके उन्मूलन करने की भावना रखने वाले व्यक्ति भी उसे दबाने का प्रयत्न करते रहते हैं। किन्तु, अत्याचार का उन्मूलन करने वाले व्यक्ति जब अपने जीवनकाल में असफल रहते हैं तब शरीर छोड़ते समय उनकी यही उत्कृष्ट अभिलाषा रहती है कि कैसे भी हो इस अत्याचार का अन्त होना ही चाहिए अथवा समाज का बिखरापन ठीक होना चाहिए और चूँकि एक-एक व्यक्ति की पृथक-पृथक शक्ति उस अत्याचार को रोकने में असमर्थ सिद्ध हुई है, अतः वे व्यक्ति मिलकर एक संगठित प्रबल शक्ति के रूप में जन्म लेना चाहते हैं। ऐसी धारणा वाले व्यक्तियों के स्थूलशरीर छूट जाने पर वे शीघ्र नवीन शरीर धारण नहीं करते। उनके सूक्ष्मशरीर की विचारतरंगें उनके जैसे विचार रखने वाले अन्य व्यक्तियों के सूक्ष्मशरीरों की विचारतरंगों से सुसंगठित होती रहती हैं और जब आवश्यकतानुसार सुसंगठित और शक्तिशाली हो जाती हैं तब कोई भी चिन्तनशील अनुकूल दम्पत्ति की विचारतरंगों से वे सुसंगठित तरंगे टकरा-टकराकर उसके मस्तिष्क के कोषों में गहरे स्मृति-चिन्ह निर्माण करती हैं परिणामस्वरूप उसकी नवजात सन्तान के मस्तिष्क के कोषों में तदनुकूल संस्कारों के संवेदन अंकित हो जाते हैं और उत्तरोत्तर गहरे हो जाते हैं। परिणामतः वह व्यक्ति असाधारणशक्ति सम्पन्न होकर जन्म लेता है। इस प्रकार से एक सामूहिक संगठित वैष्णवीशक्ति एक शक्तिशाली व्यक्ति के रूप में जन्म लेकर उस अत्याचार का अथवा समाज की अव्यवस्था का अन्त कर समाज को पुनः सन्मार्ग पर चलाने लगता है। अस्तु, एक ही उद्देश्य के बृहत् मानवसमुदाय की सम्मिलित शक्ति अपने विशेष उद्देश्य से जब एक व्यक्ति के रूप में प्रकट होती है तब उस व्यक्ति को जनता प्रतापी राजा या सर्वोच्च कोटि का नेता कहने लगती है। इस प्रकार प्रतापी राजा या समाज का उच्चकोटि का नेता वस्तुतः एक दुःसाध्य उद्देश्य की पूर्त्यर्थ

पर्याप्त संख्या में मानवों की सुसंगठित वैष्णवीशक्ति ही है। अब यदि तू किंचित् विचार करे तो अनुभव कर सकता है कि एक मानव श्वास लेते समय जिस वायु को ग्रहण करता है और एक राजा अथवा समाज का नेता जिस वायु को श्वास के रूप में अपने अन्दर ले जाता है अथवा समस्त ब्रह्माण्ड श्वास लेते समय जिस वायु का उपयोग करता है इन सबकी वायु पृथक्-पृथक् नहीं है बल्कि, अविभाजित रूप से एक ही वायु है और वही सर्वत्र संचारित हो रही है, जबकि वस्तुतः व्यक्ति भिन्न-भिन्न हैं और वे पृथक्-पृथक् श्वास लेकर अपना-अपना पृथक्-पृथक् काम कर रहे हैं। अतः इस वायु में भरी हुई समस्त विचारतरंगें भी भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की विचारतरंगों से सम्बन्ध रखते हुए भी अविभाजित रूप से समस्त जगत के मानव मात्र की ही विचारतरंगें हैं। अस्तु, इस जगत की अविभाजित विचारतरंगों में से सृष्टि के पालन करने वाली विचारतरंगों के समूह को पालन करने वाली शक्ति अथवा वैष्णवी शक्ति कहना असंगत नहीं। सामूहिक वैष्णवीशक्ति का नामान्तर विष्णुभगवान् अथवा यज्ञशक्ति है, यह तू पहले ही समझ चुका है। अस्तु, इस सामूहिक वैष्णवीशक्ति (विष्णु) अर्थात् यज्ञ के ही स्फुरण से एक-एक मानव की वैष्णवीशक्ति कर्तव्य-पालन करने के लिए प्रेरित होती रहती है। इस तथ्य को तू यूँ भी कह सकता है कि एक-एक मानव के कर्तव्य-पालन करने की विचारतरंगें समस्त ब्रह्माण्ड के सामूहिक रूप से कर्तव्य-पालन करने की विचारतरंगों का ही एक अंश है; किन्तु, जब उसके समस्त पूर्णस्वरूप पर विचार करते हैं तब वह अंश समष्टि से अभिन्न प्रतीत नहीं होता। इस तथ्य से केवल ज्ञानी ही परिचित होता है। अतः ज्ञानी की दृष्टि में प्रत्येक व्यक्ति की (चाहे शक्ति में वह कितना ही महान् हो अथवा कितना ही लघु क्यों न हो) कर्तव्य-पालन की विचारधारा की तरंगें समस्त वैष्णवीशक्ति की विचारधाराओं की तरंगों से सम्बन्ध रखती हैं। अस्तु, स्पष्ट है कि एक व्यक्ति की विचारतरंगों की क्रिया समस्त वैष्णवीशक्ति की तरंगों के स्फुरण से होती है। इसी तथ्य को तू इस प्रकार भी कह सकता है कि जब एक व्यक्ति अपना कर्तव्य-पालन करता है तब वह समस्त वैष्णवी-शक्ति के आदेशानुसार ही कार्य करता है अर्थात् जगत की समस्त वैष्णवीशक्ति एक व्यक्ति को कर्तव्य-पालन करने के लिए आदेश देती है। चूँकि, ज्ञानी की दृष्टि में एक मानव की कर्तव्य-भावना की विचारधारा और समस्त

जगत की कर्तव्य-भावना की विचारधारा वायु के माध्यम से अविभाजित रूप में बहती रहती है, अतः उसे विश्वास होता है कि उसके निज की कर्तव्य-भावना की विचारतरंगों भी सृष्टि के आदि काल से ही समष्टि में मिली हुई बह रही हैं। क्योंकि सृष्टि के आदिकाल से ही मानव-विचारधारा की तरंगें अविभाजित रूप से वायु-मण्डल में बहती रही हैं, और आगे भी सृष्टि के अन्त तक बहती ही रहेंगी। वस्तुतः, काल की अवधि से श्वास लेने की वायु में परिवर्तन नहीं होता। साथ ही ज्ञानी अपनी कर्तव्य-भावना की विचारतरंगों को भी समस्त ब्रह्माण्ड की कर्तव्य-भावना की विचार-तरंगों से पृथक भी नहीं समझता अतः उसके दृष्टिकोण से उसकी कर्तव्य-भावना की विचारतरंगें भी सृष्टि के आदिकाल से वायु में बहती रही हैं और बहती रहेंगी। अब यह भी विचारणीय है कि जब व्यक्ति विशेष को सम्बोधित करके ज्ञानी कुछ कहता है तब वह यह भान करता है कि उसकी कर्तव्य-भावना समस्त ब्रह्माण्ड की कर्तव्य-भावना में मिली हुई पूर्ण वैष्णवीशक्ति है। साथ ही ज्ञानी के वार्तालाप का बाह्य ढंग भी साधारण व्यक्ति की भाँति ही होता है। जब ज्ञानी किसी से कुछ कहना चाहता है तब वह भी लोकाचार की दृष्टि से सर्वसाधारण की भाँति यही कहता है कि “मैं अमुक व्यक्ति से कुछ कहना चाहता हूँ।” वह यह नहीं कहता कि जगत् की पूर्ण वैष्णवीशक्ति का एक व्यक्ति को स्फुरण हो रहा है। ज्ञानी की इस आध्यात्मिक भाषा को जनसाधारण नहीं समझ सकता। चूँकि, हे अर्जुन, मुझे ज्ञानी की विशेषता प्राप्त है अर्थात् आत्मस्वरूप में स्थित रहते हुए कर्म करने का सहज एवम् स्वाभाविक अभ्यास है, अतः वर्तमान सृष्टि के आदिकाल के प्रथम शासक, विवस्वान् को कर्तव्य-पालन का उपदेश मेरे द्वारा किया जाना पूर्णतया युक्ति-संगत है। चूँकि, तू ज्ञानी की विशेषता प्राप्त करने का अभ्यास कर रहा है, अतः तुझे वैसा अभी स्पष्ट अनुभव नहीं होता है। जब तुझे भी ज्ञानी की विशेष योग्यता प्राप्त हो जावेगी तब तुझे भी मेरे द्वारा विवस्वान् को उपदेश देने पर आश्चर्य न होगा वरन् तू भी यही अनुभव करेगा कि मैंने अकेले ने ही नहीं वरन् तूने भी मेरे रूप में मिलकर विवस्वान् को स्वधर्म पालन करने का उपदेश दिया था। अब तुझे विश्वास हो गया होगा कि सृष्टि के आदिकाल से जितनी भी बार मुझे और तुझे आना पड़ा है उसके रहस्य को

मैं भली-भाँति जानता हूँ। अतः हे अर्जुन, मेरे और तेरे सृष्टि के आदिकाल से अनेक जन्म हो चुके हैं उनको मैं जानता हूँ किन्तु, हे परंतप, तू नहीं जानता। १

देखो अर्जुन, अब तुझको मैं पुनः भली-भाँति समझाने का प्रयत्न करता हूँ कि वैष्णवीशक्ति किस प्रकार अवतार धारण करती है। चूँकि यह जानकारी सूक्ष्म रूप से मनन करने पर ही प्राप्त होती है, अतः उसका बारम्बार कथन लोकहित की दृष्टि से सर्वथा उचित है।

यह तो सर्वविदित है ही कि मानवादि जीवों का इस संसार में आना और जाना बना ही रहता है। साथ ही श्वास द्वारा ली जाने वाली अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त वायु निरन्तर जीवों को प्राणान्वित करती हुई नित्य बहती रहती है। वायु का जीवों की भाँति आना और जाना नहीं होता है। इस नित्य बहने वाली वायु में अखिल ब्रह्माण्ड के प्राणियों की विचारतरंगें भरी रहती हैं। अपनी-अपनी अपूर्ण विचारधारा अथवा संकल्पों की पूर्त्यर्थ जीव जन्म लिया करते हैं, और वे अपने-अपने स्थूल शरीरों से कार्य लेते रहते हैं। जिन जीवों के शरीर बेकार हो जाते हैं उनके अपूर्ण संकल्पों की तरंगें वायु में व्याप्त हो जाती हैं और अनुकूल स्थिति प्राप्त होने पर पुनः अपना-अपना कार्य करने के लिए नवजात शरीर के मस्तिष्क के कोषों में अपना स्थान बनाया करती हैं। इस प्रकार शरीर के बदलते रहने पर भी जीवों की संकल्पतरंगें सामूहिक रूप से अखिल ब्रह्माण्ड की वायु में व्याप्त होती रहती हैं। अतः स्पष्ट है कि समस्त ब्रह्माण्ड के प्राणियों की संकल्पतरंगों में से नित्य ही कुछ भ्रूणों के शरीरों में स्थान बनाती रहती हैं तो कुछ बेकार शरीरों को छोड़ रही हैं। कुछ काम करने योग्य शरीरों को साधन बनाकर उनके द्वारा अपना-अपना कार्य सिद्ध कर रही हैं तो कुछ शरीर धारण हेतु प्रतीक्षा कर रही हैं। कुछ आसक्त हुई अपने-अपने उद्देश्य की पूर्त्यर्थ विचर रही हैं तो कुछ अनासक्तभाव से जनहित के हेतु

-
१. श्रीभगवानुवाच - बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥५॥

अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं। अस्तु, स्पष्ट है कि प्राणियों के संकल्पों की सूक्ष्म तरंगें वायुमण्डल में किसी न किसी रूप में नित्य विद्यमान रहती हैं। समस्त प्राणियों के इन संकल्पों की तरंगों का नाम त्रिगुणात्मक माया है अर्थात् सत्वगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी विचारधाराओं का सामूहिक स्वरूप ही त्रिगुणात्मक माया कहा जाता है। यह त्रिगुणात्मक माया नित्य विद्यमान रहती है, अतः यह अजन्मा कही जाती है। चूँकि त्रिगुणात्मक माया अजन्मा है, अतः उसकी सत्वगुणी वैष्णवीशक्ति की भावना भी अजन्मा है, क्योंकि वह उसका ही प्रमुख अंग है। चूँकि समष्टि रूप से वैष्णवीशक्ति अनन्त प्राणियों के शरीरों में कार्य करती है, अतः यह शंका हो सकती है कि वैष्णवीशक्ति काम करने से क्षीण हो सकती है, किन्तु ऐसा नहीं होता। क्योंकि वैष्णवीशक्ति की अनन्त तरंगें श्वास के साथ आती जाती रहती हैं। चूँकि व्यक्तियों के शरीरों में श्वास-प्रश्वास से वायु की समष्टि रूप में कोई कमी नहीं आती, अतः वैष्णवीशक्ति के समष्टि रूप में भी कोई कमी नहीं होती। उसका पूर्णरूप वैसा का वैसा ही बना रहता है। अतः उसे अव्यय अर्थात् विकार रहित कभी न घटने वाली कहते हैं। अब यह भी विचारणीय है कि वैष्णवीशक्ति का कार्य सृष्टि का पालन करना है अतः उसमें स्वामीपन का भाव आना स्वाभाविक है। चूँकि एक-एक प्राणी का, वैष्णवीशक्ति का ही एक-एक अंश पालन कर रहा है, अतः वैष्णवीशक्ति का ही एक-एक अंश एक-एक प्राणी का स्वामी है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि एक राज्य के प्राणियों का पालन करने वाला राजा उस राज्य का स्वामी होता है और चूँकि समस्त जगत के प्राणियों का सामूहिक नाम अखिल ब्रह्माण्ड है, अतः वैष्णवीशक्ति के समष्टि रूप को अखिल ब्रह्माण्ड के प्राणियों का स्वामी कहा जा सकता है। अस्तु, वैष्णवीशक्ति अज, अव्यय तथा समस्त प्राणीमात्र की स्वामिनी है। साथ ही इस वैष्णवीशक्ति में यह और भी विशेषता है कि वह आवश्यकतानुसार अपने बृहत् से बृहत् भाग को एक ही शरीर के मस्तिष्क के कोषों में अंकित कर सकती है और आवश्यकता पूर्ण होने पर पुनः पूर्ववत् वह वैष्णवी शक्ति का बृहत् भाग वैष्णवीशक्ति के समष्टि रूप में लीन हो जाया करता है। पूर्ण वैष्णवीशक्ति के इस बृहत् स्वरूप का एक प्राणी के रूप में जन्म लेने और अवसान होने का ढंग भी ठीक वैसा ही होता है जैसा कि एक मानव

का जो कि अपने अल्प संकल्पों को लेकर शरीर धारण करता है और मृत्यु को प्राप्त होता है। इसी प्रकार स्पष्ट है कि अनेक मानवों के संकल्पों को सामूहिक रूप से आधार बनाकर एक राजा अथवा समाज का नेता, एक मानव के रूप में जन्म लेकर संसार में आता है और अपने उत्तरदायित्व की लीला का निर्वाह कर पुनः समष्टि रूप से वैष्णवीशक्ति में ही लीन हो जाता है। वस्तुतः राजा या समाज-सुधारक नेता अथवा एक साधारण मानव के शरीरों की बनावट एकसी ही होती है। साथ ही उनके जन्म लेने अथवा अवसान होने की क्रिया में भी स्पष्ट रूप से कोई अन्तर नहीं होता। हाँ, केवल इतना अन्तर अवश्य अनुभव में आता है कि साधारण मानव की चर्चा एक सीमित क्षेत्र में थोड़े समय तक ही रहती है, जबकि एक राजा अथवा बड़े नेता की चर्चा बड़े क्षेत्र में होती है और अधिक काल तक रहती है। भाव यह है कि साधारण मानव की जीवनलीला समाप्त होने के उपरान्त अल्पकाल तक ही उसके थोड़े से परिचित व्यक्ति उसके गुण व दोषों की चर्चा करते हैं और राजा अथवा समाज के नेता की जीवनलीला समाप्त होने पर उसके राज्य भर में अथवा समाज के नेता के समस्त कार्य-क्षेत्र में उसके उत्तरदायित्व निभाने के ढंग तथा उसकी जीवन सम्बन्धी घटनाओं का स्मरण दीर्घकाल तक होता रहता है। अब यह भी विचारणीय है कि अहंकार का भाव संसार के बृहत् भाग में अधिक हो जाने पर लोग अहंकार के मद में चूर हुए कभी न पूरे होने वाले संकल्पों को पूर्ण करने की चेष्टा करने लगते हैं। किन्तु, जब वे पूरे होते नहीं दिखते तब वे लोग क्रोध, हिंसा, अपमान, दमन आदि की वृत्तियों को अपनाने लगते हैं। उनके दमन-चक्र से जनसाधारण व्याकुल हो आर्तनाद करने लगता है। जब उस आसुरी वृत्ति को समाप्त करने की पुकार चहुँओर से आने लगती है और तत्सम तरंगों वायुमण्डल में आच्छादित हो जाती हैं तब ज्ञानी लोगों की वैष्णवीशक्ति की सत्वगुणी विचारतरंगों जो रजोगुणी और तमोगुणी विचारतरंगों के साथ ही वायुमण्डल में सदैव व्याप्त रहती हैं उन आर्तनादों की तरंगों से अत्यन्त प्रभावित हो जाती हैं। परिणामतः ज्ञानीजनों में व्याप्त लोकसंग्रह की भावनाओं को आधार बनाकर वैष्णवीशक्ति अपनी प्रवृत्ति के अनुसार एक उपयुक्त मानव-भ्रूण के शरीर के मस्तिष्क के कोषों में स्थित होकर

उस आवश्यक लोक-हित कार्य को सम्पादित करती है, जिसकी कि माँग जनसाधारण में हो रही होती है। कार्य पूरा होने पर पुनः वह वैष्णवीशक्ति पूर्ववत् पूर्णवैष्णवीशक्ति के वायुमण्डल में लीन हो जाती है। इस प्रकार जन्म लेकर जनता के कष्ट को निवारण करना वैष्णवीशक्ति का स्वभाव है। अतः लोकसंग्रह के हेतु वैष्णवीशक्ति से स्वधर्म-पालन का आचरण स्वयं ही उपरोक्त रीति से हो जाया करता है, जैसे कि चुम्बक पथरी, लोहे की सुई या आलपिन आदि को स्वाभाविक रूप से आप ही अपनी ओर आकर्षित कर लेती है।

अस्तु हे अर्जुन, अब तुझे यह स्पष्ट हो गया होगा कि चाहे तू मुझे लोकहितार्थ वैष्णवीशक्ति कहे अथवा कृष्ण कहे एक ही बात है। क्योंकि, मेरा शरीर तो केवल साधन है जिसके द्वारा वैष्णवी-शक्ति लोकहित का कार्य निरन्तर करती रहती है। अतएव कृष्ण नाम के सम्बोधन से अभिप्राय वैष्णवीशक्ति से है। वस्तुतः इस शक्ति के रूप में, मैं अजन्मा, अविनाशी (विकार रहित) एवं प्राणी मात्र का स्वामी होते हुए भी अपनी प्रकृति या स्वभाव के कारण लोक-संग्रह के हेतु त्रिगुणात्मक माया से प्रकट हुआ करता हूँ।^१

किन्तु, यह भी विचारणीय है कि वैष्णवीशक्ति केवल एक बार ही जन्म लेती है, अथवा प्रकट होती है ऐसी बात नहीं है बल्कि इस प्रकार अपने को व्यक्त करना उसकी स्वाभाविक प्रकृति अथवा धर्म है। वस्तुतः वैष्णवीशक्ति निम्न परिस्थितियों में समय-समय पर जन्म लिया करती है जैसे-

(१) संसार के अधिकांश प्राणी अहंभाव की अधिकता के कारण जब क्षुब्ध हो उठें।

(२) जनसाधारण वैष्णवीसत्ता को भूल जावे।

(३) लोग अपने मन के अनुकूल कभी पूर्ण न होने वाले कर्मों के परिणाम प्राप्त करने के स्वप्न देखने लगें।

(४) स्वधर्म-पालन करने के हेतु जब लोग अपनी मर्यादा का उल्लंघन कर दूसरों की मर्यादा के अन्तर्गत आने वाले सुखादि भोगों को स्वयं ही भोगने का प्रयास करने लगें।

(५) लोगों की एक बृहत् संख्या को उनके धर्मानुकूल सुखादि भोगों से वंचित कर दिया जावे और वे बहुत कष्ट पाने लगें। साथ ही उनका बस उन स्वेच्छाचारी व्यक्तियों पर कुछ न चले आदि। उपरोक्त परिस्थिति के आने पर वे दुःखी लोग भगवान् को पुकारते हैं और उनके द्वारा अपनी धर्मानुसार रक्षा करवाना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में वैष्णवीशक्ति जिसका कि संरक्षण करना स्वाभाविक धर्म है, अपनी आवश्यकतानुसार लोक-संग्रह की भावना को लेकर प्रकट होती है और स्वधर्म-पालन में बाधा डालने वाली उच्छ्रंखल वृत्ति को दबा देती है।

अस्तु, हे भारत, जब-जब धर्म की हानि (अवहेलना) होती है और अधर्म की वृद्धि होती है तब-तब वैष्णवीशक्ति अर्थात् 'मैं' अपने रूप को प्रकट करता हूँ अर्थात् मानवशरीर धारण करता हूँ।^१

इस प्रकार से संक्षेप में वैष्णवी-शक्ति की विचारतरंगों का बृहत् स्वरूप आवश्यकतानुसार उपयुक्त समय आने पर एक व्यक्ति में प्रकट हो जाया करता है अर्थात् शरीर को साधन बनाकर जन्म लेता है। जन्म लेने के बाद उसके सम्मुख लोक-हितकारी तीन प्रमुख कार्य होते हैं- (१) साधुओं की रक्षा करना (२) दुष्कृतों का नाश करना (३) स्वधर्म-पालन करने की वृत्ति को प्रतिष्ठित कर उसे अधिक से अधिक व्यापक बनाना।

वैसे, कहने में तो ये तीन प्रमुख कार्य पृथक-पृथक आते हैं पर वस्तुतः स्वधर्म-पालन करने की वृत्ति को प्रतिष्ठित कर उसे अधिक से अधिक व्यापक बनाने वाले तृतीय कार्य के अन्तर्गत प्रथम व द्वितीय कार्य अर्थात् साधुओं की रक्षा करना व दुष्कृतों का नाश

करना अपने आप ही आ जाते हैं; क्योंकि, स्वधर्म-पालन करने में बुरे कर्म करने वाले लोग प्रायः बाधाएँ स्वभावतः ही डाला करते हैं। (श्रेयांसि बहु विघ्नानि) विघ्न-उत्पादक-लोगों की सत्ता के घटते ही स्वधर्मपालन करने वाले व्यक्ति सुरक्षित होकर भली प्रकार से कर्तव्य-पालन करने लगते हैं अर्थात् उनका संरक्षण होने लगता है। चूँकि वैष्णवीसत्ता को कर्मफल अर्पण कर उचित रीति से स्वधर्म-पालन करने वाले मानवों को साधु कहते हैं, अतः यह कहना कि साधुओं का संरक्षण होने लगता है यथार्थ है।

अब तू इस बात पर भी किंचित् ध्यान दे कि स्वधर्मपालन से, बुरे कर्म करने वाले लोगों द्वारा उत्पन्न बाधा से, तथा साधुओं के संरक्षण से, वस्तुतः तात्पर्य क्या है? अस्तु, सर्वप्रथम स्वधर्मपालन विषय पर विचार करा।

मानले कि एक वयस्क मानव ने जिस क्षेत्र में जन्म लिया है उस

स्वधर्मपालन

क्षेत्र के प्रति कम से कम उसका इतना उत्तरदायित्व तो आता ही है कि वह स्वयं के शरीर को स्वस्थ रखे और अपने परिवार का भरण-पोषण ईमानदारी से श्रम करके इस प्रकार कर सके कि उसके बाल-बच्चे उचित शिक्षा प्राप्त कर योग्य एवं सदाचारी नागरिक बन सकें। साथ ही उसको, उसकी पत्नी को तथा उससे सम्बन्धित परिवार के अन्य व्यक्तियों को सद्गृहस्थ के आवश्यक कर्तव्यों के निर्वाह करने में अनावश्यक कठिनाई न उठाना पड़े। इतना ही नहीं वरन् वह अपने उत्तरदायित्व का पूर्णरूपेण निर्वाह करते हुए अपने पड़ोसियों तथा अतिथियों का भी एक सीमा तक सहायक हो सके। किन्तु, एक सद्गृहस्थ के नाते तुझे अनुभव होगा कि इस उत्तरदायित्व का भली प्रकार निर्वाह करने में यानी स्वधर्म पालन करने में सद्गृहस्थ को प्रायः अशान्ति का भी सामना करना पड़ता है। यह अशान्ति दो प्रकार से आती है।

(१) निजी परिवार के कारण से (२) अन्य लोगों के कारण से। निजी परिवार के कारण उत्पन्न अशान्ति को तू भीतरी अशान्ति कह सकता है।

भीतरी अशान्ति प्रायः उस समय व्यक्ति को अनुभव में आती है जबकि उसके निजी परिवार के लोग उसके आदेशानुकूल आचरण नहीं करते। चूँकि प्रत्येक व्यक्ति का काम करने का एक निजी ढंग होता है, अतः एक व्यक्ति स्वधर्म-पालन करने के लिए उन व्यक्तियों को जिनके कि प्रति वह उत्तरदायी है, अपने ढंग से चलाना चाहता है। किन्तु, उन व्यक्तियों की प्रकृति उसकी प्रकृति से भिन्न है, अतः वे उसके आदेशानुसार नहीं चलते। वे अपने ढंग से चलते हैं और उसे भी अपने अनुसार चलाना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में एक दूसरे के विचारों में मतभेद होने लगता है। यह मतभेद इतना बढ़ जाता है कि परस्पर मनमुटाव हो जाता है। परिणामस्वरूप घर में कलह उत्पन्न हो जाती है और जीवन-निर्वाह करना कठिन हो जाता है। अब दूसरी अशान्ति पर विचार कर, यह अशान्ति परिवार के लोगों के अतिरिक्त अन्य लोगों के कारण प्रायः आया करती है। अन्य लोगों के द्वारा उत्पन्न की गई अशान्ति को तू बाहरी अशान्ति कह सकता है।

बाहरी अशान्ति मानव को तब अनुभव में आती है जबकि बाहरी लोग उसके व्यवस्थित जीवन पर ईर्ष्या, द्वेष अथवा अन्य कारणों से आघात करने लगते हैं और वह व्यक्ति उन लोगों के आघातों का निराकरण करना अपनी सामर्थ्य से बाहर समझने लगता है। ये आघात इस प्रकार के हो सकते हैं जैसे घर में चोरी हो जाना, परिवार के किसी व्यक्ति (स्त्री, पुत्रादि) का बलपूर्वक अपहरण हो जाना, जमीन आदि का अन्यायपूर्वक छीना जाना अथवा यज्ञ आदि जैसे गृहस्थोचित कार्य के सम्पादन करते समय नाना प्रकार के विघ्नादि का डाला जाना आदि।

यदि यह भीतरी और बाहरी अशान्ति दूर हो जावे तो मानव सुखी होकर प्रसन्नतापूर्वक स्वधर्म-पालन कर सकता है। चूँकि, भीतरी अशान्ति का सम्बन्ध स्वयं से ही है, अतः ज्ञान प्राप्त होते ही अशान्ति दूर होने लगती है। यहाँ ज्ञान से तात्पर्य केवल इतना ही समझ कि तुझमें कर्त्तापन का भाव न आने पावे। तू यह भली

प्रकार से जानता है कि जिसको तू अपना कहता है उसी के विपरीत आचरण से प्रायः तुझे दुःख होता है। किन्तु, जिसको तू अपना नहीं कहता उसके विपरीत आचरण का तुझ पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। इसी प्रकार एक व्यक्ति की लाखों रुपये की हानि हो जावे तब भी उससे सम्बन्धित व्यक्तियों को छोड़कर अन्य लोगों पर उस हानि का कोई प्रभाव नहीं होता। अस्तु, यदि ज्ञान अर्थात् कर्तृत्व भावना से रहित आचरण के द्वारा जब यह समझ में आ जावे कि जैसे सब जीव भगवान् के हैं, वैसे ही तेरे परिवार के भी प्राणी उन्हीं भगवान् के हैं तब तेरे परिवार के प्राणियों की गणना भगवान् की भक्त-मण्डली में हो जावेगी, जो अपने-अपने कर्मानुसार अपना-अपना अभिनय करने आये हैं। कोई पिता का अभिनय कर रहा है तो कोई माता का, कोई पत्नी का, तो कोई भाई का, कोई पुत्र का तो कोई पुत्रवधू का, इस प्रकार सभी कुटुम्बी अपने-अपने अभिनय द्वारा भगवान् का काम कर रहे हैं। भगवान् अन्तर्यामी हैं। वे सबको उनके आचरणों के अनुसार पुरस्कार अथवा दण्ड देंगे। इस विचारधारा से एक पिता का धर्म, पिता का पूरा कर्तव्य-पालन करना है। यदि पुत्र अपना अभिनय ठीक-ठीक नहीं करता है तो भगवान्, सूत्रधार के रूप में उसे ताड़ना देंगे। इस वृत्ति से पिता जीवन भर पुत्र के द्वारा विपरीत आचरण होने पर भी स्वधर्म-पालन में त्रुटि नहीं करेगा और सदैव प्रसन्नचित्त से धैर्यधारण कर अपने कर्तव्य पर ही ध्यान रखेगा। इस प्रकार अपने स्थान पर भगवान् को कर्त्ता बना देने से व्यक्ति को अहंभाव छू भी नहीं सकता; और ऐसी दशा में उसे भीतरी अशान्ति नहीं रहेगी। कर्तव्य-पालन करना, भगवान् की पूजा बन जायेगी। अब तू किंचित् बाहरी अशान्ति पर विचार कर। बाहरी अशान्ति उस समय दूर होती है जबकि जिस कारण से अशान्ति उत्पन्न हुई है वह इतना रूप धारण करले कि उसका निराकरण करना जनसमूह की शक्ति के बाहर हो जावे। तब उस पीड़ित जनसमूह की पुकार से प्रभावित होकर वैष्णवीशक्ति व्यक्ति विशेष के रूप में जन्म लेकर अपने अलौकिक कौशल से उस पीड़ा पहुँचाने वाले कारण का अन्त कर देती है, अर्थात् अत्याचारियों के अहंकार का अन्त कर देती है। इन दोनों प्रकार की यानी भीतरी और बाहरी अशान्ति की जड़ में यदि देखा जाय तो अज्ञानपूर्ण फलेच्छा से आच्छादित अहंकार ही दिखेगा

जिसके प्रबल हो जाने से बुद्धि चंचल हो जाती है और मानव को अशान्त करके दुःखी बना देती है। यदि मानव को स्वयं के शरीर की रचना का पूर्णज्ञान हो जावे तो वह अपने अहंकारपूर्ण उत्तरदायित्व को त्रिगुणात्मक माया का ही उत्तरदायित्व है, ऐसा अनुभव करने लगेगा। उसका स्वधर्म-पालन उसके निज के हित के लिए न होकर लोक-संग्रह के लिए होने लगेगा। इस प्रकार स्वधर्म-पालन तो होगा ही, पर अहंभाव दूर हो जाने से अनुकूल स्थिति के अभाव में भी बुद्धि स्थिर रहेगी। साथ ही यह भी तू स्पष्ट समझ ले कि कर्म का परिणाम सदैव निश्चित होता है देर से हो या शीघ्र, केवल इसकी जानकारी मात्र व्यक्ति को नहीं है। अतएव धैर्य से कठिनाईयों को सहते हुए व्यक्ति को कर्तव्य-पालन करते रहना ही चाहिए और विघ्नों को निरन्तर हँसते-हँसते दूर करने में भी कसर नहीं रखना चाहिए।

अब तुझे यह भी जान लेना आवश्यक है कि विघ्न उपस्थित करने वाले व्यक्तियों तथा उनके द्वारा किये जाने वाले दूषितकर्मों का स्वरूप कैसा होता है। इस जानकारी से ही युक्तिपूर्वक उन पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

देखो अर्जुन, दूषितकर्म होता तो कर्म ही है पर वह दूषित किस

दूषित कर्म का
स्वरूप

प्रकार से हो जाता है यह जान लेना ही दूषितकर्म के स्वरूप को जानना है। दूषितकर्म करने वालों के आचरण का उल्लेख मैं फिर

तुझसे विस्तारपूर्वक कहूँगा कि -

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।

माययापहतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥ (अ. ७ श्लोक १५)

अर्थात् दूषितकर्म करने वाले लोगों का ज्ञान संसार की माया द्वारा हर लिया जाता है और वे स्वयं अपने को ही ईश्वर मानते हैं और इसी वृत्ति के आश्रित रहते हैं। ऐसे नराधम मूढ़ मेरे को नहीं भजते अर्थात् मेरे अस्तित्व या मेरी वैष्णवीशक्ति को नहीं मानते। किन्तु, इस समय तो तू इसी तथ्य पर ध्यान दे और तुझे भी सम्भवतः ऐसा अनुभव में आया होगा कि दूषितकर्म करने वाले लोग

सर्वप्रथम भगवान् की यानी वैष्णवीशक्ति की सत्ता के स्वामित्व का ही प्रायः बहिष्कार करते हैं। परिणामतः वे स्वयं अपने को कर्म का कर्त्ता-धर्ता मानने लगते हैं। संक्षेप में, मेरे कहने का तात्पर्य यही है कि दूषितकर्म करने वाले लोग जिस काम को करते हैं उसमें उन्हें यह नहीं दिखलाई देता कि वस्तुतः वह काम प्रकृति या त्रिगुणात्मक माया द्वारा किया जा रहा है। क्योंकि, इस तथ्य का उन्हें ज्ञान ही नहीं है और न उनको मेरे उपासकों की भाँति यह जँचता है कि कर्म का कर्त्ता मैं हूँ अर्थात् भगवान् है। अतः वे स्वयं अपने को ही सर्वशक्तिमान समझते हैं। इस प्रकार उन्हें अपनी शक्ति महान् प्रतीत होती है, यद्यपि वह होती है अत्यन्त अल्प मात्रा में। अतएव वे लोग मद से मतवाले होकर स्वेच्छाचारी जीवन व्यतीत करते हैं एवं अन्य दूसरे लोगों के प्रति वे सहानुभूति नहीं रखते। वे उन्हें अपने भोग-विलास की सामग्री समझते हैं और उनका दुरुपयोग करते हैं। उनकी सम्पत्ति, स्त्री, भूमि आदि के अपहरण में उन्हें कुछ भी संकोच नहीं होता। इस प्रकार वे अपने विरोधीतत्व का वायुमण्डल निर्माण करने लगते हैं। जब यह विरोधीतत्व अत्यन्त प्रभावशाली हो जाता है तब वैष्णवीशक्ति (भगवान् के रूप में) प्रकट होकर यानी जन्म लेकर उन दूषित कर्म करने वाले अहंकारियों को नष्ट कर देती है। अस्तु, भगवान् को बिना कर्मफल अर्पण किए जब कोई कर्म किसी उद्देश्य की पूर्त्यर्थ अहंकार से किया जाता है तब वह कर्म दूषित हो जाता है और उस कर्म का करने वाला दूषितकर्म करने वाला कहा जाता है। क्योंकि उस कर्म के द्वारा वह दुष्कृती अन्त में स्वयं भी दुःख पाता है और जहाँ तक उसका क्षेत्र है वहाँ तक के लोगों को भी पीड़ा पहुंचाता है। अतः, हे अर्जुन, अब तुझे भली-भाँति समझ में आ गया होगा कि कर्म करते समय उस कर्म के करने में अहंभाव यानी 'मैं पन' लाने से कर्म दूषित हो जाता है और ऐसे अहंकारी को ही दुष्कृती कहते हैं। अब तू यह भी समझ ले कि साधु किसे कहते हैं और उनके संरक्षण से क्या अभिप्राय है।

गृहस्थ धर्म का परित्याग कर जो व्यक्ति विशेष भेष में रहता है, साथ ही जिसकी दिनचर्या में विशेष रूप से भजन-पूजन का ही प्रमुख

स्थान है उस व्यक्ति को प्रायः लोग साधु कहा करते हैं। परन्तु तू उस व्यक्ति को भी साधु ही समझ जो यह भली प्रकार से जानता है कि त्रिगुणात्मक माया ही वस्तुतः कर्म को करने वाली है, वह स्वयं नहीं। अतएव लोक-संग्रह के निमित्त भी जो कर्म उससे किये जाते हैं, उन्हें वह प्रकृति का ही स्वाभाविक स्वधर्म मानता है। अस्तु, उसे कर्म के फल की अभिलाषा नहीं होती। साथ ही तू यह भी जान ले कि जो व्यक्ति कर्म तो करता है परन्तु उसके फल को वह भगवान् के अर्पण करने की दृढ़ भावना रखता है, ऐसा व्यक्ति भी कर्म के फल से मुक्त हो जाता है। ऐसे व्यक्तियों को भी साधु ही समझना चाहिए। उपरोक्त दोनों रीतियों से कार्य करने में अहंकार नहीं आता। साथ ही स्वधर्म-पालन रूप कर्म भी भली प्रकार से हो जाता है। क्योंकि, पहली रीति में लोक-संग्रह के लिए कर्म करने वाली प्रकृति निमित्त हो जाती है और दूसरी रीति में भगवान् को निमित्त बना दिया जाता है। इस प्रकार अहंकार या 'मैं पन' की भावना से रहित होकर जो व्यक्ति कर्म करते हैं वे सब ही साधु हुआ करते हैं। इस तथ्य को मैं तुझे फिर प्रसंगानुसार आगे कहूँगा कि -

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।

साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।

कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥ (अ. ६ श्लोक ३०-३१)

अर्थात् चाहे कैसा भी दुराचारी यानी अहंकारी व्यक्ति क्यों न हो जैसे ही वह अपनी अहंकारवृत्ति यानी दुराचार को छोड़ता है और अनन्यभाव से कर्मफल मुझे समर्पण करने वाला मेरा भक्त बन जाता है, वैसे ही तत्काल वह साधु हो जाता है। क्योंकि, उसका निश्चय यथार्थ है, वह कभी असत्य न होगा। इसलिए वह धर्मात्मा शीघ्र हो जाता है और सदा रहने वाली शान्ति को प्राप्त हो जाता है। हे अर्जुन, तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता, अर्थात् अहंकार रहित होते ही जो शान्ति आती है वह कभी भंग नहीं होती। हाँ, एक बात और तुझे जान लेना चाहिए कि साधु-वृत्ति से

कर्म करने में प्रायः विघ्न कैसे आ जाते हैं और वे विघ्न कैसे दूर किये जाते हैं।

जब व्यक्ति साधु-वृत्ति से स्वधर्म-पालन रूप कर्म करते हैं तब प्रायः देखने में आता है कि दूषितकर्म करने वाले लोग उनके मार्ग में विघ्न उपस्थित कर दिया करते हैं। साथ ही साधु-वृत्ति वाले व्यक्तियों को नाना प्रकार से पीड़ा भी पहुंचाते हैं। जैसा कि प्रायः तेरे देखने में भी आया होगा कि एक साधु-वृत्ति वाला कोई राज्य अधिकारी है जो न तो स्वयं घूस लेता है और न अपने आधीन कर्मचारियों को घूस लेने देता है। साथ ही वह साधु-वृत्ति अधिकारी अपने कर्मचारियों को घूस न लेने के सम्बन्ध में समझाता भी बहुत है। किन्तु, घूस परित्याग करने की बात उनकी समझ में नहीं आती, क्योंकि, उनमें कुसंस्कारों की भावना अति प्रबल है। वे अपने हितेच्छु अधिकारी की सद्भावना पर ध्यान नहीं देते। वे कर्मचारीगण उस अधिकारी की टीका-टिप्पणी करते हैं। उनकी दृष्टि में वह अधिकारी उनके घूस द्वारा अर्थसंचय रूप स्वार्थ के पूर्ण होने में रोड़े अटकाता है अतः वे उसका स्थानान्तर कराने का अथवा उसे पदच्युत कराने का षड़यन्त्र रचते हैं। कार्यालय सम्बन्धी उसके दैनिक कामों को विधिवत् चलाने में भी वे अनेक प्रकार से विघ्न उपस्थित करते हैं। इतना ही नहीं वरन् उस अधिकारी को सब प्रकार से हानि पहुंचाने लगते हैं। चूँकि वे संख्या में अधिक होते हैं और उनके साथ उन्हीं जैसी मनोवृत्ति वाले अन्य व्यक्ति भी उनमें मिल जाते हैं तब वे मिलकर ऐसा संगठित षड़यन्त्र रच देते हैं कि उस अधिकारी को विवश होकर या तो त्याग-पत्र देना पड़ता है अथवा वरिष्ठ अधिकारी उसे सेवामुक्त कर देते हैं। कभी-कभी तो विचारे अधिकारी को कारागृह तक देख आने की नौबत आ जाती है। इसी प्रकार से अनेक साधु-वृत्ति वाले व्यक्ति जब अपने-अपने सद्गुणों को कार्यरूप में परिणत करते हैं तब प्रबल कुसंस्कारी तत्व अपने स्वभाव से विवश होकर उसके विरुद्ध खड़ा हो जाता है। परिणामस्वरूप संसार उनके असद् आचरण से त्रस्त हो उठता है। ऐसी स्थिति में पहले तो स्वधर्म-पालन करने वाले साधु लोग उन दुष्टजनों को सुमार्ग पर लाने का ही भरसक प्रयत्न करते हैं किन्तु जब उन पर नियन्त्रण करने में वे असमर्थ हो जाते हैं तब वे साधु-वृत्ति वाले सज्जन सामूहिक रूप से बड़ी वैष्णवीशक्ति को जिसका कि गुण ही

सृष्टि का पालन करना है, आमन्त्रित करते हैं। अतः वायुमण्डल में बिखरी हुई वैष्णवीशक्ति की अनन्त विचारधाराएँ जो तरंगों के रूप में होती हैं अपने लोकहित के स्वभाव से परवश हुई आवश्यक संख्या में एकत्रित होकर योग्य माता को प्रेरित करती हैं। जब माता उनके प्रभाव से सुसंस्कृत हो जाती है तब माता के निरन्तर तत्सम्बन्धी-चिन्तन से वे तरंगें उस माता के गर्भस्थ-भ्रूण के मस्तिष्क में अपने चिह्न बना लेती हैं। जब शक्तिशाली तरंगों के संस्कार से सम्पन्न वह भ्रूण जन्म लेता है तब उन शक्तिशाली अधर्मी विघ्न पहुँचाने वालों का वह अन्त कर देता है। विघ्न का अन्त होते ही साधु पुनः स्वधर्म-पालन करने लगते हैं। वैष्णवीशक्ति का इस प्रकार का संरक्षण-कार्य वस्तुतः साधु-संरक्षण कहलाता है।

अस्तु हे अर्जुन, अब यह तथ्य तुझे भली प्रकार से स्पष्ट हो गया है कि पूर्णवैष्णवीशक्ति की बिखरी हुई विचारतरङ्गों से व्याप्त वायुमण्डल में से आवश्यकतानुसार संरक्षण देने वाली विचारतरङ्गों का एक समूह पीड़ित लोगों की पुकारों के परिणामस्वरूप एकत्रित हो जाता है और एक सुसंगठितशक्ति के रूप में एक मानव का शरीर धारण कर लेता है अर्थात् जन्म लेकर दुष्ट लोगों को नष्ट कर साधु-संरक्षण करता है। जनसाधारण उसके अलौकिक संरक्षण कृत्य से उसे अवतारी महापुरुष कहा करते हैं।

अस्तु, मेरी वैष्णवीशक्ति, जब-जब उसके जन्म लेने के उपरोक्त कारण उपस्थित हो जाते हैं, तब-तब ही वह साधुओं को संरक्षण देने, दुष्टजनों का विनाश करने तथा स्वधर्म-पालन करने की वृत्ति को प्रतिष्ठित कर अधिक से अधिक व्यापक बनाने हेतु एक अवतारी महापुरुष के रूप में प्रकट होती है अर्थात् मैं जन्म लेता हूँ।'

9. परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥८॥

वस्तुतः वह व्यक्ति ज्ञानी है जो इस तथ्य से भली-भाँति परिचित है कि

स्वधर्म-पालन की वृत्ति को प्रतिष्ठित करने के हेतु आवश्यकतानुसार पूर्ण वैष्णवीशक्ति का एक प्रमुख भाग, एक मानव के रूप में प्रकट होता है एवं अभीष्ट लक्ष्य को सम्पादित कर पुनः वैष्णवीशक्ति के समष्टि रूप में लीन हो जाता है। निस्सन्देह, ज्ञानी में कर्त्तापन नहीं होता। उसकी दृष्टि में जगत का समस्त व्यापार त्रिगुणात्मक माया का ही खेल है। अतः स्पष्ट है कि ज्ञानी पूर्णायु भोगने के उपरान्त जब शरीर को छोड़ देता है, तब वह लोक-संग्रह के निमित्त वैष्णवीशक्ति के कार्य सम्पादन हेतु भले ही आवश्यकतानुसार दूसरा शरीर धारण करना चाहे तो कर सकता है अन्यथा वह जन्म नहीं लेता। चूँकि जन्म का कारण संकल्प है और ज्ञानी का कोई संकल्प ही नहीं होता, अतः उसके पुनर्जन्म का प्रश्न ही नहीं उठता। अस्तु, हे अर्जुन जो व्यक्ति मेरे अथवा वैष्णवीशक्ति के प्रमुख भाग के जन्म तथा अलौकिक कर्म को इस प्रकार तत्व से जानता है वह शरीर छोड़ने के उपरान्त जन्म नहीं लेता। वस्तुतः वह मेरे को ही प्राप्त होता है, अर्थात् उसका स्वभाव और मेरा स्वभाव एक-सा ही हो जाता है। जैसे मेरी दृष्टि में लोक-संग्रह मेरा स्वधर्म है वैसे ही लोक-संग्रह उसका भी स्वाभाविक स्वधर्म हो जाता है।^१

देखो अर्जुन, लोक-संग्रह की भावना से कर्म करने के इस सिद्धान्त का केवल मैं ही प्रतिपादन कर रहा हूँ ऐसी बात नहीं है। सत्य तो यह है कि मुझसे पहले भी राग, भय और क्रोध से रहित मेरे ही परायण हुए बहुत से लोगों ने आवश्यकता से भी अधिक श्रम करके ज्ञानी के भाव से कर्म करने का आचरण करके दिखलाया है। इस प्रकार उन्होंने ज्ञानरूप तप से अपने को पवित्र बनाया था। वस्तुतः किसी उद्देश्य के निमित्त आवश्यकता से अधिक श्रम करना तप कहलाता है, जिसके करने से मानव पवित्र हुआ करता है। अतः वे ज्ञान-रूप तप द्वारा पवित्र होकर मेरे स्वरूप को अर्थात् वैष्णवीशक्ति के भाव को प्राप्त हो चुके हैं।^२

१. जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥६॥
२. वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥१०॥

देखो अर्जुन, यह सर्वविदित है कि एक व्यक्ति को किसी सिद्धान्त के विषय में जितनी जानकारी होती है उसी अनुभव के अनुसार ही वह व्यक्ति उस सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। अस्तु, जिस व्यक्ति को यह विदित है कि वैष्णवीशक्ति सृष्टि का पालन करती है वह व्यक्ति भली-भाँति जानता है कि वैष्णवीशक्ति ही सृष्टि रचना के समस्त कर्मों की करने वाली है किन्तु, इस तथ्य को सर्वसाधारण नहीं जानता। अतः जनसाधारण वैष्णवीशक्ति की शरण में न जाकर अपनी समझ के अनुसार जिस देव आदि को वह कर्त्ता मानता है उसकी शरण में जाता है जबकि वास्तव में कर्त्ता वैष्णवीशक्ति ही है जिसे अपने इष्टदेव के रूप में अज्ञान से माना है। इस प्रकार वस्तुतः वह वैष्णवीशक्ति की ही शरण में जाता है। अस्तु, स्पष्ट है कि वह अपनी निष्ठा के अनुसार अपने निर्दिष्ट कर्त्ता के रूप में वस्तुतः मेरी ही (वैष्णवीशक्ति की) शरण में जाता है और मैं भी उसी निर्दिष्ट कर्त्ता के रूप में उसका मनोरथ सिद्ध कर देता हूँ। भाव यह है कि चाहे जिस प्रकार भी प्राणी मुझे भजे मैं उसका उसी भाव के अनुसार सदैव स्वागत करता हूँ। किन्तु, जो बुद्धिमान मनुष्यगण वैष्णवीशक्ति के रहस्य को जानते हैं, वे सदैव वैष्णवीशक्ति की ही शरण में सर्व प्रकार से जाते हैं, और उसी के मार्ग के अनुसार आचरण करते हैं। परिणामतः वे मेरे ही भाव को प्राप्त हो जाते हैं।^१

परन्तु, इस संसार में बहुधा तू यही देखता है कि लोग प्रायः अपनी कामनाओं की सिद्धि के हेतु धनी मानी देवताओं की याचना करते हैं और उनसे उनकी कर्मानुसार उत्पन्न हुई याचनाएँ शीघ्र पूरी भी हो जाया करती हैं।^२ अतः वे वैष्णवीशक्ति की उपासना नहीं करते अर्थात् वे वैष्णवीशक्ति के रहस्य को जानने की चेष्टा नहीं करते। किन्तु, तू विचार कर कि क्या इन देवताओं से उनकी समस्त याचनाओं का अन्त हो जाता है?

१. ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥११॥
२. काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥१२॥

इसके उत्तर में तुझे यही कहना पड़ेगा कि याचनाओं का अन्त होना तो दूर रहा, वे और-और अधिक-अधिक ही बढ़ती रहती हैं। अतः स्पष्ट है कि समस्त याचनाएँ तो कभी पूर्ण नहीं होतीं और ऐसे व्यक्ति भिक्षुक बने सदैव ही देवताओं के सन्मुख जिन्हें तू धनी मानी व्यक्ति भी कह सकता है, हाथ जोड़े खड़े दिखाई देते हैं। अतः बुद्धिमान वह है जो कर्मों के फलों की इच्छा को ही ज्ञान द्वारा त्यागकर पूर्ण शान्ति का अनुभव करे और याचनाओं से सदैव के लिए अपना पिण्ड छुड़ा ले। वास्तव में इस प्रकार ज्ञानी वह है जो लोक-संग्रह की भावना प्राप्त कर अज्ञानियों की भी याचकवृत्ति दूर कर सके।

अब, अर्जुन, तुझे मैं यह भी बतला देना आवश्यक समझता हूँ कि वैष्णवीशक्ति अर्थात् “मैं” किस प्रकार सृष्टि के पालन की व्यवस्था के हेतु समस्त व्यक्तियों को उनकी प्रकृति के अनुसार चार वर्णों में विभाजित करता हूँ।

हे अर्जुन, वस्तुतः मेरा स्वभाव ऐसा हो गया है कि मैं सदैव ही पूर्ण वैष्णवीशक्ति में अपने आपको अर्थात् अपनी सीमित वैष्णवीशक्ति को लीन हुए देखता हूँ। अतः त्रिगुणात्मक माया को मुझे “मैं” सम्बोधन करने में प्रयत्न नहीं करना पड़ता। अतः मेरे द्वारा अथवा मैं कह कि त्रिगुणात्मक माया रूपी वैष्णवीशक्ति द्वारा यह जो मानवों की सृष्टि रची हुई है उसमें वैसे तो प्रायः यही देखने में आता है कि प्रत्येक मानव भिन्न-भिन्न प्रकृति का है किन्तु उनके गुणों और कर्मों की अधिकता को दृष्टि में रखकर यदि उनके समुदाय बनावें तो वे चार वर्ण के यानी चार भाँति के बनावे जा सकते हैं जिन्हें तू चार रङ्ग के अथवा चार ढंग के भी कह सकता है। प्रथम भाँति में वे मानव गिने जा सकते हैं जो गुणातीत अवस्था में पहुँच गये हैं तथा लोक-संग्रह के हेतु कर्म कर रहे हैं। द्वितीय भाँति के मानवों में तू उन मानवों को मान सकता है जिनमें सत्वगुणीभाव अधिक है जो आसक्त हुए कर्म तो करते हैं, किन्तु कर्म के फल को अपने इष्टदेव को समर्पण करने का प्रयत्न करते हैं। तीसरी भाँति में वे मानव माने जा सकते हैं जो अधिकांश में अहंकार युक्त रजोगुणी कर्म करते हैं साथ ही वे इस दृष्टि

सृष्टि का चार वर्णों
में विभाजन

से कि लोग उन्हें सज्जन कहें कुछ सत्वगुणी कर्मों को भी करने की चेष्टा करते हैं और चौथी भाँति के वे लोग होते हैं जो प्रायः ऐसे तमोगुणी कर्म करते हैं जिनसे उनके आस-पास के लोग त्रस्त हो जाते हैं परिणामतः उनका चारों ओर से विरोध हुआ करता है। इस प्रकार चार प्रकार की सृष्टि रची जाने से मुझपर कर्त्तापन का आरोप किया जा सकता है। किन्तु, मेरी प्रकृति गुणातीत-अवस्था में रहने की इतनी अभ्यस्त हो चुकी है कि मैं नित्य ही आत्मस्वरूप में स्थिर रहता हूँ। अतः त्रिगुणात्मक माया के सृष्टि-सृजन का कार्य मुझे स्पष्ट प्रतिक्षण अनुभव करने में कठिनाई नहीं आती। साथ ही मैं आसक्ति रहित दृष्टा बना हुआ आत्म-स्वरूप में स्थिर बना रहता हूँ। अतः, हे अर्जुन, त्रिगुणात्मक मायारूपी वैष्णवीशक्ति को जिस क्षण मैं अपनी प्रकृति के रूप में अनुभव करता हूँ उस क्षण तो मैं सृष्टि की रचना करने वाला हूँ, ऐसा मुझे प्रतीत होता है, किन्तु जब मैं गुणातीत अवस्था में यानी आत्म-स्वरूप में स्थित हुआ अपने को अनुभव करता हूँ तब मैं सृष्टि रचना के कार्य से अपने को पृथक् अनुभव करता हूँ। ऐसी स्थिति में यह आरोप लगाना कि मैं ही सृष्टि रचता हूँ, सर्वथा असंगत है। इस प्रकार हे अर्जुन, गुण और कर्मों के विभाग से मानव, चार वर्ण के, मेरे द्वारा (मेरी प्रकृति द्वारा) रचे गये हैं। यद्यपि मैं उनका कर्त्ता दिखाई देता हूँ तथापि मुझ अविनाशी को तू अकर्त्ता ही जाना।

अस्तु, अब तू यह तथ्य भली प्रकार समझ गया होगा कि किस प्रकार मैं सृष्टि का रचने वाला कहे जाने पर भी सृष्टि को नहीं रचता। क्योंकि, गुणातीत अवस्था में रहने से मैं कर्मों में लिप्त नहीं रहता और जो कर्म में ही लिप्त नहीं है वह कर्म के फल की इच्छा कर ही कैसे सकता है। चूँकि मुझे कर्मों के फल की इच्छा नहीं है, अतः कर्म मुझे लिपायमान नहीं करते। इस प्रकार से जो भी व्यक्ति ज्ञान

१. चातुर्वर्ण्यमया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥१३॥

प्राप्त कर त्रिगुणात्मक माया को कर्मों का कर्त्ता जानने लगता है वह भी

मेरी ही भाँति कर्मों के बन्धन में नहीं आता।^१

पूर्वकाल में भी जितने जीवन्मुक्त पुरुष हो गये हैं उन्होंने भी इसी गुणातीत स्थिति की पद्धति का अनुसरण कर धर्म किए हैं अतः ऐसा पूर्वजों का श्रेष्ठ, कर्म-बन्धन से मुक्त कराने वाला आचरण सदैव अनुकरणीय है। अस्तु, तू भी पूर्वजों द्वारा सदा से आचरण में लाये हुए कर्म को ही करा।^२

यह तो तुझे विदित है ही कि कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाने को संसार-बन्धन से मुक्त हो जाना कहते हैं। अतः कर्म-बन्धन से मुक्त होने के लिए कर्म की जानकारी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्रायः बुद्धिमान् लोग भी इस विषय में मोहित हो जाते हैं और वे कर्म के तत्व को भली प्रकार नहीं समझ पाते। अतः हे अर्जुन, इस गहन विषय को तू अच्छी तरह समझ ले कि कर्म क्या है और अकर्म क्या है। अतएव तुझे कर्म का तत्व अच्छी तरह कहूँगा जिसको जानकर तू अशुभ अर्थात् कर्म-बन्धन से छूट जायगा।^३

अस्तु, तुझे कर्म का स्वरूप जानना चाहिए और विकर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए। साथ ही अकर्म का स्वरूप भी समझना चाहिए क्योंकि कर्म की गति गहन है।^४

देखो अर्जुन, वैसे तो संक्षेप में प्रत्येक व्यक्ति से यह आशा की जाती है कि उसके द्वारा जो कर्म किये जावें वे कर्म उस समाज की

१. न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥१४॥
२. एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥१५॥
३. किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥१६॥
४. कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥१७॥

जिसमें कि वह रहता है, निर्धारित सीमा के अन्तर्गत हों, साथ ही जो

व्यक्तिगत धर्म के सम्बन्ध में उसकी धारणा हो उसके विरुद्ध न हों, एवं उन कर्मों से शासन-व्यवस्था भी भंग न हो; ऐसे कर्म सभी करने योग्य हैं। किन्तु, जिन कर्मों को करते समय व्यक्ति को सामाजिक लज्जा का, व्यक्तिगत धार्मिक नियमों के भंग होने का अथवा शासन के दण्ड का भय उपस्थित हो जावे, वे सभी कर्म न करने योग्य हैं यानी निषिद्ध कर्म हैं समाज में लज्जित होने के कर्म इस प्रकार के होते हैं जैसे कि बच्चों को शिक्षा दिलाने में लापरवाही करना, परिवार के भरण-पोषण के लिए आवश्यक धनार्जन की चेष्टा न करना, आये हुए अतिथि के सत्कार में अरुचि दिखाना, परिवार के व्यक्तियों की बीमारी आदि दूर करने में लापरवाही करना, सम्बन्धित समाज के दुःख-सुख के सामूहिक कार्यों में जैसे दाह-संस्कार अथवा विवाहादि कार्य में उचित भाग न लेना आदि। अब, तू ऐसे कर्मों के विषय में भी जान ले जिनके करने से शास्त्र-नियम के भंग होने की शङ्का अपने मन में उपस्थित हो जाती है। वे कर्म ऐसे हो सकते हैं जैसे जिह्वादि इन्द्रियों के स्वाद के वशीभूत हो स्वादिष्ट आहारादि आवश्यकता से अधिक करके आरोग्य की अवहेलना करना; देश, काल, परिस्थिति के अनुसार आवश्यक नित्य नियम पालन करने में शिथिलता लाना; सद्-साहित्य के पढ़ने में अथवा सत्सङ्ग करने में टाल-मटोल करना तथा अनुपयोगी प्रकरणों की चर्चा में रुचि रखना आदि।

अब तू कुछ ऐसे कर्मों के विषय में भी जान ले जिनके करने में कुछ न कुछ राज्य-दण्ड का भय उत्पन्न हो जाता है। वे कर्म ऐसे हो सकते हैं जैसे घूस लेना, बिना पूछे या बलपूर्वक किसी अन्य के अधिकार की वस्तु पर अपना अधिकार कर लेना, क्रोध के आवेश में अन्य व्यक्तियों को अपमानित करना अथवा शारीरिक यातना देना, वर्जित हड़ताल आदि में सम्मिलित होना आदि। संक्षेप में, तू यूँ कह सकता है कि जो कर्म, व्यक्ति से सम्बन्धित समाज या उसकी धार्मिक भावना के विपरीत हों अथवा जिन पर लोक-हित की दृष्टि से शासन ने प्रतिबन्ध लगा दिया हो उन्हें निषिद्ध कर्म कहते हैं।

इस प्रकार से तूने करने योग्य और न करने योग्य कर्म की केवल संक्षिप्त जानकारी अभी सुनी है। अब कर्म की गहराई में यदि तू उतरे तो तुझे विदित हो जावेगा कि वस्तुतः कर्म करने की प्रणाली

आना ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि, तू जानता तो है कि अमुक कर्म अच्छा है किन्तु, यह नहीं जानता कि उसे किस प्रकार किया जाय जिससे वह कर्म विशुद्ध, सार्थक एवं सिद्ध हो सके अर्थात् करने योग्य कर्म को व्यक्ति किस ढंग से करे कि जिससे उसमें अकर्मण्यता यानी निकम्मापन न आने पावे अर्थात् कर्म तो करे पर साथ ही उसकी कर्म में, जीवन को दुःखी बनाने वाली, आसक्ति उत्पन्न न होने पावे। अस्तु, कर्म करने का ढंग ऐसा होना चाहिए जिससे कि स्वधर्म-पालन करने में व्यक्ति के उत्साह की उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहे। साथ ही उस व्यक्ति को कर्म-बन्धन भी न जकड़ पावे।

अतः कर्म करने के इस रहस्य को स्पष्ट करने के हेतु अब मैं कर्म करने के तथ्यों का रहस्य तुझे विस्तारपूर्वक कहता हूँ। सर्वप्रथम मैं तुझे यह बताऊँगा कि कर्म किस प्रकार करने से निरर्थक हो जाता है। इस जानकारी से तू सदैव सावधान रहेगा कि तेरे द्वारा किया गया कर्म कभी भी निरर्थक न होने पावे। तब तुझे कर्म करने के उस ढंग के विषय में कहूँगा कि जिस ढंग से प्रायः साधारण जन-समुदाय सकाम कर्म किया करता है। इसके उपरान्त तुझे यह समझाऊँगा कि कर्म किस प्रकार करने से विकर्म बन जाता है और विकर्म को अकर्म कैसे बना दिया जाता है। तब इस रहस्य को भी स्पष्ट करूँगा कि कर्म, अकर्म बनाकर भी किस प्रकार स्वधर्म-पालन करने में योग देकर विशुद्ध, सार्थक एवं सिद्ध हो जाता है। वस्तुतः विशुद्ध, सार्थक एवं सिद्ध कर्म ही मुझे मान्य है और इसके ही आचरण की मैं तेरे जैसे भक्तों से अपेक्षा करता हूँ।

मेरे उपरोक्त कथन से तुझे यह स्पष्ट हो गया होगा कि कर्म को निरर्थक दशा से उठकर विशुद्ध, सार्थक एवं सिद्ध बनने तक पाँच स्तरों में से निकलना पड़ता है। पहला स्तर निरर्थक कर्म है; दूसरा स्तर सकाम कर्म; तीसरा स्तर विकर्म (निष्काम-कर्म); चौथा स्तर अकर्म और पाँचवा स्तर विशुद्ध, सार्थक एवं सिद्ध कर्म है। अब, तू इन्हीं पाँचों कर्म करने के स्तरों को क्रम-क्रम से विस्तारपूर्वक समझ ले।

वस्तुतः कर्म तो कर्म ही रहता है, चाहे जिस स्तर पर वह क्यों न

रहे उसके रूप में कोई अन्तर नहीं आता, केवल उसके करने के ढंगों से उसके भिन्न-भिन्न परिणाम निकलते हैं। इन्हीं परिणामों के कारण उनके स्तर भिन्न-भिन्न कहे जाते हैं। इस दृष्टि से निरर्थक कर्म वह कर्म है जिसके करने के ढंग से कर्म का परिणाम बुरा निकलता है और जो स्वयं व्यक्ति को, समाज को, राष्ट्र एवं जगत् को भी दुःखदायी सिद्ध होता है। ऐसा कर्म अनुकरणीय नहीं होता। इस कर्म के स्तर को भय-उत्पादक एवं सर्वनाश का स्तर कहते हैं। इस स्तर की चर्चा केवल तुझे सावधान रहने के लिए ही कर रहा हूँ, अन्यथा इसके उल्लेख करने की भी आवश्यकता नहीं थी। अस्तु, अब तू विचारकर कि कर्म किस तरह निरर्थक बन जाता है। इस रहस्य को एक शिक्षक का उदाहरण देकर तुझे समझाता हूँ। यह तो तू जानता ही है कि शिक्षक का कर्म छात्रों को पढ़ाना है। लेकिन अब तू इस बात पर ध्यान दे कि शिक्षक का पढ़ाना किस प्रकार निरर्थक हो जाता है।

देखो अर्जुन, शिक्षक जैसे ही अपनी कक्षा में पहुँचता है कि उसका कार्य “पढ़ाना” आरम्भ हो जाता है। पढ़ाते समय शिक्षक की मनोवृत्ति कार्य करती है। यदि शिक्षक की मनोवृत्ति इस प्रकार की है कि “मेरी ओर से कोई छात्र समझे या न समझे मुझे इससे क्या प्रयोजन है। मेरा काम तो केवल पढ़ाना मात्र है। अतः मैं तो केवल पुस्तक से पाठ पढ़कर सुनाये देता हूँ कोई समझे या न समझे इससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं। यदि कोई छात्र अनुपस्थित है या कक्षा में नहीं आया है तो न आवे। मैं चपरासी नहीं हूँ जो उसे बुलाने जाऊँ। यदि कोई छात्र थोड़ा भी कोलाहल मचाता है तो तुझे उसे समझाने से क्या प्रयोजन। मैं तो तुरन्त उसे कक्षा से बाहर कर दूँगा। यदि कोई छात्र मुझसे पाठ के सम्बन्ध में पूछता है तो मैं कह दूँगा कि कक्षा में जो कुछ पढ़ाऊँ उसे सुनो। यदि तुमको कक्षा में उत्तर देने में समय लगादूँ तो और सब छात्रों का समय नष्ट होगा। यदि किसी छात्र को कुछ पूछना ही हो तो कक्षा के समय के बाद पूछे और यदि कक्षा की अवधि के बाद कोई छात्र पूछता है तो उससे कह दूँगा कि मुझे अवकाश नहीं। ट्यूशन लगालो और जब छात्र की मैं ट्यूशन करूँगा तो उस छात्र के साथ माथापच्ची नहीं करूँगा।

बल्कि, यदि मैं परीक्षक होऊँगा तो उसे उत्तीर्ण कर दूँगा और यदि कोई और परीक्षक होगा तो उस छात्र के सम्बन्ध में उससे चर्चा कर उस छात्र को उत्तीर्ण करवा दूँगा।” इस मनोवृत्ति से पढ़ानेवाले शिक्षक का ढंग न तो उसे यश देगा और न छात्रों को ही उससे कुछ लाभ होगा। छात्रों के पालकों को अथवा समाज को जब शिक्षक के इस निन्दनीय व्यवहार का पता लगेगा तब उनकी दृष्टि में भी वह शिक्षक गिर जायगा। जिन छात्रों को बिना योग्यता कराये उसने उत्तीर्ण करा दिया है, वे छात्र योग्यता के प्रमाण-पत्र रखते हुए भी अयोग्य सिद्ध होंगे। वे छात्र जब आगे चलकर शिक्षक बनेंगे तब वे भी उसी अध्यापक का सा अनुकरण करेंगे। इस प्रकार यह कुकृत्य छूत के रोग के समान फैलकर समाज और राष्ट्र तक ही नहीं किन्तु वह अपने बृहत् रूप में समस्त जगत के वायुमण्डल को दूषित किये बिना न रहेगा। अतः ऐसे शिक्षक का पढ़ाने का कर्म किसी को भी उपयोगी नहीं होता और ऐसी स्थिति में कर्म निरर्थक हो जाता है। अब मैं तुझे कर्म के दूसरे स्तर के सम्बन्ध में समझाऊँगा। इस स्तर पर पहुँचने से कर्म, सकाम कर्म बन जाता है।

देखो अर्जुन, शुभ भावनाओं से किये गये सभी कर्म वस्तुतः “कर्म-क्षेत्र” के अन्तर्गत आते हैं। हाँ इन कर्मों के करने में फल की इच्छा अवश्य प्रधान होती है। अतः इन्हें सकाम कर्म कहना अधिक उपयुक्त है। अस्तु,

कर्म का द्वितीय
स्तर सकाम कर्म

अब तू यह समझने का प्रयत्न कर कि उपरोक्त शिक्षक का पढ़ाने का कार्य उस समय कर्म अर्थात् सकाम कर्म कहा जावेगा जबकि उस शिक्षक की मनोवृत्ति पढ़ाने का काम करते समय इस प्रकार होगी कि “मैं, एक शिक्षक के नाते समाज के लिए उत्तरदायी हूँ। प्रत्येक छात्र समाज का एक अंग है। प्रत्येक छात्र की उन्नति पर मुझे पूर्ण ध्यान रखना चाहिए। छात्र यदि कक्षा में अनुपस्थित रहते हैं तो मैं उनके पालकों को सूचित करने का प्रबन्ध करूँगा। यदि सम्भव हुआ तो मैं स्वयं उनसे मिलूँगा। यदि छात्र त्रुटि करते हैं तो मैं उन्हें प्रेम से अनेक दृष्टान्त देकर ऐसी युक्तियों से समझाऊँगा जिससे छात्र पुनः उन त्रुटियों को न करें। मेरा काम केवल पाठ सुना देनाही नहीं है, वरन् यह भी देखना है कि सब छात्र स्वयं भी ठीक-ठीक उच्चारण कर पाठ पढ़ सकते हैं या नहीं। मैं प्रश्नोत्तर

द्वारा उन्हें पाठ का भाव समझाऊँगा। यदि कोई छात्र प्रश्न पूछता है तो प्रेम से उसके प्रश्न का उत्तर दूँगा। साथ ही उन्हें प्रोत्साहित करूँगा कि जहाँ उन्हें शंका हो वहाँ निःसंकोच मुझसे पूछें। इस प्रकार उनमें जिज्ञासु वृत्ति जाग्रत करूँगा तथा सब छात्रों को योग्य बनाने का प्रयत्न करूँगा। कक्षा में प्रायः तीन प्रकार के छात्र पढ़ने आते हैं— कुशाग्र बुद्धि, साधारण बुद्धि और मन्द बुद्धि। कुछ छात्रों की बुद्धि कुशाग्र होती है तो कुछ छात्रों की बुद्धि साधारण होती है जबकि कुछ छात्रों की बुद्धि मन्द होती है।

मैं बुद्धि के अनुसार इन तीन प्रकार के छात्रों को तीन विभागों में विभक्त करूँगा। एक पाठ को चाहे मुझे तीन बार क्यों न पढ़ाना पड़े जब तक कक्षा के समस्त छात्र पाठ को न समझ लेंगे तब तक मेरा कर्तव्य पूरा-पूरा नहीं होगा। इस प्रकार मन्द बुद्धि छात्र कम से कम तृतीय श्रेणी में तो उत्तीर्ण हो ही जावे और कुशाग्र बुद्धि का छात्र विशेष योग्यता के साथ उत्तीर्ण हो, यह मेरा लक्ष्य होगा। कक्षा के निर्धारित समय के बाद भी यदि कोई छात्र मुझसे प्रश्न पूछने का प्रयत्न करता है तो मैं बड़ी प्रसन्नता से उसके प्रश्न का उत्तर दूँगा। मेरे छात्र यदि योग्य होंगे तो वे अपने उत्तरदायित्व को ठीक-ठीक सम्हाल लेंगे। इस प्रकार मेरे छात्र, समाज, राष्ट्र एवं बृहत् रूप में समस्त जगत के मानवों के विकास में स्वस्थ वायुमण्डल का निर्माण करने में योग देंगे आदि।” स्पष्ट है कि उपरोक्त मनोवृत्ति से शिक्षक अपने पढ़ाने के कार्य को स्तुत्य बना देता है। निश्चयात्मक रूप से उस अध्यापक से सब छात्र प्रसन्न रहेंगे। जब उसके सद्ब्यवहार की छाप छात्रों के पालकों पर अथवा समाज के व्यक्तियों पर पड़ेगी तब सर्वत्र उसका सम्मान होगा। इस प्रकार छात्रों का कल्याण होगा, उनसे समाज का, समाज से राष्ट्र का और राष्ट्र से जगत् का कल्याण होगा और इस स्वस्थ वायु-मण्डल निर्माण करने का श्रेय उस शिक्षक को होगा, अतः उसका भी कल्याण होगा। चूँकि सद्ब्यवहार की इच्छा रखते हुए कार्य करने से उस शिक्षक का कर्म अपनी उपयोगिता को स्थिर रखता है अतः इस प्रकार की इच्छा से किया हुआ कर्म वास्तव में सकाम कर्म कहा जाता है। किन्तु, कर्म का यथेष्ट शुभ परिणाम लाने की दिशा में प्रगति करने के

लिए कर्म करने के ढंग को तृतीय स्तर पर पहुँचना आवश्यक है। अस्तु, तू अब कर्म करने के ढंग के तृतीय स्तर को भी समझले।

देखो अर्जुन, कर्म द्वितीय स्तर पर पहुँच कर करने योग्य तो बन जाता है किन्तु, इस प्रकार कर्म करने में कार्यफल अनुकूल निकले ऐसी

कर्म का तृतीय स्तर
विकर्म अर्थात्
निष्काम कर्म

इच्छा उत्पन्न हो जाती है। किन्तु, कर्म का परिणाम प्रायः संदेहास्पद होता है। सदा मन के अनुकूल ही फल निकले ऐसा नहीं होता। तुझे अनुभव होगा कि कभी तो कर्म का परिणाम तेरे अनुकूल ही निकला होगा और तूने प्रसन्ता अनुभव की होगी किन्तु कभी तेरी इच्छा के विपरीत भी परिणाम निकला होगा तब तू दुःखी भी हुआ होगा। ऐसा भी प्रसंग तुझे आया होगा कि पहले तो कर्म का परिणाम तुझे विपरीत निकलता प्रतीत हुआ होगा जिसके कारण तुझे दुःख अनुभव होने लगा होगा, परन्तु कर्म को फिर कुछ और सोचकर नई रीति से करने से कर्मफल अनुकूल हो गया होगा। ऐसी स्थिति में तू फिर सुखी हो गया होगा। कभी-कभी तुझे ऐसा भी अनुभव हुआ होगा कि एक व्यक्ति जीवन भर कर्म के परिणाम को अपने अनुकूल लाने का प्रयत्न करता है पर वह असफल रहता है। इस प्रकार फल की इच्छा से कर्म करने में मानसिक सन्तुलन गिर जाता है, जिससे मानव दुःखी हो जाता है। अस्तु, यदि तू पूर्वोक्त शिक्षक की फलेच्छा से युक्त मनोवृत्ति का अध्ययन करेगा तो इस तथ्य को भली-भाँति समझ सकेगा।

देखो अर्जुन, वह शिक्षक फल की इच्छा रखता है और शुद्ध भावना से पढ़ाने का कर्म करता है परन्तु जब कुछ छात्र उसके प्रयत्न करने पर भी पढ़ने में उचित ध्यान नहीं देते तब उसे बहुत दुःख होता है। कभी-कभी तो वह इतना दुःखी हो जाता है कि वह निराश हो उठता है। उसकी निराशा का परिणाम उसकी बुद्धि पर भी पड़ता है और परिणामस्वरूप उसकी बुद्धि स्थिर नहीं रहती। अस्थिर बुद्धि से वह अपनी बुद्धि का संतुलन खो देता है और उसे क्रोध आने लगता है। उसका स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है। अब वह उत्साह से कर्म करने की अपेक्षा छात्रों की टीका-टिप्पणी में ही व्यस्त रहने लगता है। इस प्रकार फलेच्छा प्रायः स्वस्थ वायु-मण्डल को

विषादयुक्त बना दिया करती है। यहाँ तुझे यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जैसे फलेच्छा का विपरीत परिणाम, व्यक्ति की बुद्धि के सन्तुलन को खो देता है वैसे ही फलेच्छा का अनुकूल परिणाम भी हर्ष का अतिरेक उत्पन्न कर उसकी बुद्धि को चलायमान कर देता है। चूँकि कर्म, बुद्धि से होता है और बुद्धि ठीक कार्य तब ही करती है जबकि वह स्थिर हो। अतः फलेच्छा चाहे अनुकूल हो चाहे विपरीत, बुद्धि को सदा अस्थिर कर देती है। अस्तु, फलेच्छा कल्याणकारी कर्म करने में एक बहुत बड़ी भारी बाधा है। निस्सन्देह, जब कर्म फलेच्छा से रहित सफलता और असफलता में समदृष्टि रखकर किया जाता है तब उसमें बुद्धि का अतिरेक नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में कर्म बाधा से मुक्त हो जाता है। ऐसे कर्म को जो समबुद्धि एवं फलेच्छा से रहित स्वधर्म-पालन के हेतु किया जाता है उसे निष्कामकर्म भी कहते हैं और निष्कामकर्म को तू, विकर्म-कर्म भी कह सकता है। क्योंकि 'वि' उपसर्ग है, जिसका प्रयोग शब्द के पूर्व कर देने से विपरीत भाव भी हो जाता है जैसे योग का अर्थ है मिलना और योग के पहिले 'वि' लगा देने से शब्द बनता है वियोग जिसका अर्थ है पृथक् होना। अतएव विकर्म का अर्थ तू निष्कामकर्म समझ। हाँ, निष्कामकर्म करने में प्रायः उदासी आ जाती है यानी फल की इच्छा रखने से जो काम करने में उमंग रहती है वह फलेच्छा के अभाव में प्रायः लुप्त हो जाती है। अतः उस रीति का जानना भी तुझे आवश्यक है जिससे निष्कामकर्म करने में उत्तरोत्तर तेरे उत्साह की वृद्धि होती रहे। देखो अर्जुन, निष्कामकर्म करने की भी एक रीति है यदि उस रीति से काम किया जाय तो काम भी डटकर हो सकेगा साथ ही फलेच्छा भी बाधा नहीं डालेगी। इस दृष्टि से अब तू पुनः उस पूर्वोक्त शिक्षक के पढ़ाने के काम पर विचार कर। मानले कि उस शिक्षक को पढ़ाने का कार्य करते समय इस रहस्य का ज्ञान है कि इच्छा करने से फल दुःखदायी हो जाता है तो ऐसी स्थिति में वह शिक्षक पढ़ाते समय अपनी विचारधारा इस प्रकार रखेगा कि "मैं यह भली-भाँति जानता हूँ कि शुभाशुभ कर्म का फल तो अवश्य निकलता ही है। जैसा कर्म होता है निश्चय ही उसका परिणाम भी वैसा ही होता है। आम की गुठली से आम का पौधा ही उत्पन्न होगा, नीम की निबोली बोने से नीम। हाँ, यह सत्य है कि अमुक कर्म का फल कब

आयेगा यह मुझे विदित नहीं। पर फल आवेगा तो अवश्य ही और ठीक वैसा ही होगा जैसा कि कर्म है। यदि मेरा कर्म शुभ है और परिणाम विपरीत आता दिखाई देता है तो मैं यह विचार करूँगा कि मेरे करने में कोई त्रुटि रह गई है और त्रुटि ज्ञात होने पर उस त्रुटि को दूर करूँगा। इस प्रकार परिणाम में यदि विलम्ब भी हो जाता है तो भी मुझे चिन्ता नहीं। यदि अपनी समझ से ठीक-ठीक प्रयत्न करने पर भी उचित फल नहीं निकल रहा है तो मैं यह समझूँगा कि मैंने कर्म के सिद्ध होने का अनुमान उचित समय से पूर्व ही लगा लिया है। अभी कर्म पूर्णरूपेण परिपक्व अवस्था को प्राप्त नहीं हुआ है। मुझे पता नहीं है कि कब इस कर्म में पूर्णता आवेगी। हाँ, इतना विश्वास है कि पूर्णता को प्राप्त होते ही उसे अवश्य फलीभूत होना चाहिए। अतः मुझे जैसे-जैसे ही अपनी त्रुटियाँ समझ में आती जावेंगी वैसे-वैसे ही मैं उनको दूर करने का सतत प्रयत्न करता रहूँगा। मैं कभी ऐसी अज्ञानता नहीं कर सकता कि जिस कर्म के फल आने का या उसकी परिपक्वता का मुझे ठीक-ठीक अनुमान ही नहीं है उसके लिए चिन्तित रहूँ। अस्तु, वह कहता है कि आओ! बाधाओ आओ!! खूब आओ!!! मैं तुम्हारा स्वागत करता हूँ। तुम्हें बाधा मैंने अज्ञानता से ही मान रखा है। वास्तव में तुम तो कर्म को पकाने वाली तथा उसे फलयुक्त बनाने वाली एक अवधि की द्योतक हो। तुम मेरा मार्गदर्शन कर रही हो अतः मैं बुद्धि के सन्तुलन को स्थिर रखूँगा और उत्तरोत्तर अपने उत्साह में वृद्धि करते हुए जीवन भर कर्त्तव्य-पालन करता रहूँगा। मुझे फल की चिन्ता रत्ती-भर भी नहीं, वरन् विश्वास है कि कर्म का फल समय आने पर बिना आए रहेगा ही नहीं इत्यादि।”

अब अर्जुन, तुझे स्पष्ट हो गया होगा कि उपरोक्त विचारधारा से पढ़ाने वाला शिक्षक कर्त्तव्य-पालन का तो ध्यान रखेगा किन्तु कल की चिन्ता से मुक्त रहेगा। इस प्रकार उस शिक्षक की बुद्धि स्थिर रहेगी। इस विचारधारा से जो भी कर्म उसके द्वारा किया जावेगा उस कर्म को तू ‘विकर्म’ अर्थात् समबुद्धि का कर्म या निष्काम कर्म कह सकता है। इस विधि से करने योग्य सकामकर्म करने का ढंग शनैः-शनैः सिद्ध होने की ओर उत्तरोत्तर अग्रसर होकर चतुर्थ स्तर पर पहुँच जाता है। अस्तु, अब तू कर्म करने के ढंग के चतुर्थ स्तर

को भी अच्छी प्रकार से समझ ले।

देखो अर्जुन, कर्म तृतीय स्तर पर पहुँचकर निष्काम कर्म के विशिष्ट भाव को तो प्राप्त हो जाता है परन्तु अब इस प्रकार कर्म करने

कर्म का चतुर्थ स्तर
अकर्म (अहंकार
रहित कर्म)

वाले व्यक्ति के सम्मुख एक और बाधा उपस्थित हो जाया करती है। यह बाधा अत्यन्त सूक्ष्म होती है अतः स्पष्ट दृष्टिगोचर नहीं होती। केवल सूक्ष्मबुद्धि से ही अनुभव में आती है कि सिद्धि व असिद्धि में सम-भाव रखते हुए जब व्यक्ति निष्कामकर्तव्यकर्म करते हैं तब प्रायः यह अभिमान कि, “मैं ठीक-ठीक कर्तव्य-पालन कर रहा हूँ” आ जाता है। साथ ही जो व्यक्ति उसके जैसी काम करने की रीति को नहीं अपनाता उस व्यक्ति को वह अज्ञानी समझता है। इस प्रकार निष्कामकर्म करने वाले व्यक्ति को भी कुछ राग-द्वेष आ ही जाता है। राग-द्वेष आते ही अशान्ति अनुभव करने लगता है। अस्तु, शान्तिपूर्वक कर्तव्य-पालन में अहंभाव से उत्पन्न हुए राग-द्वेष का अन्त करना भी परम आवश्यक है। राग-द्वेष का अन्त तभी हो सकता है जब अहंभाव दूर हो जावे अर्थात् व्यक्ति कर्त्तापन से रहित होकर कर्म करे। जब व्यक्ति कर्म का कर्त्ता ही नहीं है तब उस कर्म को करने में व्यक्ति में ‘अहंभाव’ आ ही नहीं सकता। देखो अर्जुन, ‘अहं-भाव’ को दूर करने का भी एक ढंग है। इस ढंग को भली प्रकार समझने के लिए तू अब पूर्वोक्त शिक्षक की परिवर्तित मनोवृत्ति पर विचार कर। मानले कि वह शिक्षक ‘अहंभाव’ रहित कर्त्तव्य-पालन करना चाहता है तो अब पढ़ाने का कार्य करते समय उसकी मनोवृत्ति इस प्रकार होगी कि “जिस दिशा की ओर मेरी दृष्टि जाती है मुझे समस्त जगत् में प्राणी ही प्राणी दृष्टिगोचर हो रहे हैं। मैं जानता हूँ कि जगत् का स्वामी जगन्नाथ है। मैं अनुभव करता हूँ कि एक-एक प्राणी के अन्दर जो स्वामीपन है वह जगन्नाथ का ही एक भाग है। अब जगन्नाथ का समस्त स्वामीपन जगत् के प्रत्येक प्राणी में बँट गया है। इस प्रकार से अब मेरी दृष्टि में जगन्नाथ का पृथक् अस्तित्व ही नहीं दिखता। मैं भी तो जगत् का एक भाग हूँ अर्थात् एक बड़ा जगत् हूँ। अतः मेरा स्वामीपन जगन्नाथ के स्वामीपन का ही एक भाग है। स्पष्ट है कि मेरा अहंभाव या ‘मैं पन’ वास्तव में समस्त जगत् के स्वामी जगन्नाथ के

ही स्वामीपन या 'मैं पन' का ही एक अंश है और वह समस्त जगत् के अहंभाव से भिन्न नहीं है वरन्, सम्मिलित रूप से एक ही इकाई है; जैसे वायु का है तो एक ही रूप किन्तु, प्रत्येक व्यक्ति को अपने-अपने शरीर में पृथक-पृथक वायु का स्पर्श भान होता है तथा उससे पृथक-पृथक कार्य भी हो रहे हैं। यदि व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत वायु को समस्त वायु की इकाई से पृथक कहता है तो यह उसका भ्रम है। इसी प्रकार मैं अपने अहंभाव को यदि अपना कहता हूँ तो यह मेरा भी भ्रम है।

वस्तुतः मेरा अहंभाव समस्त जगत् के अहंभाव का ही अविभाजित अंश है। अब इस तथ्य में मुझे सन्देह नहीं। मुझे स्पष्ट भान हो रहा है कि जिस कर्म को मैं अपना काम कहता हूँ वह मेरा काम नहीं है। वस्तुतः वह जगत् का ही कार्य है और जगन्नाथ ही कार्य कर रहा है। अब मैं अपने को जगत् में खोया पाता हूँ। जब अपने अस्तित्व को बड़ी लगन से ढूँढ़ता हूँ तब उसके एक सूक्ष्म से सूक्ष्म भाग के एक लघु से लघु कोने में मुझे अपना किंचित् अस्तित्व दिखलाई पड़ता है। मैं देख रहा हूँ कि जगत् के समस्त प्राणियों के रूप में जगत् ही काम कर रहा है। जब उसके भीतर से मैं अपने द्वारा किये जाने वाले काम के सम्बन्ध में अनुमान करता हूँ तब मुझे यह स्पष्ट अनुभव होता है कि जिस कर्म को मैं अभी तक अपना काम कह रहा था वह वास्तव में जगत् के एक सूक्ष्माति सूक्ष्म अंश का ही काम है। हाँ, वे लोग जो इस रहस्य से अनभिज्ञ हैं, यदि मुझ पर कर्त्तापन का आरोप करते हैं तो मुझे क्या आपत्ति! वे भले ही करें। परन्तु, वस्तुतः मैं तो अकर्त्ता हूँ, जबकि जगत् ही समस्त प्राणियों का सम्मिलित रूप में कर्त्ता है। क्योंकि, मेरा अस्तित्व तो समस्त शरीर में, शरीर के केवल एक हाथ की एक अँगुली के समान है। जबकि जगत् सम्पूर्ण शरीर के सदृश है। जब मैं अँगुली से एक पदार्थ को स्पर्श करता हूँ तब लोग यही कहेंगे कि मैंने ही उस पदार्थ को स्पर्श किया है। मेरी अँगुली के स्पर्श करने का कोई अस्तित्व ही नहीं। क्योंकि, वह तो मेरा ही अविभाजित अंग है। इसी प्रकार जब जगत् मेरे समस्त शरीर के समान है और मेरा अस्तित्व जगत् की अँगुली के समान है तब मेरा काम अब जगत् का ही काम होना चाहिए, मेरा नहीं।”

देखो अर्जुन, इस प्रकार इस अकर्तृत्व की भावना से व्यक्ति जब कार्य करता है तब उसकी दृष्टि में उसके द्वारा किये जाने वाला कर्म जगत् का कर्म हो जाता है और उस पर कर्त्तापन नहीं आता है। वस्तुतः इस प्रकार की विचारधारा से वह शिक्षक 'अहंभाव' से मुक्त हो जाता है। अतः इस युक्ति से किए कर्म को अकर्म कहते हैं क्योंकि अब उसका कर्म नहीं करने के बराबर हो जाता है।

अस्तु, अब अर्जुन, तुझे स्पष्ट हो गया होगा कि स्वधर्म-पालन के निमित्त करने योग्य कार्यों को जब फलेच्छा से करते हैं तब वे कर्म वस्तुतः सकामकर्म कहलाते हैं। वे कर्म के करने वाले को पूर्ण-शान्ति प्रदान नहीं करते। किन्तु, सकामकर्म करने वाला व्यक्ति जब समबुद्धि द्वारा निष्कामकर्म करने लगता है जब वह सकामकर्म से विपरीत निष्कामकर्म यानी 'विकर्म' कर्म करने वाला कहलाता है। विकर्म के स्तर पर कर्म करने वाला व्यक्ति सकामकर्म करने वाले व्यक्ति से अधिक शान्ति प्राप्त करता है। किन्तु, जब 'अहंभाव' रहित होकर व्यक्ति कर्म करता है तब उसे और भी अधिक शान्ति अनुभव होती है। इस प्रकार चतुर्थ स्तर पर पहुँचकर कर्म शान्तिदायक श्रेष्ठ कर्म बन जाता है। किन्तु, कर्म को विशेष सार्थक एवं सिद्ध होने के लिए उसे पाँचवें स्तर पर पहुँचना आवश्यक है। अस्तु, अब अर्जुन, तू यह भी भली प्रकार समझ ले कि कर्म किस प्रकार पाँचवें स्तर पर पहुँचकर विशुद्ध, सार्थक एवं सिद्ध हो जाता है।

देखो अर्जुन, कर्म चतुर्थ स्तर पर पहुँचकर शान्तिदायक एवं अहंकार रहित तो हो जाता है किन्तु, अहंभाव अथवा "मैं पन" की भावना न रहने पर ऐसी शंका उत्पन्न होती है कि बिना "मैं पन" लाए

कर्म का पाँचवाँ स्तर
सार्थक कर्म

और बिना फलेच्छा के कोई भी व्यक्ति काम अच्छी तरह से नहीं कर सकता क्योंकि, बिना कर्म के कर्त्ता बने अथवा बिना फल की कामना के कर्म करने में उत्साह नहीं रहता। कर्म के प्रति उदासीनता अर्थात् असावधानी आ जाती है। इस दृष्टि से यदि वह शिक्षक कर्म करने में अहंकार रहित हो जाता है तो अब उस शिक्षक में पढ़ाने का

उत्साह नहीं रहेगा और वह तटस्थ यानी उदासीन सा रहेगा।

अतः अब ऐसी युक्ति आवश्यक है जिससे कि शिक्षक की कर्तव्य-पालन में उदासीनता दूर हो जावे और उसका पढ़ाने में उत्साह उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहे। साथ ही साथ उसे अपने उत्तरदायित्व का भी पूर्णरूपेण ध्यान रहे और आसक्ति से काम करने वाले से भी अधिक आसक्त दिखे। देखो अर्जुन, अहंकार रहित होकर कर्म करने की भी एक युक्ति है।

इस युक्ति से काम करने में फलेच्छा और अहंभाव के बिना भी कर्म वैसे ही उत्साह से हो सकता है जैसे कि एक महान् आसक्त व्यक्ति फलेच्छा से कर्म करने में उत्साह दिखाता है। अस्तु, इस ढंग को भली-भाँति समझने के लिए अब तू पुनः उस पूर्वोक्त शिक्षक की मनोवृत्ति पर विचार कर। इस स्तर पर उस शिक्षक की मनोवृत्ति पढ़ाने का काम करते समय इस प्रकार होगी कि “मुझे इसमें किंचित् भी सन्देह नहीं कि मेरा पढ़ाने का कर्म मेरा पृथक् से काम नहीं है, किन्तु जगत् के समस्त प्राणियों का ही सम्मिलित काम है। अस्तु, मेरे द्वारा किये जाने वाले समस्त कर्मों को अज्ञान से ही मैं अभी तक उन्हें अपना कहता था। वस्तुतः मेरे समस्त कर्म जगत् के ही हैं अतः मेरी दृष्टि में वे सब कर्म अकर्म ही है। इस दृष्टिकोण से मेरे कर्म, जगत् के कर्म हो तो अवश्य गये किन्तु, मैं भी तो जगत् का ही एक अविभाजित अंग हूँ, यह भी तो सत्य है। मैं जगत् से बाहर तो हूँ नहीं। ऐसी स्थिति में जगत् के समस्त प्राणियों के रूप में जगत् के कर्म करने वाले प्राणियों में से मैं भी एक प्राणी हूँ। भले ही मेरा अस्तित्व छोटे से छोटा ही क्यों न हो। जगत् के हित के लिए अर्थात् लोक-संग्रह के हेतु जगत् के समस्त प्राणियों के साथ-साथ मुझसे भी कर्म अवश्य किये जा रहे हैं। चूँकि जगत् के सब प्राणी सम्मिलित रूप में एक होकर कर्म करते हैं और मेरा अस्तित्व भी जगत् के एक प्राणी के रूप में जगत् के अन्तर्गत अवश्य है, अतः जगत् के समस्त प्राणियों में से एक प्राणी के रूप में मुझ पर भी जगत् के कर्म का उत्तरदायित्व पुनः आ जाता है। हाँ, इतना अन्तर अवश्य है कि जब मैं अहंकार-वश

जगत् से अपने को पृथक् मानता था तब मेरा पृथक् अस्तित्व था और अब मैं अनुभव करता हूँ कि जगत् के प्राणियों के सामूहिक रूप में लीन हुआ मेरा, वस्तुतः अत्यन्त ही सूक्ष्म अस्तित्व है। जिन कर्मों को मैं पहले अपना पृथक् अस्तित्व समझकर किया करता था अब मुझे स्पष्ट भान हो रहा है कि वे काम समस्त जगत् के प्राणियों के हितार्थ अर्थात् लोक-संग्रह के लिए हो गये हैं। अब मैं अनुभव करता हूँ कि जगत् के समस्त प्राणियों के समस्त नेत्रों में से मेरे दो नेत्र पृथक् नहीं हैं। अस्तु, अब मैं जगत के समस्त प्राणियों के अनन्त नेत्रों में अपने दोनो नेत्रों को मिलाकर देखता हूँ तो मुझे स्पष्ट दिखलाई पड़ता है कि मेरा कर्म करने से सम्बन्ध विच्छेद नहीं हुआ है। जो उत्तरदायित्व मेरे कर्म का केवल मुझ पर ही था वही उत्तरदायित्व अब जगत के समस्त प्राणियों के सामूहिक रूप में बँट गया है। चूँकि जगत के सामूहिक स्वरूप में मेरा भी अविभाजित उत्तरदायित्व एक अंश के रूप में सम्मिलित है, अतः मैं अनुभव करता हूँ कि मुझ पर भी कर्म करने के एक अंश का उत्तरदायित्व है। चूँकि जगत के समस्त प्राणियों का एक सम्मिलित रूप है, अतः अब समस्त जगत के प्राणियों के कर्मों के उत्तरदायित्व का भी एक-एक अंश और भी मुझ पर आ गया है और मेरे कर्म का उत्तरदायित्व उनमें बँट गया है। अस्तु, सम्मिलित हुए जगत में अनन्त प्राणी जो-जो कर्म कर रहे हैं उनको पूर्ण करने में मेरा भी उत्तरदायित्व है। इस प्रकार मैं जो अभी तक अपने को अकर्म समझता था अब पुनः मैं अपने को लोकसंग्रह हितार्थ कर्म करने की स्थिति में पाता हूँ। लोकसंग्रह हेतु कर्म करने में मुझे अभिमान अनुभव नहीं होता और साथ ही मैं अपने को जगत के एक भाग का उत्तरदायी समझकर डटकर जगत का कर्म भी कर सकता हूँ। चूँकि लोक-संग्रह के काम मेरे अकेले के तो हैं नहीं अतः कर्म का फल मेरे अकेले पर कैसे आएगा? और फिर सामूहिक काम में एक व्यक्ति के अहंभाव का अस्तित्व भी तो कुछ अर्थ नहीं रखता।” अतः शिक्षक फलेच्छा एवं अहंभाव से मुक्त होकर लोक-संग्रह के हेतु जब उत्साह से कर्म करता है तब उसका कर्म विशुद्धभाव को प्राप्त हो जाता है। इस युक्ति द्वारा अकर्म को पुनः विशुद्धकर्म बना लिया जाता है। हाँ, पहले कर्म व्यक्तिगत था किन्तु, अब वह कर्म लोक-संग्रह हेतु समस्त जगत् के प्राणियों का हो गया है। इस प्रकार

लोक-संग्रह के हेतु जो कर्म किए जाते हैं उन्हें विशुद्ध, सार्थक एवं सिद्ध कर्म कहते हैं। ऐसे कर्म पूर्ण शान्ति प्रदान करते हैं तथा व्यक्ति को जन्म-मरण के बन्धन में बाँधते भी नहीं हैं।

देखो अर्जुन, संक्षेप में ज्ञानवान् एवं बुद्धिमान् योगी वह है जो अपना पृथक् अस्तित्व न रखकर अपने को जगत् का एक अविभाजित भाग बना लेता है। उसके कर्म केवल एक व्यक्ति विशेष के कर्म न होकर लोक-संग्रह के हेतु समस्त जगत् के सम्मिलित कर्म हो जाते हैं। इस प्रकार वह बुद्धिमान्, एक व्यक्ति के संकुचित क्षेत्र से ऊपर उठ जाता है और वह जगत् के बृहत् सामूहिक व्यक्तित्व में मिल जाता है। उसके परिवार के व्यक्तियों का अथवा स्वयं का भी कार्य अब उसे जगत् का कार्य दिखता है। जगत् में अपनापन आ जाने से उसको जगत् के काम करने में वैसा ही उत्साह आता है जैसा कि प्रायः अपनापन लिए हुए एक व्यक्ति को प्रायः अपने काम में आया करता है। अस्तु, अर्जुन, अब तू अच्छी तरह समझ गया होगा कि कर्म को विशुद्ध, सार्थक एवं सिद्ध करने के लिए पहले तो करने योग्य शुभ कार्य में से फलेच्छा और अहंभाव को हटाकर उस कार्य को अकर्म बना देते हैं और जब कर्म, अकर्म हो जाता है तब पुनः अकर्म हुए कार्य को लोक-हित के लिए करते हैं तब वही अकर्म विशुद्ध, सार्थक एवं सिद्ध कर्म हो जाता है, जिसके करने में न तो राग-द्वेष आता है और न अहंभाव ही। इस युक्ति से कर्म करने को अकर्म में कर्म पर दृष्टि रखना कहते हैं। क्योंकि, इस स्तर में पहुँचकर कर्म जो अकर्म बन जाता है उसी को लोक-हित के लिए पुनः कर्म बनाने का दृष्टिकोण सामने रखना होता है। भाव यही है कि जो व्यक्ति अहंकार और फलेच्छा युक्त एक व्यक्ति के पृथक् उत्तरदायित्व के कर्म के सम्बन्ध में यह जानता है कि उसका कर्म उस समय अकर्म हो जाता है जबकि अहंकार एवं फलेच्छा से रहित व्यक्ति के व्यक्तित्व को जगत् के समस्त प्राणियों के सामूहिक रूप में ज्ञान द्वारा मिला दिया जाता है। साथ ही जो यह जानता है कि जो कर्म उपरोक्त ज्ञान से अकर्म बना है वही पुनः लोक-हित के लिए जगत् के एक भाग के रूप में व्यक्ति के लिए विशुद्ध, सार्थक एवं सिद्ध कर्म बन जाता है, अर्थात् जो व्यक्ति कर्म में अकर्म को और अकर्म में कर्म को देखे वही व्यक्ति मनुष्यों में बुद्धिमान् है। वह योगी सम्पूर्ण कर्मों को करने वाला है। वह बुद्धिमान् इसलिए है

कि उसकी बुद्धि स्थिर है, योगी इसलिए है कि वह राग-द्वेष से रहित शान्त रहता है और वह युक्त इसलिए है कि उसे कर्म करने की युक्ति आ गई है। वह सम्पूर्ण कर्मों को करने वाला भी इसलिए है क्योंकि, वह प्राणीमात्र के लिए कर्म करता है। चूँकि जगत के अन्तर्गत समस्त प्राणी हैं, अतः जगत का काम प्राणीमात्र का ही काम है। अस्तु, जो जगत का काम करता है वह प्राणीमात्र का काम करता है। समस्त प्राणियों के कर्म ही जगत के सम्पूर्ण कर्म कहे जा सकते हैं और जो जगत के सम्पूर्ण कर्मों को करे वह व्यक्ति सम्पूर्ण कर्मों को करने वाला ही कहा जावेगा।^१

अब, देखो अर्जुन काम का आरम्भ संकल्प से होता है और उस काम का विस्तार कामना अर्थात् फल की इच्छा से होता है। अतः जो कार्य संकल्प और कामना से रहित है अर्थात् जिसके करने में अहंभाव नहीं है उस कार्य के परिणाम से उत्पन्न राग-द्वेष का प्रभाव उस व्यक्ति पर नहीं पड़ता। इस प्रकार जिस युक्ति से कार्य के परिणामस्वरूप राग-द्वेष के प्रभाव को मिटाया जा सके उस युक्ति को 'ज्ञान' कहते हैं। इस ज्ञान को अग्नि के सदृश कहा जाता है जबकि कर्म को पदार्थ के सदृश कहते हैं। अतः जैसे पदार्थ को अग्नि भस्म कर देती है वैसे ही कर्म को अर्थात् उसके परिणामस्वरूप राग-द्वेष को ज्ञान भस्म कर देता है। अतएव ज्ञानीजन उस ज्ञानरूप अग्नि द्वारा भस्म किये हुए कर्मों वाले पुरुष को पण्डित अर्थात् बुद्धि के प्रकाश से वस्तुस्थिति को समझने वाला कहते हैं।^२

अर्थात् ऐसे व्यक्ति जो कर्मफल और कर्तव्य के अभिमान को छोड़ देते हैं वे कर्म करने में पूर्णतः प्रवृत्त होने पर भी वास्तव में वे कुछ नहीं करते हैं। क्योंकि, उनके द्वारा किये जाने वाले कर्मों

१. कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।

स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥१८॥

२. यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥१९॥

में निजी कर्तापन तो होता नहीं, केवल लोक-संग्रह की भावना होती है

जिससे उनके द्वारा लोक-हितार्थ ही कर्म होते रहते हैं। इस पर से यदि तू यह कहे कि ऐसे लोक-हित करने वाले पुरुष अपना शारीरिक जीवन कैसे निर्वाह करते होंगे? इस दृष्टि से तू यह बात स्पष्ट समझ ले कि लोक-हित करने वाले पुरुष अपने शरीर के निर्वाह करने में शिथिल नहीं होते हैं। वस्तुतः वे शरीर को लोकहित का साधन समझकर उसे स्वस्थ रखने के लिए भरसक चेष्टा करते हैं। अतः शरीर की आवश्यकता की पूर्ति लोक-हित के कर्मों के अन्तर्गत स्वयमेव आ जाती है। जैसे एक ज्ञानवान, बुद्धिमान एवं कुशल व्यक्ति जो तेरे कर्मों में रात दिन लगा हुआ तेरी समृद्धि कर रहा है और स्वयं की कुछ माँग नहीं करता तो तू स्वयं ही उसके भरण-पोषण का ध्यान रखेगा जिससे कि उसकी शक्ति क्षीण न होने पावे, साथ ही तेरा काम भी वह व्यक्ति करता रहे। इस भावना को रखते हुए उस व्यक्ति को बड़े आदर से कलेवा के समय तू कलेवा करा देगा और भोजन के समय भोजन। बल्कि, तुझे स्वयं भी अनुभव होगा कि तूने अपने परिवार के लोगों की चाहे अवहेलना कर दी हो परन्तु, ऐसे परोपकारी व्यक्ति को जिसकी स्वयं की माँग तुझसे कुछ नहीं है और तेरा काम सबसे अधिक करता है, उसके भरण-पोषण का ध्यान तुझे सबसे पहले रहा होगा। इतना ही नहीं, उससे सम्बन्धित परिवार भी यदि स्वयं भरण-पोषण के योग्य नहीं है तो उसके भरण-पोषण पर भी तू उचित ध्यान देगा। ऐसा लोक-हितकारी व्यक्ति शरीर निर्वाहार्थ जो आहारादि प्राप्त करता है उस पर उसे पूर्ण संतोष होता है। अपनी तरफ से वह कोई टीका-टिप्पणी नहीं करता। इस प्रकार वह व्यक्ति ईर्ष्या, द्वेष, हर्ष, विषाद आदि के द्वन्द्वों से रहित, सिद्धि और असिद्धि में समत्व की भावना रखते हुए कर्म करता है। परिणामतः वह कर्मों के बन्धन से भी मुक्त रहता है। वस्तुतः, आसक्ति रहित ज्ञानीजन के सम्पूर्ण कर्म लोकहित के लिए होते हैं, उसके निज के लिए नहीं। अतः ऐसे पुरुषों के सम्पूर्ण कर्म, बन्धन रहित होते हैं।

अस्तु, देखो अर्जुन, जो व्यक्ति निराश्रय अर्थात् सांसारिक आश्रय से रहित है, किसी से किंचित् भी याचना नहीं करता, नित्य तृप्त है, अर्थात् सदा सन्तोषी है, वह कर्मों के फल एवं कर्तृत्व भावना के अभिमान को त्याग देता है। साथ ही लोक-हित के कर्म में अच्छी प्रकार प्रवृत्त हुआ भी वस्तुतः कुछ भी नहीं करता। क्योंकि, वह अपना

पृथक् अस्तित्व नहीं रखता।^१

वस्तुतः ऐसा पुरुष, मन, बुद्धि और चित्त आदि को नियन्त्रण में रखता है। साथ ही समस्त भोगादि की सामग्रियों से आसक्ति त्याग देता है। वह व्यक्ति भविष्य में समृद्धशाली होने की लेशमात्र भी भावना नहीं रखता। ऐसी स्थिति में वह यद्यपि शरीर-निर्वाह सम्बन्धी कर्म करता दिखलाई पड़ता है तथापि वह आसक्ति रहित होने से पाप को अर्थात् कर्तव्य भावना को प्राप्त नहीं होता है।^२

अस्तु वह व्यक्ति शरीर-निर्वाह के लिए जो कुछ अपने आप प्राप्त हो जावे उसमें ही सन्तुष्ट रहता है। हर्ष, शोकादि द्वन्द्वों से सदैव परे रहता है। दूसरों की उत्तम बुद्धि देखकर उसे उन पर ईर्ष्या नहीं होती। क्योंकि, उसकी दृष्टि में दूसरा तो कोई है ही नहीं। चूँकि कर्म की सिद्धि अथवा असिद्धि में उसकी आसक्ति नहीं होती, अतः वह कर्म करता हुआ भी कर्म-बन्धन से मुक्त रहता है।^३

वस्तुतः जो व्यक्ति आसक्ति से रहित है एवं ज्ञान में जिसका चित्त स्थित हो गया है, जो अपने को कर्म के व्यापार का केवल दृष्टा मानता है, जिसे गुण-गुणों में वर्त रहे हैं ऐसा अनुभव होने लगा है, वह व्यक्ति यज्ञ के लिए अर्थात् विष्णु (पालन करने वाली शक्ति) के निमित्त कर्म करता है। चूँकि उसमें कर्त्तापन का नितान्त अभाव है, अतः वह कर्म-बन्धन से मुक्त है। उसके सम्पूर्णकर्म उसे अपने फलों से प्रभावित नहीं कर सकते। जिस व्यक्ति को कर्मों के फल प्रभावित नहीं करते यदि उनके सम्बन्ध में यह कहा जावे कि

१. त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥२०॥

२. निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

३. यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥२२॥

उसके सम्पूर्ण कर्म, फल की दृष्टि से, नष्ट हो गये हैं तो असंगत नहीं।^१

देखो अर्जुन यज्ञ के लिए कर्म करने वाले व्यक्तियों की धारणाएँ भी वेदों में भिन्न-भिन्न प्रकार से बताई गई हैं। वस्तुतः यज्ञ उस वैष्णवीशक्ति को कहते हैं जो समस्त कर्मों के पालन-पोषण करने वाली माता के सदृश है। अस्तु, जो व्यक्ति इस वैष्णवीशक्ति के स्थान पर अपने को कर्म का कर्त्ता मानता है वह पापी है, क्योंकि वास्तव में वह व्यक्ति कर्त्ता नहीं है। वह वैष्णवीशक्ति के स्वामीपन का अपहरण कर स्वयं स्वामी बनता है। किन्तु, वे व्यक्ति जो वैष्णवीशक्ति को कर्त्ता मानकर लोक-संग्रह के हित कर्म करते रहते हैं वे ही वस्तुतः यज्ञ के स्वरूप से परिचित कहे जाते हैं। ऐसे व्यक्तियों के सम्बन्ध में ऐसा कहा जाता है कि यज्ञ के निमित्त कर्म करने से उनमें कर्त्तापन का अभाव हो जाता है। साथ ही यह भी तू ध्यान में रख कि यज्ञ के निमित्त कर्म करके कर्त्तापन को समाप्त करने की विविध युक्तियाँ वेदों में वर्णित हैं इनमें से चौदह युक्तियाँ अधिक प्रसिद्ध हैं।

(१) कुछ योगीजन यज्ञ अर्थात् वैष्णवीशक्ति के रूप में ब्रह्म को ही आधार बनाकर कर्त्तापन से मुक्त होने का प्रयत्न करते हैं। वे यह मानते हैं कि यज्ञ के साधन, स्रुवादि, हवन करने योग्य पदार्थ अग्नि आदि सब यज्ञ रूप से वैष्णवीशक्ति ही है। उनके द्वारा जो कुछ हवन किया गया है वह सब कुछ वैष्णवीशक्ति का ही प्रदर्शन है। इस प्रकार जो पुरुष इस रीति से वैष्णवीशक्ति के कर्म में लीन है उसके लिए जो प्राप्त होने योग्य है वह ब्रह्म है अर्थात् वह स्वयं अपने आप तक को भी वैष्णवीशक्ति (यज्ञ) में अर्थात् विष्णु में लीन कर देता है।^२

१. गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥२३॥
२. ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥२४॥

(२) कुछ योगीजन देवताओं के पूजन को ही यज्ञ मानते हैं। वे उनके पूजन द्वारा अपने में से कर्त्तापन को हटाने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार वे देवताओं को ही यज्ञरूप से कर्त्ता मानते हैं, स्वयं को नहीं।

(३) कुछ योगीजन ऐसा मानकर कर्त्तापन हटाते हैं कि कर्म वैष्णवीशक्ति के हैं और वैष्णवीशक्ति ही उन कर्मों को कर रही है। इस युक्ति को यज्ञ के द्वारा यज्ञ ही हवन किया जा रहा है, कहा जाता है। इस विधि से वे कर्त्तापन से निर्लिप्त हो जाते हैं।^१

(४) कुछ योगीजन श्रोत्र, चक्षु आदि इन्द्रियों को, विषयों के सम्पर्क में आने पर, नियन्त्रित कर लेते हैं अर्थात् सुनते हुए अनसुने से हो जाते हैं और देखते हुए भी नहीं देखते हैं। इस प्रकार वे संयमपूर्वक तटस्थ होकर कर्म के दृष्टा बन जाते हैं। परिणामतः वे कर्त्तापन से मुक्त हो जाते हैं।

(५) कुछ योगी लोग राग-द्वेष से रहित हुई इन्द्रियों को अग्नि रूप समझते हैं और शब्द, स्पर्श, रूपादि को कर्म। जब इन्द्रियों से कर्म होते हैं तब इन्द्रियों के सम्पर्क से कर्म भस्म हो जाते हैं। इस प्रकार वे अपने को कर्म-बन्धनरूप कर्त्तापन से मुक्त बनाने का प्रयत्न करते हैं।^२

(६) कुछ योगी इन्द्रियों की सम्पूर्ण चेष्टाओं को तथा श्वास प्रश्वास के व्यापार को सूक्ष्मशरीर अथवा त्रिगुणात्मक माया का व्यापार मानकर स्वयं आत्म-स्वरूप में स्थित हो जाते हैं। इस प्रकार ज्ञान से प्रकाशित परमात्मा में स्थिति रूप योगाग्नि में अपने

१. दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।

ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुहति॥२५॥

२. श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुहति।

शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुहति॥२६॥

को हवन कर देते हैं अर्थात् अपने में कर्त्तापन का अभाव कर देते हैं।'

(७) कुछ योगी ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करके अपने में से कर्त्तापन को हटा देते हैं। वे कहते हैं कि हमारे कर्मों द्वारा उत्पादित समस्त द्रव्य भगवान् का ही है। अतः वे उस द्रव्य को धर्मशाला, कुआँ, बावड़ी पाठशाला, औषधालय आदि में लोक-सेवा के निमित्त लगा देते हैं। इस प्रकार वे अपने को कर्त्तापन से मुक्त कर लेते हैं।

(८) कुछ योगी स्वधर्म-पालन में आवश्यकता से अधिक श्रम कर उसे तप का रूप दे देते हैं। ऐसा करते हुए वे यह समझते हैं कि भगवान् ने जो उनको उत्तरदायित्व दिया था वह उत्तरदायित्व उनसे ठीक तरह से पालन हो गया है। भगवान् का दिया काम भगवान् ने सम्हाल लिया है। ऐसा कहकर वे भी कर्त्तापन से मुक्त हो जाते हैं।

(९) कुछ योगी आत्म-स्वरूप को अपने अन्दर ही, स्थूल व सूक्ष्मशरीर से परे देखते हुए कर्म करते हैं। इस प्रकार कर्म करते हुए आत्म-स्वरूप में मन से स्थित रहते हैं। चूँकि आत्म-स्वरूप में कर्त्तापन नहीं है, अतः उनमें भी कर्त्तापन नहीं है। इस विधि से वे अपने में से कर्त्तापन हटा देते हैं। इस विधि को अष्टांगयोग-यज्ञ से कर्म करना अर्थात् आत्म-स्वरूप के मेल से कर्म करना कहते हैं।

(१०) कुछ यत्नशील सज्जन भगवान् के नाम का जप एवं भगवत् प्राप्ति के समर्थक शास्त्रों के अध्ययन को ज्ञानयज्ञ मानते हैं। अस्तु, वे शास्त्रों का अध्ययन करते हैं तथा अहिंसा आदि उग्र व्रतों का पालन करते हैं। इस प्रकार उन्हें यह धारणा हो जाती है अथवा ज्ञान आ जाता है कि जप, स्वाध्याय, व्रतादि से उनके कर्म

फलों का अन्त हो गया है। जो व्यक्ति इस विधि से कर्त्तापन से निर्लिप्त हो जाते हैं उनको ज्ञान-यज्ञ के करने वाले कहते हैं।^१

(११) कुछ योगीजनों की धारणा है कि बाहर से श्वास (प्राण-वायु) को जब भीतर खींच ले जाते हैं तब वायु के माध्यम से बाह्य वातावरण में व्याप्त विचारधारा की तरंगें भीतर जाती हैं। वे भीतर पहुँचकर अपानवायु से मिलती हैं तभी सब कर्म होते हैं। इस प्रकार वे कर्म का कर्त्ता श्वास को बनाकर स्वयं कर्त्तापन से अपने को पृथक् कर लेते हैं। इस विधि को प्राणवायु को अपानवायु में हवन करना चाहते हैं। ऐसा करने से पूरक प्राणायाम द्वारा कुण्डलिनी-शक्ति (अध्यात्म-शक्ति) जाग्रत होती है।

(१२) कुछ योगीजन श्वास को कर्म का कर्त्ता मानते हैं पर उनका दृष्टिकोण दूसरा ही होता है। वे देखते हैं कि अपान-वायु के माध्यम से संकल्पों की तरंगें जब बाहर आती हैं तब बाहर प्राणवायु में स्थित संकल्प-तरंगों से मिलती हैं तभी कर्म होते हैं। इस प्रकार इस श्वास की क्रिया को कर्मों का कर्त्ता मानकर वे कर्त्तापन से अपने को मुक्त कर लेते हैं। इस क्रिया को योगीजन अपान-वायु को प्राण-वायु में हवन करना कहते हैं। यह भी कुण्डलिनी-शक्ति जाग्रत करने को रेचक प्राणायाम की क्रिया है। ऐसे योगी इस कुण्डलिनी शक्ति को ही कर्म का कर्त्ता स्पष्टरूप से अनुभव करते हैं।

(१३) कुछ योगीजन श्वास के आधार से गतिशील हुई विचारतरंगों को कर्म का कर्त्ता तो मानते हैं पर उनकी धारणा पृथक् है। उनके दृष्टिकोण से प्राणवायु में भरी संकल्पतरंगें जो बाहर हैं और अपान वायु में जो भीतर हैं उन्हें रोककर वे अनुमान करते हैं कि कर्मों के कर्त्ता ये मिले हुए मिश्रित संकल्प ही हैं। इस क्रिया को योगी प्राण और अपानवायु की गति को रोकना अर्थात् कुम्भक प्राणायाम कहते हैं। यह भी वह क्रिया है जिससे कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होती है। अतः इस प्रकार ये योगी स्वयं की अपेक्षाकृत अपनी

१. द्रव्यज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।

स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

कुण्डलिनी-शक्ति को कर्म करते हुए स्पष्ट अनुभव करते हैं और वे कर्त्तापन से अपने को पृथक् कर लेते हैं।^१

(१४) कुछ योगीजन सीमित और विशेष प्रकार का हल्का आहार करके बाहर व्याप्त प्राण-वायु को भीतर नासिका से खींचते हैं और प्राण (शरीर की वह हवा जिससे वह जीवित कहलाता है), अपान (वह हवा जो गुदा मार्ग से निकलती है), उदान (वह वायु जिसकी चाल हृदय से कण्ठ और तालु तक तथा सिर से भूमध्य तक मानी गई है, डकार और छींक इसी से आती है), व्यान (वह वायु जो सारे शरीर में व्याप्त रहती है) और समान (वह हवा जो नाभि के पास रहती है और अन्नादि पचाने के लिए आवश्यक मानी जाती है) की मिश्रित वायु जो शरीर में व्याप्त रहती है उसके मिश्रित रूप से बाहरी वायु को मिलाकर वहीं रोक लेते हैं। पुनः पाँचों प्राणों की मिश्रित वायु को बाहर निकाल देते हैं। इस प्रकार नासिका से बाहर की वायु को अपने भीतर ले जाते हैं और भीतर ही कुछ देर रोके रहते हैं फिर बाहर निकाल देते हैं। इस क्रम को एक निश्चित अवधि तक वे करते रहते हैं। इस प्रकार वे पूरक, कुम्भक और रेचक तीनों ही विधियों से प्राणायाम कर मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी-शक्ति को जाग्रत करते हैं। इस शक्ति के जाग्रत होने पर वे प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं कि वे स्वयं कुछ नहीं कर रहे हैं, शरीर की समस्त क्रियाएँ उस शक्ति द्वारा ही हो रही हैं। इस रीति से वे अपने को कर्त्तापन से मुक्त कर लेते हैं। इस प्रकार शक्ति जाग्रत करने के हेतु की गई प्राणायाम की क्रिया को प्राणों का प्राणों में हवन करना कहते हैं। अस्तु, इन यज्ञ की विधियों से जिन योगियों ने कर्त्तापनरूपी पापकर्म को नष्ट कर दिया है वे सब योगी यज्ञ के रहस्य को जानने वाले हैं।^२

वस्तुतः हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन, वैष्णवीशक्ति द्वारा सृष्टि के पालन हेतु किए गए कर्मों को व्यापक रूप से यज्ञकर्म कहते हैं। हाँ, तू

१. अपाने जुहति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥२६॥
२. अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुहति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः॥३०॥

यह जानता ही है कि प्रत्येक कर्म के पूर्ण होने पर कुछ न कुछ परिणाम अवश्य निकला करता है। लेकिन, जब व्यक्ति कर्म के परिणाम को वैष्णवीशक्ति के अधिकार में सौंप देता है (चाहे ज्ञान से चाहे उपासक होकर) तो उसके पास वैसे तो प्रत्यक्ष में कर्म का परिणाम कुछ नहीं रहता पर विचारपूर्वक देखें तो उसके पास भी कुछ परिणाम बच जाता है और उस बचे हुए अवशिष्ट भाग को अमृत अथवा शान्ति कहते हैं। क्योंकि, कर्त्तापन का अभाव होते ही व्यक्ति शान्ति का अनुभव किया करता है। इस शान्तिप्राप्ति को ही सनातन परब्रह्म की प्राप्ति कहते हैं। जो व्यक्ति स्वधर्म-पालन को यज्ञ-कर्म (फलेच्छा रहित कर्म) नहीं बनाता है अर्थात् कर्त्तव्य-भावना को त्यागकर कर्म नहीं करता है, उसको मनुष्य-लोक भी शान्तिदायक नहीं होता तो फिर अन्य लोक कैसे उसे शान्ति दे सकते हैं अर्थात् जब वह स्वयं ही अपनी शान्ति भंग करने को उद्यत है तो अन्य लोग उसे कैसे शान्ति-प्रदान कर सकते हैं?’

ऐसे विविध यज्ञों का उल्लेख वेदों में विविध प्रकार से किया गया है। किन्तु, उन सब को तू शरीर, मन इन्द्रियाँ आदि की क्रिया द्वारा ही उत्पन्न होने वाले जान अर्थात् उन्हें तू प्रकृति के ही क्रिया-कलाप समझ। अस्तु, तू यदि इस आवश्यक तत्व की जानकारी कर लेता है तो तू कर्त्तापन से मुक्त हो जायगा अर्थात् तू संसार के बन्धन से मुक्त हो जायेगा।^१

हे परम तपस्वी अर्जुन, तू यह निश्चय जानले कि जो यज्ञ सांसारिक पदार्थों से सिद्ध होते हैं उनकी अपेक्षा लोकसंग्रह हित किए जाने वाले यज्ञ जिन्हें तू निष्कामकर्म कह सकता है निस्सन्देह श्रेष्ठ हैं। क्योंकि, निष्कामकर्म, ज्ञानपूर्वक सम्पन्न किए जाते हैं अर्थात् कर्त्तव्य-भावना से रहित होकर किए जाते हैं। अतः हे पार्थ, ज्ञान

१. यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥३१॥
२. एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥३२॥

द्वारा किए गए कर्मों से संसारबन्धन नहीं होता। इसलिए यह कहा जाता है कि ज्ञान समस्त कर्मों का अन्त कर देता है अर्थात् ज्ञान कर्मों की अन्तिम सीमा है।

अतः श्रद्धा एवं नम्रतापूर्वक निश्छल भाव से प्रश्न पर प्रश्न करके ज्ञान के तत्व को भली-भाँति जानने वाले महापुरुषों से ज्ञान की जानकारी लेना उचित है। वे ज्ञानीजन जो मर्म को जानने वाले हैं तुझ जिज्ञासु को तत्वज्ञान का उपदेश करेंगे। २

देखो अर्जुन, ज्ञान कोई ऐसी बड़ी जटिल समस्या नहीं है जो सुलझाई न जा सके। वरन् वह अत्यन्त सरल है। हाँ, यदि तू ज्ञान का रहस्य शान्तचित्त से समझने का प्रयत्न करेगा तो तू शीघ्र समझ सकता है। वस्तुतः ज्ञान के रहस्य को समझने के लिए व्यक्ति को अधिकारी बनने में देर लगती है। किन्तु, निष्कामकर्म करने से व्यक्ति अधिकारी सहज ही में बन जाता है। क्योंकि, वह तटस्थ रहकर कर्म करता है। तटस्थ रहने से उसे यह ज्ञान का मर्म शीघ्र समझ में आने लगता है कि स्थूलशरीर से कर्म कैसे किया जा रहा है, सूक्ष्मशरीर उससे कैसे कर्म करा रहा है, तथा आत्मा किस प्रकार दृष्टा बनी हुई है और उसकी सत्ता से सूक्ष्म शरीर किस प्रकार टिका हुआ है तथा उससे किस प्रकार पूर्ण स्वतन्त्र भी है। निस्सन्देह उसे अच्छी तरह समझ में आ जाता है कि एक व्यक्ति के मोटे रूप से तीन विग्रह होते हैं - स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर और आत्मा। इसी प्रकार जगत् के विग्रह भी तीन होते हैं। समस्त प्राणीमात्र के मिले हुए स्थूलशरीरों का एक बृहत् स्थूलशरीर, समस्त प्राणीमात्र के मिले हुए सूक्ष्मशरीरों का एक बृहत्सूक्ष्मशरीर और समस्त प्राणीमात्र के मिले हुए आत्म-तत्वों का एक बृहत्आत्मतत्त्व। यद्यपि आत्मा स्वयं दृष्टा है तथापि उसके

१. श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥३३॥
२. तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥३४॥

अस्तित्व से ही सूक्ष्मशरीर, स्थूलशरीर से कर्म कराता है। अस्तु, प्रत्यक्ष में तो व्यक्ति अनुभव करता है कि उसका सूक्ष्मशरीर अर्थात् उसकी विचारधारा, स्थूलशरीर से काम कराती है, किन्तु, सूक्ष्मदृष्टि से यह भी अनुभव होने लगता है कि उसके शरीर व विचारों की जानकारी रखने वाली एक अलग सत्ता भी है जिसे आत्मा कहते हैं। यह आत्मा प्रत्येक घटित घटना की जानकारी रखती है, करती कुछ भी नहीं। किन्तु, उसकी यह विशेषता है कि उसके अस्तित्व के बिना स्थूल और सूक्ष्मशरीर का कोई अस्तित्व ही नहीं। देखो अर्जुन, यह तथ्य और भी अच्छी तरह समझा जा सकता है। क्षणिक एकाग्रचित से समझने का प्रयत्न करके अनुभव कर कि एक व्यक्ति अपने विचारों में तल्लीन है। इस स्थिति में यदि कोई उससे पूछे कि क्या उसके हाथ हैं? तो वह अपने हाथों की ओर देखने लगेगा और उसे अनुभव होगा कि उसके हाथ हैं। जब वह विचारों में तल्लीन था तब उसे अपने हाथों का पता ही न था। उसका ध्यान जब हाथों की ओर आकर्षित किया गया तभी उसे अपने हाथों के अस्तित्व का भान हुआ। इसी प्रकार शरीर के समस्त अवयवों के सम्बन्ध में कहा जा सकता है। यहाँ तक कि समस्त अवयवों से युक्त पूर्णशरीर का जब व्यक्ति ध्यान करता है तब वह अपने पूर्णशरीर का भान करता है। चूँकि मानवशरीर के मस्तिष्क में विचारधारा के रहने के स्थान को सूक्ष्मशरीर कहते हैं अतः जब व्यक्ति अपनी विचारधारा में तल्लीन है अर्थात् सूक्ष्म शरीर में स्थित है तब उसे सूक्ष्म शरीर का पता ही नहीं रहता। यदि वह अपनी विचारधारा द्वारा अर्थात् सूक्ष्मशरीर में स्थित रहकर अपने शरीर के अवयवों की बनावट का चिन्तन करने लगे तो उस व्यक्ति को अपने शरीर के प्रत्येक अंग भी (कल्पना में) दिखेंगे और वह उनके सम्बन्ध में विचार भी करेगा।

इसी प्रकार यदि वह अपने स्थूलशरीर के पूर्णरूप का मन में विचार करने लगे तो उसे अपनी कल्पना में उसका पूर्ण स्थूलशरीर भी दिखेगा।

इसी विधि से यदि व्यक्ति अपनी आत्मा में स्थित रहकर सूक्ष्मशरीर का चिन्तन करना चाहे तो ऐसा कर सकता है, क्योंकि आत्मा सूक्ष्मशरीर में स्थित विचारों की दृष्टा है। अतः यदि व्यक्ति मन में

यह सोचता है कि वह आत्मा में स्थित है और वह सूक्ष्मशरीर के अन्तर्गत निवास करने वाले विचारों का दृष्टा है, तो ऐसी स्थिति में उसका ध्यान उसके अन्दर उठने वाले विचारों की ओर आकर्षित होगा अर्थात् उसके संकल्पों का उसे स्फुरण होने लगेगा। कभी उसके सामने किसी व्यक्ति का, कभी किसी स्थान का, कभी किसी घटना का रूप स्मरण होने लगेगा। सत्य ही, प्रत्येक व्यक्ति नित्य ही श्वास-प्रश्वास की क्रिया करता रहता है। इस क्रिया में वह बाहर से श्वास खींचकर अपने भीतर ले जाता है और भीतर जाने पर वह श्वास भीतर व्याप्त वायु से मिलकर तत्काल बाहर आती रहती है। श्वास के भीतर जाने और आने में श्वास में व्याप्त स्मृतियों की तरंगों का भी आवागमन होता रहता है। इन विचार-तरंगों के स्पन्दन को ही व्यक्ति के संकल्पों का स्फुरण कहते हैं

जिस स्थिति में व्यक्ति इन संकल्पों के स्फुरण का मानसिक अनुभव करता है और विचार करता है कि उसे अमुक संकल्प का भान हो रहा है, ऐसी स्थिति में उस व्यक्ति के सम्बन्ध में ऐसा कह सकते हैं कि वह अपने आत्म-रूप में स्थित होकर सूक्ष्मशरीर को देख रहा है।

उपरोक्त विधि से यदि व्यक्ति अपने मन में समस्त जगत् का दर्शन करना चाहता है तो वह जगत् की सभी वस्तुएँ देख सकता है। सूर्य का ध्यान आते ही कल्पना में सूर्य दिखेगा, चन्द्र का ध्यान करते ही चन्द्र। इसी प्रकार नदियाँ, पर्वत, जंगल, नगर, कस्बे, ग्राम सभी दिखेंगे। मनुष्यों का ध्यान आते ही कल्पना में जगत् के अनन्त मानव दृष्टिगोचर होने लगेंगे। यदि वह अपने नगर के सम्बन्ध में चिन्तन करता है तो उसे उसका नगर दिखने लगेगा। नगर में वह व्यक्ति अपने घर का ध्यान करता है तो उसे उसका घर भी दिखने लगेगा। ऐसे ही यदि वह स्वयं अपने आपको ही देखना चाहता है तो उसे उसका रूप भी उसकी कल्पना में दिखने लगेगा। यदि वह अपने आपके सहित जगत् के मानवों को देखना चाहता है तो वह समस्त जगत् के मानवों का चित्र भी अपनी कल्पना में देखेगा और इस चित्र में स्वयं उसका भी रूप दिखेगा। अस्तु, इस रीति से व्यक्ति जगत् को अपनी कल्पना में देख सकता है। अब यदि वह समस्त जगत् के मानवों की एक ही मूर्ति देखना

चाहता है तो वह समस्त जगत् की एक मूर्ति भी देख सकता है। ऐसी स्थिति में वह देखेगा कि समस्त जगत् एक बृहत् आकार का प्राणी है। उसका सिर इतना बड़ा है कि उसके सिर के विभाग करें और एक-एक भाग को अलग-अलग देखें तो एक-एक मानव का सिर भान होगा अर्थात् वह देखेगा कि जगत् रूपी प्राणी का सिर वास्तव में विशालतम आकार का है। ऐसे ही उसके शरीर के प्रत्येक अवयव बहुत बड़े-बड़े आकार के हैं। वह यह अपने मन में देख सकता है कि जगत् के समस्त मानवों के सम्मिलित सिर के रूप में उसका स्वयं का सिर भी जगत् के सिर के एक अत्यन्त सूक्ष्म भाग में चिपका हुआ है। ऐसे ही उसका शरीर भी जगत् के शरीर के एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाग में स्थित है। इसी प्रकार यदि व्यक्ति अपने मन में समस्त जगत् के प्राणियों को एक प्राणी के रूप में देखना चाहे तो देख सकता है। ऐसी स्थिति में वह विचार करेगा कि जैसे एक प्राणी के स्थूल, सूक्ष्म और आत्मा तीन विग्रह होते हैं वैसे ही जगत् रूपी प्राणी के भी तीन विग्रह हैं - स्थूल, सूक्ष्म और आत्मा। साथ ही वह अनुभव करेगा कि जगत् का स्थूल-शरीर वस्तुतः संसार के समस्त प्राणियों के सम्मिलित स्थूलशरीरों का एक बहुत बड़ा आकार है। जगत् का सूक्ष्मशरीर वस्तुतः समस्त प्राणियों की विचारतरंगों का एक विशाल भण्डार है और जगत् की आत्मा वस्तुतः संसार के समस्त प्राणियों की विचारधाराओं को दृष्टा बनकर देखने वाली एक असीम विशालसत्ता है।

अस्तु, व्यक्ति सूक्ष्म शरीर में रहकर स्थूल शरीर को और आत्मा में रहकर सूक्ष्म शरीर को देख सकता है। यदि वह समस्त जगत् के प्राणियों की एक ही सम्मिलित मूर्ति की कल्पना करता है तो वह समस्त जगत् के प्राणियों के सम्मिलित सूक्ष्मशरीर में रहकर जगत् के समस्त प्राणियों के सम्मिलित स्थूलशरीर को और जगत् के प्राणियों की सम्मिलित आत्मा में रहकर समस्त जगत् के प्राणियों के सूक्ष्मशरीर रूपी विचारतरंगों को देख सकता है। उपरोक्त मानसिक विचारधारा की गतिविधि को यदि व्यक्ति अभ्यास करके पुष्ट कर ले तो निश्चित ही उस व्यक्ति की दृष्टि में समस्त जगत् के प्राणियों के सम्मिलित तीनों रूप स्थूल, सूक्ष्म व आत्मा उसकी कल्पना द्वारा उसके मानस में स्पष्ट दिखने लगेंगे। चूँकि व्यक्ति की कल्पना का स्थान उसके मस्तिष्क के अन्दर है, अतः समस्त जगत् की

मूर्ति के विशाल-आकार का विचार उसे अपने मस्तिष्क में अनुभव होगा। ऐसे अनुभवी व्यक्ति के मस्तिष्क की विचारतरंगों में समस्त जगत् के प्राणियों का सम्मिलित रूप सदैव समाया रहता है। अस्तु विवेचन से स्पष्ट है कि यदि व्यक्ति सूक्ष्मशरीर में स्थित रहकर विचार करे तो अपने स्थूलशरीर के अस्तित्व को भी अपने मस्तिष्क की विचारतरंगों में स्थित अनुभव कर सकता है और यदि आत्मा में स्थित होकर अनुभव करे तो अपने सूक्ष्मशरीर का भी अनुभव कर सकता है। इस ज्ञान का अभ्यास हो जाने पर व्यक्ति अपने अस्तित्व को पृथक् न मानकर जगत् के अस्तित्व में लीन कर देता है। जगत् की आत्मा में उसकी आत्मा, जगत् के सूक्ष्मशरीर में उसका सूक्ष्मशरीर, जगत् के स्थूलशरीर में उसका स्थूलशरीर अन्तर्धान हो जाता है। इस ज्ञान की अवस्था में पहुँचकर यदि वह अपने को जगत् के सूक्ष्मशरीर में स्थित करके देखे तो जगत् का स्थूलशरीर अपने अन्दर देख सकता है और यदि वह जगत् की आत्मा में अपने को स्थित करके देखता है तो वह जगत् का सूक्ष्म शरीर भी अपने अन्दर देख सकता है। अस्तु, ज्ञान का अभ्यास परिपक्व हो जाने पर व्यक्ति जगत् में व्याप्त होकर जगत् के सूक्ष्मशरीर में स्थित हो जाता है। तब वह समस्त प्राणियों के स्थूल शरीरों को अपने अन्दर देखता है और फिर वह व्यक्ति जगत् में व्याप्त होकर जगत् की आत्मा का दर्शन करता है। ऐसी स्थिति में उसे अपनी आत्म-सत्ता के अन्दर स्थूल व सूक्ष्म दोनों शरीर दिखाई पड़ते हैं। अस्तु, हे अर्जुन, ज्ञान का अभ्यास होना आवश्यक है, जिसका अभ्यास हो जाने पर तू 'तेरे' 'मेरे' के मोह को प्राप्त नहीं होगा। साथ ही इसी ज्ञान के अभ्यास से तू प्राणिमात्र को अपने अन्दर अनुभव करेगा और फिर, अपने स्थूल व सूक्ष्मशरीर को सब प्राणियों के स्थूल व सूक्ष्मशरीर सहित आत्मा की सत्ता के अन्तर्गत अनुभव करेगा। इस प्रकार तू एक व्यक्ति की पृथक् से एक आत्मा न रहकर समष्टिरूप में अपनी उस आत्मा को समस्त जगत् की एक आत्मा का ही रूप अनुभव करने लगेगा। फलतः ज्ञान के अभ्यास की परिपक्व अवस्था होने पर तू शुद्ध सच्चिदानन्द भाव को प्राप्त हो जावेगा।'

9.

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।

येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥३५॥

वस्तुतः अर्जुन, अभी तक तू अपने को कर्म का कर्ता मानता रहा है। अतः तू समझता है कि तेरे द्वारा जाने या बिना जाने अनेकों पापकर्म हुए हैं। चूँकि तू अन्य लोगों के अन्तःकरण से तो अपरिचित है किन्तु, अपने से भली-भाँति परिचित है, अतः तुझे अपने पापकर्म औरों की अपेक्षा अधिक प्रतीत होते हैं। अस्तु, तू अभी तक अपने को चाहे पापियों का शिरोमणि ही क्यों न समझता हो किन्तु, जब तू कर्तव्य-भावना से अपने को पृथक् समझने का अभ्यास करने लगेगा और प्रकृति को समस्त कर्मों का कर्ता समझेगा तब तू स्पष्ट अनुभव करेगा कि तेरे द्वारा न तो पापकर्म हुए हैं और न पुण्य कर्म। तू तो केवल उनका दृष्टा मात्र था। इस दृष्टिकोण को ही ज्ञान कहते हैं। अतएव तू विश्वास रख कि यदि तू सब पापियों से भी अधिक पाप करने वाला है तो भी उपरोक्त ज्ञानरूप नौका द्वारा, सचमुच तू अपने सम्पूर्ण पापों को अच्छी प्रकार तर जायगा। १

वस्तुतः हे अर्जुन, जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि ईंधन को भस्म कर देता है वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्म कर देता है। २

देखो अर्जुन, तुझे विदित है कि सकामकर्म का परिणाम सदैव सुख या दुःख हुआ करता है। इससे शान्ति कभी नहीं प्राप्त होती। किन्तु, ज्ञान आते ही कर्म में से व्यक्ति का कर्तापन हट जाता है। परिणामतः कर्म, निष्कामकर्म अथवा लोक-संग्रह के लिए हो जाते हैं जिससे व्यक्ति के सुख-दुःख का अन्त हो जाता है और वह शान्ति प्राप्त करता है। अतः इस संसार में यदि पवित्र करने वाली अर्थात् शान्ति देने वाली कोई शक्ति है तो वह केवल ज्ञान है और ज्ञानप्राप्ति का एकमात्र सुगम साधन है निष्कामकर्म का करना। यदि व्यक्ति समत्वबुद्धि से निष्कामकर्म करना

१. अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥३६॥
२. यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥३७॥

आरम्भ करदे तो उनको करते-करते ही एक समय ऐसा आ जाता है जबकि व्यक्ति को निष्कामकर्म का वास्तविक रहस्य स्वयमेव ही उसके अतःकरण में स्पष्ट अनुभव होने लगता है अर्थात् उसे ज्ञान प्राप्त हो जाता है।'

जहाँ ज्ञान प्राप्ति के लिए निष्कामकर्म करना आवश्यक है वहाँ निष्कामकर्म करने के लिए भी यह आवश्यक है कि व्यक्ति को अपने लक्ष्य के प्रति श्रद्धा होनी चाहिए। अपने मन को तदनुकूल आचरण करने के लिए इन्द्रियों पर नियन्त्रण होना चाहिए क्योंकि यदि व्यक्ति को ज्ञान प्राप्ति के उद्देश्य की पूर्ति में शंका है तो उसे अधिक काल तक धैर्य नहीं रहेगा और वह इस अभ्यास को बीच में ही छोड़ देगा। इसी प्रकार यदि मन और इन्द्रियों पर व्यक्ति का नियन्त्रण नहीं है तो उसकी पूर्व की अभ्यस्त सकामकर्म की वृत्ति पुनः प्रबल हो जावेगी और निष्कामकर्म करने की वृत्ति का आचरण रुक जावेगा। अतः इस तथ्य को ध्यान में रखना आवश्यक है कि श्रद्धालु, अभ्यास में निरन्तर लगे रहने वाला तथा जितेन्द्रिय व्यक्ति ही ज्ञान प्राप्त करता है। ज्ञान के आते ही परम शान्ति अविलम्ब प्राप्त हो जाती है, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं। २

किन्तु, जो व्यक्ति इस शान्तिप्राप्ति के रहस्य को नहीं जानता है और उसे श्रद्धा भी नहीं है अथवा शंका करता है तो वह कभी ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता। क्योंकि, ऐसे शंकास्पद व्यक्ति निष्काम-कर्म करना आरम्भ ही नहीं कर पाते। अतः सकामकर्म करते रहने से व्यक्ति उनके परिणामस्वरूप राग-द्वेष से जीवन पर्यन्त सुख-दुःख पाता रहता है। साथ ही जो व्यक्ति सकामकर्म करते हुए शरीर छोड़ता है तो वह दूसरे जीवन में भी पूर्व के जीवन के अनुसार ही सकामकर्म करता है और सुख-दुःख के द्वन्द्व में पड़ा रहता है। अस्तु

१. न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्त्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥३८॥
२. श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥३९॥

संशययुक्त पुरुष के लिए न तो सुख उपलब्ध होता है न लोक अथवा परलोक अर्थात् यह लोक और परलोक दोनों ही उसके लिए भ्रष्ट हो जाते हैं।

किन्तु, हे अर्जुन, जिसने भली प्रकार कर्म के रहस्य को समझ लिया है और जिसने अपने समस्त कर्म-बन्धन त्याग दिये हैं अर्थात् अपने समस्त कर्म-फल त्रिगुणात्मक माया को अथवा अपने इष्टदेव को अर्पण कर दिए हैं, जिसे पूर्णविश्वास है कि कर्म को ईश्वरार्पण करने से ही शान्ति आती है, जिसने बुद्धि द्वारा अपनी सब शंकाओं का समाधान कर लिया है, जिसको ऐसा अभ्यास हो गया है कि वह लोक-हित के समस्त कर्म करता तो बड़ी लगन से है किन्तु, जब उनके परिणाम भोगने का समय आता है तब वह तुरन्त ही आत्म-स्वरूप में स्थित हो जाता है अर्थात् अपने को कर्म का कर्त्ता नहीं मानता ऐसा आत्म-ज्ञानी कर्त्तव्यकर्मों को तो पूर्ण मनोयोग से करता है किन्तु, कर्मों के फल से चाहे वे अनुकूल हों अथवा प्रतिकूल दोनों को ही समानरूप से बन्धन का कारण समझकर उनसे अपना सम्बन्ध नहीं रखता अर्थात् उन्हें त्याग देता है अतः उसे कर्मबन्धन का डर नहीं है। अस्तु, हे अर्जुन जिस आत्मज्ञानी ने कर्मयोग के रहस्य को पूर्णतः समझकर समत्व-बुद्धि से कर्म-बन्धन रूप कर्म-फल ईश्वरार्पण कर दिए हैं और ज्ञान से जिसके सन्देह दूर हो गये हैं उस आत्म-परायण पुरुष को कर्म नहीं बाँधते हैं।^२

अतः हे अर्जुन हार-जीत में समबुद्धि रखकर तू स्वधर्म का पालनकर और फलेच्छास्वपी अज्ञान को निष्काम भावनास्वपी तलवार से काट दे। तेरे हृदय में यह संशय है कि युद्ध में कहीं हार न हो जावे, यही अज्ञान है। इसको दूर कर दे और समत्वबुद्धि से युद्ध के लिए खड़ा हो जा।^३

१. अज्ञश्चाश्रद्धानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥४०॥
२. योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय॥४१॥
३. तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्तैवं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥४२॥

वस्तुतः यही भगवान् का उपदेश था जो अर्जुन पहले सुन चुका है। इसके अनुसार ही वह निष्कामकर्म करने का अभ्यास श्रद्धा पूर्वक करता रहा है और उस संस्कार के स्मृति-चिह्न उसके मस्तिष्क में स्थित हैं। वे अब अर्जुन को युद्ध में होने वाली हार-जीत की ओर से उसकी चित्तवृत्ति को हटाकर उसे दोनों स्थितियों में सम-दृष्टि रखकर युद्ध करने के लिए प्रेरित करते हैं। वस्तुतः स्थिति यह है कि श्रीकृष्ण भगवान् के द्वारा दिए गये निष्कामकर्म करने के पूर्व अर्जित उपदेशों के संस्मरण ही उसके सामने इस समय उभर आये हैं और वे फलेच्छारूपी उसके अज्ञान को तत्काल निवारण कराने के हेतु अर्जुन को प्रेरित कर रहे हैं कि वह युद्ध में 'हार' होगी अथवा 'जीत' इस संशय को समत्व-बुद्धिरूपी तलवार से काट दे और युद्ध के लिए खड़ा हो जावे अर्थात् जिस निष्कामवृत्ति का वह अभ्यास अन्य कर्मों के करने में कर रहा था उसी निष्कामवृत्ति से युद्ध के परिणाम को भगवान् के चरणों में अर्पणकर उसे स्वधर्म-पालन करना चाहिए अर्थात् उसके सन्मुख उपस्थित धर्मयुद्ध को उसे समबुद्धि से एवं पूर्ण मनोयोग से लड़ना चाहिए।

ओऽम् शम्

ॐ

पाँचवा अध्याय

कर्म-संन्यासयोग

अर्थात्

निष्कामकर्म द्वारा ज्ञानी
की योग्यता प्राप्त करने
का प्रकरण ।

कर्म-संन्यास-योग

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥७॥

निष्कामकर्मयोगी जो कर्तव्य भावना से आने वाली अपवित्रता से रहित है अर्थात् विशुद्ध अन्तःकरण वाला है, जिसका मन, इन्द्रियों को अपने लक्ष्य के अनुकूल चलाता है अथवा यूँ कह कि जिसकी मन सहित इन्द्रियाँ वश में हैं और जो सम्पूर्ण प्राणियों की आत्माओं में भिन्नता नहीं देखता अर्थात् एक ही परमात्म-तत्त्व को, समस्त प्राणियों का आधारभूत मानता है, वस्तुतः वह शरीर से कर्म करता हुआ भी कर्म-फल में लिप्त नहीं होता अर्थात् कर्म-बन्धन से ज्ञानी के सदृश ही मुक्त है॥७॥

श्रद्धापूर्वक ईश्वरार्पण बुद्धि द्वारा अपने में से कर्त्तापन का भाव निवारण कर निष्कामकर्त्तव्य-पालन करने की युक्ति का स्पष्टीकरण वेदव्यास जी ने भगवान् श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से चतुर्थ अध्याय में करा दिया है, जिसे पाठक पढ़ चुके हैं। अब, वे पुनः श्रीकृष्ण भगवान् के श्रीमुख से ही यह स्पष्ट करा रहे हैं कि निष्कामकर्म करने के अभ्यास द्वारा शनैः-शनैः कैसे साधक में ज्ञानी की योग्यता आ जाती है। इसी विषय का विशद विवरण पाठक इस पंचम अध्याय में पढ़ेंगे।

जब अर्जुन को निष्कामकर्म द्वारा कर्त्तव्य-पालन करने का भगवान् का उपदेश स्मरण हुआ तब उसे यह भी स्मरण हो आया था कि भगवान् के उपदेश श्रवण करने के उपरान्त, उसने भगवान् से यह भी उस समय कहा था कि उनके उपदेशानुसार जब एक व्यक्ति अपने सब कर्म ईश्वर के अर्पण कर देता है तब वह कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में उसकी दृष्टि से उस व्यक्ति को फिर कर्म करने की आवश्यकता नहीं रहती। किन्तु, उनके उपदेश के भाव का उस पर यह भी प्रभाव पड़ा था कि उसे निष्काम भाव से कर्म भी करना चाहिए। इस कारण उसके सामने यह उलझन आ गई थी कि उसे कर्म करना चाहिए या नहीं। अस्तु, व्यासजी अर्जुन से प्रश्न करवाते हैं कि “हे श्रीकृष्ण, आप पहले तो कर्मों के संन्यास की ओर फिर निष्कामकर्मयोग की प्रशंसा करते हो अतएव इन दोनों में जो सिद्धान्त निश्चय किया हुआ कल्याणकारक आपके मत से हो उसी को मेरे प्रति कहने की कृपा करें।”

-
9. अर्जुन उवाच- संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय, य एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥१॥

इस प्रकार अर्जुन के प्रश्न करने पर भगवान् ने पुनः अपना मत स्पष्ट किया था कि उसे निष्कामभाव से ही कर्तव्य-पालन करना चाहिए। भगवान् के उसी उपदेश को अब वेदव्यासजी पाठकों के लाभार्थ उन्हीं के श्रीमुख से उनके ही शब्दों में कहलाने की कृपा करते हैं। अस्तु, भगवान् कहते हैं कि देखो-अर्जुन, मैंने तुझे कर्म करने का ही उपदेश दिया है। यह मुझे कदापि मान्य नहीं है कि व्यक्ति कर्म ही न करे। सब कर्म ईश्वरार्पण कर देने के मेरे उपदेश का तात्पर्य जो तूने निकाला है उसका भाव यह नहीं है कि व्यक्ति सब कर्म मूलतः ही ईश्वर के अर्पण कर दे और वह स्वयं कुछ न करे। अपितु, मेरा अभिप्राय यह है कि कर्म तो करने ही चाहिए, केवल उनके फल ईश्वर के अर्पण कर देना श्रेयस्कर है। क्योंकि यह सर्वविदित है कि कर्म के फल के भोक्ता को अच्छा फल मिलने पर सुख और बुराफल मिलने पर दुःख हुआ करता है। अतएव जब व्यक्ति ने कर्म-फल भगवान् के अर्पण कर दिये तो न तो वह कर्म के अच्छे फल का मुधरस्वाद लेगा और न बुरे फल की कटुता का ही अनुभव करेगा अर्थात् वह सुख-दुःख से निश्चिन्त हो जावेगा। कर्मफल के परिणामस्वरूप जो सुख-दुःख आता है, वही कर्म का बन्धन माना जाता है। इसी को जन्म लेने का कारण बताते हैं।

अब, तुझे यह विचारणीय है कि निःस्वार्थ दृष्टि से जब कोई व्यक्ति किसी अन्य-व्यक्ति का काम करता है तब उसका आदर तो विशेष रूप से किया जाता है किन्तु, स्वयं उसका कर्मफल से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। अतः वह निर्द्वन्द्व रहता है। इसी प्रकार से यदि निर्द्वन्द्व होकर कोई व्यक्ति लोक-हितार्थ जन्म ले तो समाज का अहोभाग्य ही समझा जावेगा। उसका जन्म लेना बन्धनकारी कदापि नहीं हो सकता।

देखो अर्जुन, 'संन्यास' और 'कर्मयोग' ये दो शब्द संसार में बहुत प्रचलित हैं, विशेषकर आध्यात्मिक जगत् में, जिनके अर्थ स्पष्ट समझ में न आने से व्यक्ति प्रायः भ्रम में पड़ जाता है।

अतः मैं उन शब्दों की स्पष्ट व्याख्या करता हूँ, जिसके मनन करने से तुझे स्पष्ट विदित हो जावेगा कि दोनों शब्द एक ही लक्ष्य प्राप्ति की दो सीढ़ियाँ हैं ठीक वैसे ही जैसे एक उच्च कक्षा को उत्तीर्ण करने की योग्यता की दो श्रेणियाँ-प्रथमवर्ष और द्वितीय वर्ष। यदि ऐसी सुविधा हो कि कोई छात्र बिना प्रथम वर्ष की परीक्षा उत्तीर्ण किए

द्वितीय वर्ष की परीक्षा सीधी देना चाहे तो दे सकता है, ऐसी स्थिति में यदि कोई छात्र प्रथमवर्ष की योग्यता प्राप्त न करते हुए द्वितीयवर्ष की योग्यता प्राप्त करने का अभिलाषी है तो वह परीक्षा में बैठ सकता है, किन्तु, उसकी सफलता शङ्कास्पद है, और साथ ही कठिन भी है। यदि वही छात्र प्रथमवर्ष की पूर्ण-योग्यता प्राप्त कर द्वितीयवर्ष की योग्यता प्राप्तकरता है तो उसको उस कक्षा की योग्यता प्राप्त करने में सरलता होगी। इसी प्रकार निष्कामकर्मयोग का अभ्यास करके जब साधक ज्ञानयोग का अभ्यास करता है तब उसको कठिनाई भी नहीं उठानी पड़ती और सफलता भी सुगमता से प्राप्त हो जाती है। अस्तु, कार्यों का संन्यास और निष्कामकर्मयोग ये दोनों ही परमकल्याण के करने वाले हैं परन्तु, उन दोनों में कर्मों के संन्यास की अपेक्षा साधन में सुगम होने से निष्कामकर्म योग श्रेष्ठ है।^१

वस्तुतः मानव शान्ति चाहता है और पूर्णशान्ति का अनुभव मानव तब ही कर पाता है जब वह संन्यास के स्तर पर पहुँच जावे। इस स्तर की यह विशेषता है कि व्यक्ति समस्त मानवों के प्रति समदृष्टि रखता है। किसी से द्वेष नहीं करता। साथ ही किसी वस्तु की कभी आकांक्षा नहीं करता। अस्तु, हे अर्जुन, जो व्यक्ति न किसी से द्वेष करता है और न किसी की आकांक्षा करता है वह सदा सन्यासी ही है अर्थात् ज्ञानी समझने योग्य है। क्योंकि, राग-द्वेषादि द्वन्द्वों से रहित हुआ पुरुष सुगमता से संसार के बन्धन से मुक्ति पा लेता है।^२

चाहे व्यक्ति निष्कामकर्म करके संन्यास की योग्यता प्राप्त कर परमशान्ति का अनुभव करे अर्थात् परमात्मतत्त्व को प्राप्त हो जावे, चाहे बिना निष्कामकर्म किए ही रागद्वेष से रहित निर्द्वन्द्व हो जावे अर्थात् सन्यासी होकर परमात्मतत्त्व का अनुभव करे, दोनों का परिणाम एक ही

१. श्रीभगवानुवाच - संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥२॥
२. ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥३॥

है। अस्तु, मूर्ख लोग ही निष्कामकर्मयोग को और संन्यास को पृथक-पृथक कहते हैं। पण्डितजन तो अपनी प्रकृति के अनुकूल एक में ही अच्छी प्रकार स्थित होकर दोनों के फलरूप परमात्म शान्ति पद को प्राप्त होते हैं।⁹

देखो अर्जुन, उपरोक्त विवेचन से तुझे स्पष्ट हो गया होगा कि कर्त्तापन निवारण करने के दो स्तर हैं प्रथम 'कर्मयोग' और द्वितीय 'संन्यास'। दोनों ही स्तरों को मैं तुझे भली-भाँति समझा देता हूँ जिससे तू भ्रम में न पड़े। सर्वप्रथम तू कर्मयोग को अच्छी तरह से समझ ले।

कर्मयोग का भाव है फल की इच्छा न रखते हुए कर्म करना अर्थात्

निष्कामकर्म करना। किन्तु, यह सर्वविदित है

कर्मयोग

कि प्रायः प्रत्येक व्यक्ति फल इच्छा से ही कर्म करता है और साथ ही वह स्वयं को कर्म का कर्त्ता भी मानता है। परिणामतः ऐसे व्यक्तियों को कर्म का फल अनुकूल निकलने पर सुख अनुभव होता है और प्रतिकूल होने पर दुःख।

अस्तु, स्पष्ट है कि कोई व्यक्ति कर्म भले ही करे किन्तु यदि वह अपने को कर्म का कर्त्ता नहीं मानता है तो उसे न तो दुःख होगा न सुख। दुःख-सुख के अभाव का नाम ही शान्ति है। अतः कर्म का कर्त्ता न होकर यदि कोई व्यक्ति काम करता है तो वह शान्तिपूर्वक कर्म कर सकता है। अब प्रश्न यह है कि जब व्यक्ति स्वयंकर्त्ता नहीं बनना चाहता तो फिर कर्त्ता किसको बनाया जावे जिससे कर्म भी हो जावे और स्वयं को कर्त्ता भी न बनना पड़े? सत्य ही, प्रत्येक व्यक्ति का उत्तरदायित्व है कि वह अपने परिवार के भरण-पोषण का काम करे। अस्तु, व्यक्ति को ऐसी युक्ति आनी चाहिए जिससे उसके परिवार का भरण-पोषण भी हो जावे और साथ ही वह कर्त्तव्य-भावना से रहित भी हो सके। वस्तुतः जो व्यक्ति अपने परिवार

के भरण-पोषण को अपना काम कहता है (जैसा कि जनसाधारण कहा करता है) तब उसे कर्म का कर्त्ता बनना ही पड़ेगा। यदि वह व्यक्ति अपने परिवार के भरण-पोषण के उत्तरदायित्व को दूसरे अन्य व्यक्ति के उत्तरदायित्व के अन्तर्गत करने का विचार करता है तो, प्रथम तो उसके प्रस्ताव को कोई व्यक्ति स्वीकार ही नहीं करेगा, क्योंकि दूसरे के भार को अपने ऊपर कोई नहीं लेना चाहता। प्रायः व्यक्ति स्वयं अपने भार से ही दबा रहता है। परन्तु फिर भी तू ऐसा मान ले कि कोई अत्यन्त परोपकारी जीव है, जो उसके प्रस्ताव को स्वीकार कर लेता है तो फिर ऐसी स्थिति में वह व्यक्ति कर्त्तापन से तो मुक्त हो जावेगा किन्तु वह अकर्मण्य हो जावेगा, और अकर्मण्य को अपना जीवननिर्वाह करना भी दुख हो जावेगा। अतः व्यक्ति को ऐसी युक्ति से कर्म करना चाहिए जिससे कि वह कर्मठ भी रहे, परिवार का भरण-पोषण भी करता रहे और साथ ही कर्त्तापन से भी रहित हो जावे। वस्तुतः ऐसी युक्ति अथवा साधन ही कर्मयोग है। यदि कर्मयोग का वास्तविक अर्थ समझ लिया जावे तो फिर कर्त्तापन से रहित होकर स्वधर्म-पालन करना सहज हो सकता है। कर्मयोग से तात्पर्य यह है कि कर्मफल को अपने इष्ट या राष्ट्र के अर्पण करके व्यक्ति को काम करना चाहिए। अपने परिवार को अपने भगवान् का या राष्ट्र का परिवार कहने में किसी को असुविधा नहीं प्रतीत होती। यह सर्व-विदित है कि प्रायः परिवारों के समस्त प्राणी सामूहिक रूप में अपने-अपने घरों में अपने-अपने इष्टदेवों की मूर्ति के सन्मुख बैठकर प्रार्थना करते हैं तथा आरती गाते हैं कि हे भगवन्, तुम ही हमारे पिता हो और तुम ही हमारी माता हो (त्वमेव माता च पिता त्वमेव) उस परिवार का पिता इष्टदेव को अपना पिता और माता कहकर सम्बोधन करता है। उस परिवार की माता भी उसी अपने इष्टदेव को माता, पिता के नाम से सम्बोधित करती है। उस परिवार के बच्चे भी इष्टदेव को अपने माता और पिता कहकर सम्बोधित करते हैं। इस प्रकार प्रार्थना के समय परिवार का प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने को इष्टदेव के अन्तर्गत अनुभव करता है। इस रीति से इष्टदेव के ऊपर अपने भरण-पोषण के भार का उत्तरदायित्व डालने में किसी को असुविधा नहीं होती। अस्तु, यदि परिवार के व्यक्ति अपने इष्ट को माता, पिता कहकर सम्बोधित कर सकते हैं तो वह व्यक्ति

है। अस्तु, मूर्ख लोग ही निष्कामकर्मयोग को और संन्यास को पृथक-पृथक कहते हैं। पण्डितजन तो अपनी प्रकृति के अनुकूल एक में ही अच्छी प्रकार स्थित होकर दोनों के फलरूप परमात्म शान्ति पद को प्राप्त होते हैं।^१

देखो अर्जुन, उपरोक्त विवेचन से तुझे स्पष्ट हो गया होगा कि कर्त्तापन निवारण करने के दो स्तर हैं प्रथम 'कर्मयोग' और द्वितीय 'संन्यास'। दोनों ही स्तरों को मैं तुझे भली-भाँति समझा देता हूँ जिससे तू भ्रम में न पड़े। सर्वप्रथम तू कर्मयोग को अच्छी तरह से समझ ले।

कर्मयोग का भाव है फल की इच्छा न रखते हुए कर्म करना अर्थात् निष्कामकर्म करना। किन्तु, यह सर्वविदित है

कर्मयोग

कि प्रायः प्रत्येक व्यक्ति फल इच्छा से ही कर्म करता है और साथ ही वह स्वयं को कर्म का कर्त्ता भी मानता है। परिणामतः ऐसे व्यक्तियों को कर्म का फल अनुकूल निकलने पर सुख अनुभव होता है और प्रतिकूल होने पर दुःख।

अस्तु, स्पष्ट है कि कोई व्यक्ति कर्म भले ही करे किन्तु यदि वह अपने को कर्म का कर्त्ता नहीं मानता है तो उसे न तो दुःख होगा न सुख। दुःख-सुख के अभाव का नाम ही शान्ति है। अतः कर्म का कर्त्ता न होकर यदि कोई व्यक्ति काम करता है तो वह शान्तिपूर्वक कर्म कर सकता है। अब प्रश्न यह है कि जब व्यक्ति स्वयंकर्त्ता नहीं बनना चाहता तो फिर कर्त्ता किसको बनाया जावे जिससे कर्म भी हो जावे और स्वयं को कर्त्ता भी न बनना पड़े? सत्य ही, प्रत्येक व्यक्ति का उत्तरदायित्व है कि वह अपने परिवार के भरण-पोषण का काम करे। अस्तु, व्यक्ति को ऐसी युक्ति आनी चाहिए जिससे उसके परिवार का भरण-पोषण भी हो जावे और साथ ही वह कर्त्तव्य-भावना से रहित भी हो सके। वस्तुतः जो व्यक्ति अपने परिवार

१. सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।

एकमप्यास्थितः सम्यग्भयोर्विन्दते फलम्॥४॥

के भरण-पोषण को अपना काम कहता है (जैसा कि जनसाधारण कहा करता है) तब उसे कर्म का कर्त्ता बनना ही पड़ेगा। यदि वह व्यक्ति अपने परिवार के भरण-पोषण के उत्तरदायित्व को दूसरे अन्य व्यक्ति के उत्तरदायित्व के अन्तर्गत करने का विचार करता है तो, प्रथम तो उसके प्रस्ताव को कोई व्यक्ति स्वीकार ही नहीं करेगा, क्योंकि दूसरे के भार को अपने ऊपर कोई नहीं लेना चाहता। प्रायः व्यक्ति स्वयं अपने भार से ही दबा रहता है। परन्तु फिर भी तू ऐसा मान ले कि कोई अत्यन्त परोपकारी जीव है, जो उसके प्रस्ताव को स्वीकार कर लेता है तो फिर ऐसी स्थिति में वह व्यक्ति कर्त्तापन से तो मुक्त हो जावेगा किन्तु वह अकर्मण्य हो जावेगा, और अकर्मण्य को अपना जीवननिर्वाह करना भी दुख हो जावेगा। अतः व्यक्ति को ऐसी युक्ति से कर्म करना चाहिए जिससे कि वह कर्मठ भी रहे, परिवार का भरण-पोषण भी करता रहे और साथ ही कर्त्तापन से भी रहित हो जावे। वस्तुतः ऐसी युक्ति अथवा साधन ही कर्मयोग है। यदि कर्मयोग का वास्तविक अर्थ समझ लिया जावे तो फिर कर्त्तापन से रहित होकर स्वधर्म-पालन करना सहज हो सकता है। कर्मयोग से तात्पर्य यह है कि कर्मफल को अपने इष्ट या राष्ट्र के अर्पण करके व्यक्ति को काम करना चाहिए। अपने परिवार को अपने भगवान् का या राष्ट्र का परिवार कहने में किसी को असुविधा नहीं प्रतीत होती। यह सर्व-विदित है कि प्रायः परिवारों के समस्त प्राणी सामूहिक रूप में अपने-अपने घरों में अपने-अपने इष्टदेवों की मूर्ति के सन्मुख बैठकर प्रार्थना करते हैं तथा आरती गाते हैं कि हे भगवन्, तुम ही हमारे पिता हो और तुम ही हमारी माता हो (त्वमेव माता च पिता त्वमेव) उस परिवार का पिता इष्टदेव को अपना पिता और माता कहकर सम्बोधन करता है। उस परिवार की माता भी उसी अपने इष्टदेव को माता, पिता के नाम से सम्बोधित करती है। उस परिवार के बच्चे भी इष्टदेव को अपने माता और पिता कहकर सम्बोधित करते हैं। इस प्रकार प्रार्थना के समय परिवार का प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने को इष्टदेव के अन्तर्गत अनुभव करता है। इस रीति से इष्टदेव के ऊपर अपने भरण-पोषण के भार का उत्तरदायित्व डालने में किसी को असुविधा नहीं होती। अस्तु, यदि परिवार के व्यक्ति अपने इष्ट को माता, पिता कहकर सम्बोधित कर सकते हैं तो वह व्यक्ति

जिस पर उस परिवार का उत्तरदायित्व है वह भी अपने इष्ट या राष्ट्र को कर्त्ता मान सकता है। इस प्रकार से जब समस्त परिवार भगवान् का या राष्ट्र का हो जाता है तब परिवार के काम को भी भगवान् या राष्ट्र का काम समझा जा सकता है। इस विचारधारा से परिवार का काम इष्ट की पूजा का रूप धारण कर लेता है। अस्तु, स्पष्ट है कि व्यक्ति के कौटुम्बिक भरण-पोषण का काम भगवान् का काम हो जाता है। अतः व्यक्ति परिवार के काम को ईश्वर की पूजा या स्वदेशपूजा समझकर पूर्ण मनोयोग से कर सकता है। ऐसी स्थिति में कर्त्ता उसका इष्ट बन जाता है और व्यक्ति कर्म के फल से मुक्त हो जाता है और शान्तिपूर्वक कर्म भी कर सकता है। अस्तु, उपरोक्त विधि से ईश्वरार्पण बुद्धि द्वारा कर्म करने में कर्त्तापन के भाव का निवारण हो जाता है। इस विधि से अभ्यास करने को कर्म-योग का अभ्यास करना कहते हैं। अब तू संन्यास को भी भली प्रकार समझ ले।

देखो अर्जुन, सांख्यशास्त्रानुसार तत्व-ज्ञानी लोग संन्यास-विधि से अपने कर्त्तापन के भाव को अपने से पृथक् कर देते हैं। वस्तुतः संन्यास का भाव है कर्त्तापन के भाव को भली प्रकार से त्याग देना और भली प्रकार से त्याग देने का अभिप्राय यह है कि प्रकृति की वास्तविक स्थिति का परिचय प्राप्त कर जो भी वस्तु प्रकृति की प्रतीत हो उसे प्रकृति की ही समझना। एक व्यक्ति की विचारतरंगों को अन्य व्यक्तियों की

संन्यास

विचारतरंगों से प्रभावित होने की क्रिया को प्रकृति की प्रकृति के प्रति आदान-प्रदान की क्रिया कहा जाता है और इसी तथ्य को यह भी कहा जाता है कि 'गुण, गुणों में वर्त रहे हैं'। इसी भाव को तू इस प्रकार व्यक्त कर सकता है कि बड़ी त्रिगुणात्मक माया (वैष्णवीशक्ति) की प्रेरणा से छोटी त्रिगुणात्मक माया कर्म कर रही है जैसा कि तुझे पहले भी समझाया जा चुका है। वस्तुतः जीवात्मा स्वयं कर्म नहीं करता। क्योंकि, इस तथ्य से तू भली-भाँति परिचित है ही कि प्रत्येक प्राणी के तीन-तीन विग्रह होते हैं - स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर और आत्मभाव (साक्षी)। प्राणी का जीवात्मा अपने प्रत्येक विग्रह में घूमता रहता है। स्थूलशरीर में आसक्त होने पर देहधारी, सूक्ष्मशरीर में

आसक्त होने पर कर्मों का कर्ता और आत्मभाव (साक्षी) में आसक्त होने पर दृष्टा कहलाता है। परन्तु जीवात्मा चाहे जिस अपने विग्रह में रहे बाहर से देखने वालों को तो एक व्यक्ति के रूप में ही दिखलाई पड़ेगा। हाँ, यह रहस्य केवल ज्ञानी व्यक्ति को ही अनुभव होगा। अस्तु, ज्ञानी व्यक्ति जब आत्मभाव के भाव को अपनाकर कर्म करता है तब उसके सम्बन्ध में अन्य देखनेवाले लोग तो यही कहेंगे कि अमुक व्यक्ति ही कर्म कर रहा है, किन्तु आत्मभाव को अपनाने वाले व्यक्ति को यह अनुभव होगा कि वह तो केवल कर्म का दृष्टा है। कर्म की आद्योपान्तक्रिया सूक्ष्मशरीर की है, उसकी स्वयं की नहीं। वस्तुतः सूक्ष्मशरीर अपने संकल्पों की पूर्ति, स्थूलशरीर के इन्द्रियादि अवयवों से करा रहा है। अस्तु, इस विधि से दृष्टा बनकर कर्तापन के भाव का निवारण करने को 'संन्यास' कहते हैं।

अब, तू इस तथ्य को भी अच्छी प्रकार से समझ ले कि 'कर्मयोग' और 'संन्यास' के लक्ष्य में समानता किस प्रकार है।

देखो अर्जुन, संन्यासी और कर्मयोगी दोनों का ही कर्म-बन्धन से मुक्त होने का लक्ष्य होता है। केवल दोनों की विचारधारा भिन्न-भिन्न होती है। संन्यासी 'गुण, गुणों में वर्त रहे हैं'

कर्मयोग व संन्यास
के लक्ष्य में
समानता

सिद्धान्त को आचरण में लाकर यानी प्रकृति को कर्म का कर्ता बनाकर अपने में से कर्तापन के भाव का निवारण कर देता है एवं स्वयं राग-द्वेष में न फँस कर स्वधर्म-पालन

कर शान्तिपूर्वक कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाता है। किन्तु, कर्मयोगी प्रकृति को कर्म का कर्ता न बनाकर ईश्वर को कर्म का कर्ता बनाता है और सुखपूर्वक कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाता है। क्योंकि, ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करने के कारण वह भी अपने में से कर्तापन के भाव का निवारण कर देता है। इस प्रकार ईश्वर के लिए कर्म करने से कर्म के परिणाम का भोक्ता ईश्वर हो जाता है और कर्मयोगी कर्म के फल से मुक्त हो जाता है, क्योंकि कर्मफल भोगना ही कर्मबन्धन है। संन्यासी की भाँति कर्मयोगी भी राग-द्वेष के वशीभूत नहीं होता। क्योंकि, वह अपने के अपने इष्ट का

भक्त समझता है और अपने इष्ट को अपना स्वामी मानता है। उसे विश्वास होता है कि उसके भगवान् (स्वामी) सर्वशक्तिमान् हैं। ऐसी कोई वस्तु नहीं जो उन्हें उपलब्ध न हो। जिस वस्तु की उनके भक्त को आवश्यकता होगी वह भगवान् की कृपा से उसको उसके श्रमद्वारा अवश्य प्राप्त हो जावेगी। उसका धर्म तो यही है कि वह भगवान् के काम में तल्लीन रहे। वस्तुतः निष्कामकर्मयोगी की धारणा होती है कि जिन-जिन व्यक्तियों के भरण-पोषण का भार उस पर है उसको वहन करने का उत्तरदायित्व भगवान् ने उसको दिया है। जब वह भगवान् का काम कर रहा है तब उन कामों की पूर्त्यर्थ आवश्यक सामग्री उसके श्रम द्वारा अवश्य प्राप्त हो जानी चाहिए। यदि साधनों की प्राप्ति में विलम्ब होता दिखलाई पड़ता है तो वह व्याकुल नहीं होता। उसे दृढ़-विश्वास होता है कि अभी साधनप्राप्ति का उपयुक्त समय नहीं आया है, सम्भव है, उसकी कार्य-प्रणाली ठीक न हो। अतः वह अपनी कार्य-प्रणाली को अपनी बुद्धि के अनुसार ठीक करने का प्रयत्न करता है और धैर्यधारण कर कठिनाई सहते हुए सतत प्रयत्न करता रहता है। उसकी धारणा यह होती है कि चाहे साधन जुटाने में उसके जीवन की समस्त अवधि ही क्यों न पूर्ण हो जाय उसे कर्तव्य से विमुख नहीं होना चाहिए। इस दृष्टिकोण से स्वधर्म-पालन के लिए सन्तोषपूर्वक कर्म करने के अतिरिक्त उसकी कोई निजी आकांक्षा नहीं होती। वास्तव में, कर्मयोगी अपने को भगवान् के हाथ का औजार समझता है और भगवान् को सर्वेसर्वा कर्म का करने वाला मानता है।

अतः कर्मयोगी कोई आकांक्षा नहीं करता। वह किसी से द्वेष भी नहीं करता। क्योंकि व्यक्ति उसी से द्वेष किया करता है जो उसकी फलेच्छा की पूर्ति में बाधा उपस्थित करे। कर्मयोगी भगवान् को कर्म का कर्त्ता मानता है, अतः कर्म के फल का भोक्ता भी भगवान् को ही होना चाहिए। अस्तु, उसका फल से कोई सम्बन्ध नहीं होता। जब फल से सम्बन्ध ही नहीं तो फलप्राप्ति में बाधक होने वाले से द्वेष करने का कोई प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। अतः कर्मयोगी यानी निष्काम कर्म करने वाले को न तो किसी वस्तु की आकांक्षा होती है और न किसी से द्वेष। वह तो राग-द्वेष से रहित

निर्द्वन्द्व रहता है। इस प्रकार कर्मयोगी को भी संन्यासी के सदृश्य समझना असंगत नहीं।

उपरोक्त विवेचन से, अर्जुन, तुझे स्पष्ट हो गया होगा कि संन्यास और कर्मयोग दोनों के अभ्यास का परिणाम शान्तिपूर्वक, निर्द्वन्द्व होकर स्वधर्म-पालन करना है। दोनों का लक्ष्य राग-द्वेष रहित होकर कर्त्तापन का निवारण करना है। अतः अर्जुन, वे अज्ञानी हैं जो संन्यास और कर्मयोग दोनों को पृथक्-पृथक् समझते हैं। वस्तुतः परिणाम की दृष्टि से दोनों योग एक ही लक्ष्य पर पहुँचाने वाले हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि संन्यासी तो स्वयं को कर्म का साक्षी मानता है और स्वधर्म-पालन रूप कर्म का प्रकृति को, कर्त्ता मानता है, जबकि निष्काम-कर्मयोगी स्वयं को भगवान् के औजार के समान मानता है और भगवान् को कर्म का कर्त्ता-धर्त्ता मानता है। अतएव, ज्ञानयोगी जो परमधाम रूपी शान्ति को प्राप्त करते हैं उसी शान्ति को कर्मयोगी भी प्राप्त करते हैं। अतः जिस व्यक्ति की दृष्टि में ज्ञानयोग और निष्कामकर्मयोग, उनके परिणाम को देखते हुए एक समान ही हैं उसी व्यक्ति को ऐसा समझना चाहिए कि वह यथार्थ तत्व का दृष्टा है।^१

अस्तु, हे अर्जुन, मेरे पूर्वविवेचन से तुझे स्पष्ट हो गया होगा कि मेरे दृष्टिकोण से निष्कामकर्मयोग के अभ्यास किए बिना एकदम संन्यासवृत्ति का अपनाना कठिन है, साथ ही दुःखदायी भी। अतएव मुझे तो यही मान्य है कि जो कोई मुनि अर्थात् मननशील व्यक्ति निष्कामकर्मयोग का अभ्यास करता है वह शीघ्र ही संन्यासी की योग्यता प्राप्त कर परमशान्ति को प्राप्त हो जाता है।^२

निस्सन्देह, ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करने के कारण ही निष्काम कर्मयोगी जितेन्द्रिय, विशुद्धअंतःकरणवाला एवं सर्वभूतात्मभूतात्मा

१. यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।

एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥५॥

२. संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।

योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥६॥

कहलाता है। जितेन्द्रिय कहलाने का कारण यह है कि उसका स्थूलशरीर

उसके वशीभूत होता है। शरीर के वशीभूत होने का भाव यह है कि उसकी इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि उसके वश में होती हैं। वस्तुतः जब कर्म करने के भाव का स्फुरण मस्तिष्क में होता है तब जीवात्मा बुद्धि को स्मरण दिलाता है कि यह स्फुरण भगवान् का है और भगवान् के निमित्त काम करने का आदेश वह मन को दे। तुरन्त ही बुद्धि, मन को वैसा आदेश देती है। मन भी बुद्धि के आदेशानुसार इन्द्रियों को कर्म करने का आदेश देता है। इन्द्रियाँ भी मन के आदेशानुसार भगवान् के निमित्त कर्म करने लगती हैं। ऐसा नहीं है कि अन्तःकरण में उठा हुआ स्फुरण स्वेच्छा से बुद्धि पर प्रभाव डाले और बुद्धि का प्रभाव मन पर पड़ जावे और इन्द्रियाँ तदनुकूल आचरण करने लग जावें। अपितु, उन्हें निष्काम कर्मयोगी के आदेशानुसार कार्य करना पड़ता है। अतः निष्काम कर्मयोगी जितेन्द्रिय कहलाता है। जितेन्द्रिय के अतिरिक्त निष्काम कर्मयोगी को विशुद्धअन्तःकरणवाला भी कहते हैं क्योंकि वह कर्म करते समय फलेच्छा से कर्म नहीं करता। अतः फलेच्छा से उत्पन्न सुख एवं दुःख से वह परे रहता है। साथ ही वह अपने को कर्म का कर्त्ता भी नहीं मानता अतएव कर्त्तापन से उत्पन्न राग-द्वेष का उस पर प्रभाव नहीं पड़ता। वस्तुतः राग-द्वेष के कारण ही चित्त अशुद्ध कहलाता है। जिसका चित्त राग-द्वेष से रहित है, वही शुद्ध है। अस्तु, निष्कामकर्मयोगी को शुद्धअन्तःकरणवाला कहा जाता है।

चूँकि निष्कामकर्मयोगी का अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, अतएव उसे प्रत्येक प्राणी की आत्मा अपनी आत्मा से भिन्न नहीं प्रतीत होती। वस्तुतः उसके दृष्टिकोण से समस्त प्राणियों में (सब भूतों में) एक ही आत्मा अविभाजित रूप से विद्यमान दिखाई देती है। अस्तु, निष्कामकर्मयोगी को सर्वभूतात्मभूतात्मा कहते हैं। उसके लिए आत्मा के रूप में भगवान् घट-घट व्यापी हैं। परिणामतः प्रत्येक घटक भगवान् की सत्ता से ही काम करता है। संक्षेप में, तू यह समझ कि निष्कामकर्मयोगी जो कर्त्तव्यभावना से आनेवाली अपवित्रता से रहित है अर्थात् विशुद्धअन्तःकरणवाला है, जिसका मन, इन्द्रियों को अपने लक्ष्य के अनुकूल चलाता है अथवा यूँ कह कि जिसकी मन सहित इन्द्रियाँ वश में हैं और जो सम्पूर्ण प्राणियों की आत्माओं में भिन्नता नहीं देखता अर्थात् एक ही परमात्म-तत्त्व को

समस्त प्राणियों का आधारभूत मानता है, वस्तुतः वह शरीर से कर्म करता हुआ भी कर्म-फल में लिप्त नहीं होता अर्थात् कर्म-बन्धन से ज्ञानी के सदृश ही मुक्त है।'

देखो अर्जुन, यदि कोई व्यक्ति शान्तिपूर्वक कर्म करने की दृष्टि से कर्त्तापन के भाव को अपने से दूर करना चाहता है, तो उसे सर्वप्रथम निष्कामकर्म करने का अभ्यास करना चाहिए। संन्यासविधि से कर्म करने का अभ्यास प्रारम्भ से ही करना अत्यन्त कठिन होगा। क्योंकि संन्यासविधि से कर्म करने में साधक कर्म की आद्योपान्तक्रिया को प्रकृति का कार्य मानता है। यदि उसकी दृष्टि किसी वस्तु पर पड़ती है तो वह उस देखने की क्रिया के सम्बन्ध में ऐसा विचार करने का अभ्यास करता है कि इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के विषय में वर्त रही हैं। इन्द्रियों का क्रियाकलाप प्रकृति का धर्म है, उसका नहीं।

अस्तु, हे अर्जुन, तत्त्व को जानने वाले सांख्ययोगी की धारणा ऐसी हो कि वह देखते हुए नहीं देखता, सुनते हुए नहीं सुनता, स्पर्श करते हुए स्पर्श नहीं करता सूँघते हुए नहीं सूँघता, भोजन करते हुए भोजन नहीं करता, गमन करते हुए गमन नहीं करता, शयन करते हुए शयन नहीं करता, श्वास लेते हुए श्वास नहीं लेता, बोलते हुए नहीं बोलता, त्यागते हुए नहीं त्यागता, ग्रहण करते हुए ग्रहण नहीं करता, आँखों को खोलते हुए आँखें नहीं खोलता और उन्हें मीचते हुए भी नहीं मीचता। वस्तुतः सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थों में वर्त रही हैं ऐसा समझते हुए सचमुच यही समझे कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ।^२

१. योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।

सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥७॥

२. नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।

पश्य श्रण्वन्स्पृशजिघ्रन्श्नन्गच्छन्स्वपञ्चसन्॥८॥

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥९॥

वस्तुतः ऐसा ज्ञान देहाभिमानियों को तुरन्त हो जाना सरल बात नहीं, महान् कठिन है। विरोधी विचारधारा का प्रकरण आते ही बुद्धि का सन्तुलन नहीं रहेगा और चित्त व्याकुल हो उठेगा। व्याकुलता आने पर प्रकृति को कर्त्ता समझने में भ्रम पड़ जावेगा और साधक पुनः अपने पूर्वसंस्कारानुसार अपने को कर्म का कर्त्ता समझने लगेगा। फलतः साधक लक्ष्य से भ्रष्ट हो सकता है। किन्तु निष्कामकर्मयोगी को लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाने की संभावना कम से कम है। क्योंकि, निष्कामकर्मयोगी कर्म करते समय स्वयं को कर्म का कर्त्ता न मानकर भगवान् को कर्म का कर्त्ता समझता है और कर्म का फल भगवान् को ही अर्पण कर देता है।

यह सर्वविदित है कि गृहस्थी के कार्यों में प्रायः घर के वयोवृद्धों के आदेशों का पालन घर के लोग करते हैं। उनके आदेशानुसार कर्म करने का उन्हें अभ्यास होता है। यदि घर के एक व्यक्ति से वयोवृद्ध के आदेश पालन करने में कोई त्रुटि हो जाती है तो वह उससे क्षमा याचना करता है। साथ ही वह उससे गृहकार्यों में मार्ग-दर्शन की प्रार्थना भी करता है। ऐसा करना उसके लिए स्वाभाविक है। अस्तु, यदि कोई व्यक्ति अपने घर के वयोवृद्ध के स्थान पर अपने इष्टदेव का आदेश पालन करना चाहे तो केवल नामों का रूपान्तर हो जावेगा, कर्म करने के ढंग में कोई अन्तर नहीं आवेगा। वस्तुतः जनसाधारण की दृष्टि से ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्त्तापन के भाव का निवारण करना उनकी प्रकृति के अधिक अनुकूल है। अस्तु, स्पष्ट है कि कर्त्तापन के भाव का निराकरण करने का अभ्यासारम्भ संन्यासविधि की अपेक्षा निष्कामकर्मयोग द्वारा सुगम होगा और साथ ही शीघ्र सिद्धि प्रदान करेगा।

क्योंकि निष्कामकर्मयोगी कर्म करते समय पूर्णरूप से भगवान् को कर्त्ता मानता है। कर्म करते हुए उसे स्पष्ट भान होता रहता है कि उसकी इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि भगवान् का ही कर्म कर रही हैं, उसका नहीं। उसका अन्तः करण निर्मल रहता है अर्थात् उसमें कर्त्तापन का भाव नहीं आता है। उसे अनुभव होता है कि उसके ऊपर भी भगवान् का आधिपत्य है। अस्तु, इस रीति से कर्म करते समय निष्कामकर्मयोगी को अपने में कर्त्तापन का अभाव पूर्णतः अनुभव हो जाता है। परिणामतः चाहे अनुकूल स्थिति हो चाहे

विपरीत कोई भी परिस्थिति हो, निष्कामकर्मयोगी को प्रभावित नहीं करती। अतएव ऐसा कहा जाता है कि निष्कामकर्मयोगी कर्म करते हुए भी कर्म में लिप्त नहीं होता। जैसे सरकारी खजाने का खजान्ची सरकारी काम तो पूर्णमनोयोग से करता है किन्तु, बिलों के पेमेन्ट का, खजाने में अधिक धन जमा होने का, अथवा खजाने में धन की कमी हो जाने का प्रभाव सरकार पर ही पड़ता है, खजान्ची पर नहीं। क्योंकि, खजान्ची तो केवल निमित्तमात्र होकर सरकार के आदेशानुसार खजाने के द्रव्य का आदान-प्रदान करता है। वस्तुतः, खजाने का स्वामी तो राज्यशासन (सरकार) है और उसी पर ही उसकी घटती या बढ़ती का प्रभाव पड़ता है। अस्तु, निष्कामकर्मयोगी द्वारा किये गये कर्म का प्रभाव, उसकी दृष्टि में, भगवान् पर पड़ता है, उस पर नहीं। वह अपने को केवल निमित्तमात्र ही समझता है। अतः निष्कामकर्मयोगी कर्म में लिप्त नहीं होता कहना असंगत नहीं। अस्तु, यदि कोई भी देहाभिमानी व्यक्ति अपने सब कर्मों को भगवान् के या अपने इष्ट के अर्पण करने की बुद्धि से आसक्ति रहित होकर करता है तो वह उसी प्रकार कर्म के परिणाम से अथवा यूँ कह कि पाप रूप कर्म-बन्धन से निर्लिप्त रहेगा जैसे कि जल में रहते हुए कमलपत्र जल से निर्लिप्त रहता है।'

निःसन्देह जब साधक ईश्वरार्पण बुद्धि से, आसक्ति रहित होकर कर्म करने का निरन्तर अभ्यास करता है तब उस साधक के मस्तिष्क में विद्यमान कर्त्तापन के भाव की विचारतरंगें शनैः-शनैः दबने लगती हैं, जिससे पूर्व के पड़े हुए कर्त्तापन के भावों के संस्कारकोषों के स्मृति चिह्नों का विकास रुकने लगता है और साथ ही नवीन पड़े निष्कामकर्म के स्मृति चिह्नों की वृद्धि होने लगती है। हाँ, यह भी सत्य है कि जब निष्कामकर्मयोगी अन्य सकामकर्मी व्यक्तियों के सम्पर्क में आवेगा तब सकामकर्म करने वाले व्यक्तियों की आसक्तियुक्त कर्त्तृत्व-भावना की चर्चा पूर्व संस्कारों के दबे स्मृतिचिह्नों को पुनः उभारने का अवश्य ही प्रयास करेगी, किन्तु अब निष्कामकर्म करने के नवीन पड़े संस्कार उनसे संघर्ष

9. ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगंत्यक्त्वा करोति यः।

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥१०॥

करेंगे और वे कर्तृत्व-भावना के स्मृतिचिह्नों पर अपना नियंत्रण करने का प्रयत्न करेंगे। जब निष्कामकर्मयोगी के निरन्तर अभ्यास करने से निष्कामकर्म करने के स्मृतिचिह्न प्रचुर मात्रा में हो जावेंगे तब सत्य ही वे पूर्वसंस्कारों पर प्रभावशील होंगे। परिणामतः निष्कामकर्मयोगी द्वारा आसक्ति एवं कर्तृत्वभावना से रहित कर्म करना स्वाभाविक होने लगेगा। राग-द्वेष के संस्कार अत्यन्त क्षीण होने लगेंगे जिससे अन्तःकरण सदैव शुद्ध रहेगा। अस्तु, निष्कामकर्मयोगी फलासक्ति से रहित होकर केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीर द्वारा ही अन्तःकरण की शुद्धि के लिए कर्म करते हैं।'

चूँकि अन्तःकरण शुद्ध करने के लिए निष्कामकर्मयोगी को कर्म करना आवश्यक है, अतः वह कर्म तो अवश्य करता है किन्तु, कर्म करते समय वह सदैव मन, इन्द्रिय, बुद्धि एवं शरीर से निरासक्त रहता है। साथ ही वह कर्म के परिणामस्वरूप जो फल आता है उसे वह अपने इष्ट को अर्पण कर देता है। अस्तु, वह फल से उत्पन्न सुख-दुःख अथवा यँ कह कि राग-द्वेष से निर्द्वन्द्व होकर सच्चिदानन्द रूप अभीष्ट शान्ति को प्राप्त करता है। किन्तु, जो व्यक्ति फलेच्छा से कर्म करता है साथ ही अपने को कर्म का कर्ता समझता है, वह कर्म-फल के परिणामस्वरूप सुख-दुःख भोगता है और कामनाओं के बन्धन में पड़ा रहता है। २

अस्तु, हे अर्जुन, तुझ जैसे भक्तों को जो शान्तिपूर्वक कर्म करने का अभ्यासारम्भ करना चाहते हैं, संन्यास की अपेक्षा साधन में सुगम होने से, निष्कामकर्मयोग का अभ्यास करना ही श्रेयस्कर है। क्योंकि, तू स्वयं देख रहा है कि मैं सर्वोच्चकोटि के ज्ञानी की विशेषता रखते हुए भी लोक-शिक्षण हेतु निष्काम कर्मयोग का आचरण कर रहा हूँ। मैं अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार से ही तुझसे और तेरे जैसे

१. कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥११॥
२. युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥१२॥

प्रत्येक जिज्ञासु भक्त से यही अपेक्षा करता हूँ कि वह भी निष्काम कर्मयोग को ही, साधन में सुगम होने के कारण, सर्वप्रथम आचरण में लावे। मेरा पूर्णविश्वास है कि निष्कामकर्मयोग के आचरण से कर्तृत्व-भावना सरलता से दूर हो सकती है फलतः भक्त शान्तिपूर्वक एवं उचित रीति से स्वधर्माचरण कर सकता है। साथ ही तुझे मैं यह भी स्पष्ट किए देता हूँ कि निष्कामकर्मयोग के अभ्यास से संन्यास की योग्यता स्वयमेव आ जाती है। अतः, अब तू यह समझ कि निष्कामकर्मयोग का परिणाम ही 'संन्यास' है। इसी तथ्य को मैं तुझे और अधिक स्पष्ट करता हूँ।

निष्कामकर्म का
परिणाम 'संन्यास'

देखो अर्जुन, निष्कामकर्म करने में ऊपर से तो साधक को ऐसा प्रतीत होता है कि उसमें कर्त्तापन का अभाव हो गया है, क्योंकि, वह भगवान को पूर्णरूप से अपने द्वारा किए कर्म का कर्त्ता माना करता है। किन्तु, निष्काम कर्मयोग को निरन्तर

आचरण में लाने पर साधक स्वयमेव अनुभव करने लगता है कि वस्तुतः कर्त्तापन का मूलतः अभाव होने में अभी भी कुछ त्रुटि शेष है। उसे अभी कुछ न कुछ कर्त्तापन का स्वाद आता ही रहता है। क्योंकि, जब साधक यह कहता है कि वह भगवान् के निमित्त कर्म कर रहा है तब उसे ऐसा कहने में कि 'वह भगवान् का काम कर रहा है' कर्त्तापन की कुछ न कुछ सत्ता अपने में अनुभव होने लगती है। यद्यपि साधक का कर्म करना केवल निमित्तमात्र ही है, तथापि कर्म करने में निमित्तमात्र होने से भी अनुकूल स्थिति व विपरीत स्थिति में सुख-दुःख का प्रभाव किसी-न-किसी रूप में उस पर पड़ ही जाता है। परिणामतः वह सुखी या दुःखी हो जाता है जिससे वह अपने में पूर्णशान्ति का अनुभव नहीं कर पाता। ऐसी स्थिति में साधक के मस्तिष्क में पूर्णशान्ति प्राप्त करने की भावना जाग्रत हो जाती है। इस स्थिति को प्राप्त हुआ साधक जब सत्संगादि में भगवान् के पूर्णशान्तस्वरूप की चर्चा श्रवण करता है तब भगवान् के उस शान्तस्वरूप की जानकारी में उसे अधिकाधिक अभिरुचि होने लगती है। जब वह यह श्रवण करता है कि संन्यासी तो भगवान् की आत्मा ही है एवं संन्यासी के लक्षण भगवान् के सदृश ही होते हैं

तब साधक को संन्यास प्राप्ति की उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। अस्तु, निष्कामकर्म के आचरण का परिणाम यही होता है कि साधक में संन्यास के प्रति स्वयमेव अभिरुचि उत्पन्न हो जाती है। अब, साधक, संन्यासी अर्थात् ज्ञानी होने की योग्यता प्राप्त करने की दृष्टि से, उसकी गतिविधियों का, सूक्ष्मदृष्टि से अनुभव करता है तथा उनका मनन करता है जिससे वह भी ज्ञानी सदृश आचरण कर सके। अस्तु, अब तू यह भी जान ले कि स्वधर्म-पालन करते समय ज्ञानी लोगों की विचार-धाराएँ कैसी होती है।

ज्ञानी की दृष्टि में शरीर एक घर के तुल्य है जिसमें नौ द्वार हैं-

ज्ञानी की धारणाएँ

दो चक्षु के गोलक, दो श्रवण छिद्र, दो नासिका के छिद्र, एक मुख, एक शिश्न और एक उपस्थ। शरीर रूपी घर में निवास करते हुए कर्तव्यपालन करने वाली मस्तिष्क

के कोषों में विद्यमान सत्वगुणी; रजोगुणी एवं तमोगुणी स्मृतिचिह्नों की तरंगें होती हैं जिन्हें विचारतरंगें कहते हैं। इन तीनों प्रकार के स्मृतिचिह्नों की विचारतरंगों को तू पहले ही छोटी त्रिगुणात्मक माया के नाम से जान चुका है। इन तरंगों को भी कर्तव्यपालन करने के लिए प्रभावित करने वाली बाह्य वातावरण में व्याप्त सत्वगुणी, रजोगुणी एवं तमोगुणी बाह्यतरंगें होती हैं। इन प्रभावित करने वाली विचार-तरंगों को भी तू पहले बड़ी त्रिगुणात्मक माया के नाम से जान ही चुका है। इस प्रकार बड़ी त्रिगुणात्मक माया प्रभावित करती है और छोटी त्रिगुणात्मक माया प्रभावित होकर तदनुसार आचरण करती है। जिन उपकरणों द्वारा छोटी त्रिगुणात्मक माया बड़ी माया से प्रभावित होकर आचरण करती है उन उपकरणों को दस इन्द्रियों की शक्तियाँ, मन, बुद्धि और अहंकार कहते हैं। देखो अर्जुन, ज्ञानीव्यक्ति की यह विशेषता होती है कि वह अपने शरीर-रूपी घर में सुखपूर्वक निवास भी करता है और साथ ही बड़ी त्रिगुणात्मक माया को प्रभावित करते हुए और छोटीमाया को प्रभावित होकर तदनुसार आचरण करते हुए अनुभव भी करता रहता है। उनके कार्य में वह हस्तक्षेप नहीं करता। अतः उसे दृष्टा के सदृश कहना अधिक उपयुक्त है। ठीक वैसे ही जैसे कि प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने घर में रहने वाली चींटियों, छिपकलियों एवं अन्य कीटाणुओं आदि को नित्य ही अपना-अपना कर्म करते हुए

देखा करता है और वह उनके कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करता है केवल उनका दृष्टामात्र बना रहता है। अस्तु, ज्ञानी दृष्टा बना हुआ शरीर में रहता है और उसके शरीर के अवयवों से समस्त कर्म भी होते रहते हैं। इस विधि से वह उन कार्यों के कर्त्तापन से स्वयं को तो सर्वथा पृथक् कर लेता है, किन्तु अपने स्वयं के स्थान पर अपनी बड़ी व छोटी त्रिगुणात्मक माया को कर्म का कर्त्ता-धर्त्ता मानता है अथवा यूँ कहें कि त्रिगुणात्मक बड़ी व छोटी माया के परस्पर कर्म करने की क्रिया को वह ऐसा समझता है कि 'गुण गुणों में वर्त रहे हैं। निःसन्देह निष्कामकर्म का अभ्यास करते करते जब कर्मयोगी 'वशी' अर्थात् जितेन्द्रिय हो जाता है तब उसकी भी धारणा ज्ञानी व्यक्ति की भाँति ही हो जाती है। वह भी अपने शरीर को नौ द्वारों का गृह और शरीर के समस्त व्यापार को त्रिगुणात्मक माया का व्यापार मानने लगता है। अस्तु, हे अर्जुन, जितेन्द्रिय, निष्कामकर्मयोगी भी ज्ञानी की भाँति सब कर्मों को प्रत्यक्ष करते हुए भी मन से उन कर्मों में स्थित कर्त्तापन को त्यागकर नौ द्वारों वाले इस देहरूपी नगर में न कुछ करता हुआ न कुछ करवाता हुआ आनन्दपूर्वक रहता है।'

ज्ञानी जिस प्रकार अपने दृष्टिकोण से स्वयं को अपने शरीर का कर्त्ता नहीं समझता, उसी प्रकार वह जगत के समस्त शरीरों के स्वामी जगन्नाथ को भी जगत का रचयिता नहीं मानता। क्योंकि, जैसे ज्ञानी अपने एक शरीर का दृष्टा हो जाने से शरीर के व्यापार का भी वह दृष्टा हो जाता है, परिणामतः विचारों को अर्थात् त्रिगुणात्मक माया अथवा प्रकृति को निर्माण करते हुए भी देखने लगता है वैसे ही जगत के समस्त शरीरों के व्यापार को जगन्नाथ भी देखता रहता है जिससे उसे अनुभव होता रहता है कि जगत का कार्य स्वयमेव यथाविधि चल रहा है। वस्तुतः जैसे ज्ञानी उपरोक्त धारणा से स्वयं में कर्त्तृत्वभावना का अभाव अनुभव कर

9. सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥१३॥

पूर्णशान्ति का स्थायी आनन्द प्राप्त करता है और साथ ही उसके शरीर का व्यापार भी नित्य चलता रहता है, वैसे ही जगन्नाथ भी जगत की कर्तृत्वभावना से पृथक्, पूर्णशान्त रहता है । अतएव जगत के स्वामी जगन्नाथ को पूर्णशान्त-सच्चिदानन्दघन कहते हैं। जैसे ज्ञानी की समीपता में शरीर का व्यापार त्रिगुणात्मक माया द्वारा चलता रहता है, वैसे ही जगन्नाथ की समीपता में भी जगत् का व्यापार त्रिगुणात्मक माया द्वारा चलता रहता है। जैसे ज्ञानी त्रिगुणात्मक माया में न तो कर्त्ता को, न कर्मों को और न कर्मों के फल के संयोग को रचता है, अपितु ज्ञानी की समीपता में त्रिगुणात्मक माया का ही उनको रचने का स्वाभाविक धर्म है वैसे ही परमेश्वर अथवा जगन्नाथ भगवान भी जीवमात्र के न तो कर्त्तापन को, न कर्मों को और न कर्म के फल के संयोग को वस्तुतः रचते हैं, अपितु परमेश्वर अथवा जगन्नाथ की समीपता में त्रिगुणात्मक माया अथवा प्रकृति, स्वाभाविक रूप से, प्राणिमात्र में कर्त्तापन को, कर्मों को तथा कर्म के फल के संयोग को रचती है। चूँकि कर्म का फल भोगने के लिए प्राणी का जन्म, संरक्षण एवं मरण होता है और कर्म का सम्बन्ध है त्रिगुणात्मकमाया से, अतः प्राणी के बारम्बार जन्म, संरक्षण एवं मरण आदि का सृष्टिचक्र निरन्तर चलने में त्रिगुणात्मक माया ही कारण है, प्रभु नहीं, किन्तु उसकी समीपता अनिवार्य है। अस्तु, जगत् का प्रभु न तो लोगों के कर्त्तृत्व का, न उनके कर्म का और न कर्म-फल के संयोग का ही निर्माण करता है। वस्तुतः जगन्नाथ अर्थात् प्रभु की समीपता की सत्ता पाकर त्रिगुणात्मक माया अर्थात् प्रकृति जिसे 'स्वभाव' कहते हैं वही सृष्टि निर्माण करती है। इसी तथ्य को यूँ भी कहा जा सकता है कि 'गुण ही गुणों में वर्त रहे हैं'।

ज्ञानी का यह अनुभूत विषय है कि अधिकांश मानव अपने स्थूल व सूक्ष्मशरीर से भिन्न अपनी आत्मा अर्थात् अपने साक्षीभाव को नहीं जानते। वे त्रिगुणात्मक माया (सूक्ष्मशरीर) को ही भ्रम से अपनी आत्मा समझते हैं। उन्हें आत्मा के वास्तविक रूप का परिचय

-
9. न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥१४॥

नहीं होता। अतः ऐसे व्यक्ति अज्ञानी कहे जाते हैं। क्योंकि, आत्मा को न जानना ही अज्ञान है। चूँकि अज्ञानवश वे लोग माया को ही आत्मा समझते हैं, अतः ऐसा कहा जाता है कि सर्वसाधारण का अज्ञान (माया) ही ज्ञान (आत्मा) को ढके हुए है। अज्ञान के दूर होते ही निर्लिप्त आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है, अर्थात् आत्मा का रूप अपने अन्तःकरण में ही स्थूल व सूक्ष्मशरीर से परे प्रतीत होने लगता है। किन्तु, जब तक अज्ञान दूर नहीं होता तब तक अज्ञानी मानव स्वयं को ही स्थूल व सूक्ष्मशरीर मानता रहता है।

वस्तुतः सत्य तो यह है कि स्थूल व सूक्ष्मशरीर (त्रिगुणात्मक माया) से आत्मा भिन्न है और निर्लिप्त है। यही कारण है कि आत्मा के स्वरूप का ज्ञान कराने के लिए भगवान् के विग्रह का दर्शन, पूजन आदि करने की विद्वानों द्वारा परिपाटी निर्माण की गई है। एक भक्त पवित्र होकर धातु आदि से निर्मित विग्रह का प्रेमपूर्वक स्नानादि षोडश उपचार से पूजन करता है। तदुपरान्त विग्रह के सामने बैठकर और आँखें बन्द कर हृदय में उनका दर्शन करता हुआ उनके नाम के मन्त्र का जप करता है। तदुपरान्त भोग लगाता है। वह देखता है कि पूजन की सामग्री अथवा भोगादि को भगवान् का विग्रह ग्रहण नहीं करता। जब भक्त की इच्छा हो तभी उन्हें स्नान आदि वह करा दे, वे कभी कुछ नहीं कहते। चाहे कोई सड़ी हुई वस्तु चढ़ावे चाहे अच्छी, उन्हें बुरी-भली से कोई प्रयोजन नहीं। यदि कोई किसी काम की पूर्ति के लिए भगवान् के विग्रह से बारम्बार विनय करता है और उसका काम सिद्ध नहीं होता है तो वह रुष्ट होकर उनके प्रति चाहे कटुवचनों का प्रयोग करे अथवा मनोरथ सिद्ध होने पर उनकी स्तुति करे किन्तु, भगवान् का विग्रह, सत्य ही, न तो कटुवचन ग्रहण करता है और न प्रशंसात्मक शब्दों को। वस्तुतः वह निर्लिप्त एवं निर्विकार है। इसी प्रकार से ज्ञानी की दृष्टि में आत्मा का स्वरूप, भगवान् के विग्रह के स्वरूप की भाँति ही दृष्टावत् है। अस्तु, जगत का स्वामी सर्वव्यापी भगवान् न तो किसी के पापकर्म को और न पुण्य अर्थात् शुभ कर्म को ग्रहण करता है किन्तु, अज्ञान अर्थात् माया के द्वारा ज्ञान ढका हुआ है इससे सब मानव मोहित हो रहे हैं।⁹

-
9. नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥१५॥

परन्तु, निष्काम कर्म करते-करते जिनका अज्ञान अन्धकार आत्मज्ञान के अनुभव होने से नाश हो गया है, उनका वह ज्ञान, सूर्य के सदृश, उस आत्मतत्त्व को प्रकाशता है अर्थात् परमात्मा के स्वरूप को साक्षात् कराता है कि आत्मा सत्य ही निर्लिप्त एवं निर्विकारी है। सृष्टि का सृजन, पालन एवं संहार करने वाली शक्ति आत्मा नहीं, वरन् उसकी सत्ता से त्रिगुणात्मक माया करती है। फलतः साधक आत्मा में से कर्त्तापन को दूर कर देता है ।'

अतः जिन व्यक्तियों को आत्मा के रहस्य का वास्तविक परिचय हो जाता है, वे मन और बुद्धि से अपनी आत्मा में स्मरण करना जान जाते हैं जिससे उनकी निष्ठा अर्थात् मानसिक स्थिति निरन्तर आत्मा में ही रहती है और उनके शरीर के द्वारा शारीरिक कर्म होते रहते हैं। वस्तुतः उनका एकमात्र आश्रयस्थान आत्मा ही होती है जिससे उन पर अहंकार अपना अधिकार नहीं जमा पाता। चूँकि अहंकारवृत्ति को ही पाप कहते हैं अतः वे पाप से बच जाते हैं। सत्य ही, आत्म-ज्ञान प्राप्त करने की विशेषता यह है कि वह अहंकारवृत्ति के प्रभाव को तत्काल दूर कर देता है, साथ ही जैसे ही एक बार अहंकार का अन्धकार हटा कि आत्मज्ञान का प्रकाश उसे पुनः नहीं आने देता। चूँकि अहंकारी में कर्म करते समय कर्त्तापन का भाव ही अधिक प्रबल होता है अतः अहंकार के दूर होते ही व्यक्ति के द्वारा किए जाने वाले कर्मों में से उसकी कर्त्तृत्व-भावना का भी अन्त हो जाता है। परिणामतः उसके द्वारा किए जाने वाले कर्मों में न तो उसकी आसक्ति होती है और न फल पाने की इच्छा। चूँकि मानव कर्मफल भोगने को ही जन्म लेता है अतः फल भोगने के लिए अब उसे जन्म लेने की आवश्यकता नहीं रहती। अस्तु, ऐसे व्यक्ति जिनके पाप ज्ञान के द्वारा धुल गए हैं और जो उसमें यानी आत्मा में बुद्धिवाले हैं, आत्मा में ही निष्ठा वाले हैं और जो आत्मा के ही परायण हैं यानी जिनका आश्रय एकमात्र आत्मा ही है, वे आत्मा को प्राप्त हो जाते हैं। फलतः उनके द्वारा समस्त कर्म फलेच्छा से, आसक्ति से एवं अहंकार की भावना

-
9. ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥१६॥

से रहित होकर किए जाते हैं और वे परमगति को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् साधारण व्यक्ति की भाँति उन्हें बार-बार जन्म लेना नहीं पड़ता।

ऐसे ही परमगति को प्राप्त हुए व्यक्तियों को 'संन्यासी' कहा जाता है। वे जगत् का काम समबुद्धि से करते हैं। अस्तु, अब तू यह भी जान ले कि संन्यासी समबुद्धि से कैसे कर्म करता है।

वस्तुतः प्रत्येक प्राणी में आत्मा की सत्ता समानरूप से विद्यमान है।

समबुद्धि से कर्म
करने की विधि

जिस व्यक्ति की बुद्धि इस तथ्य को भली प्रकार समझ लेती है, उस व्यक्ति को समबुद्धि व्यक्ति कहते हैं। चूँकि पण्डितजन समबुद्धि होते हैं अतः वे विद्या और विनययुक्त ब्राह्मण में, कुसंस्कारी व्यक्ति (चाण्डालादि) में, गौ, हाथी या कुत्ता आदि सब प्राणियों में आत्मा को समान रूप से व्याप्त अनुभव करते हैं। उन्हें अपनी आत्मा अथवा दूसरे किसी अन्य प्राणी की आत्मा में कोई अन्तर नहीं भान होता। वे सब व्यक्तियों को समभाव से देखनेवाले होते हैं। हाँ, यह सत्य है कि प्राणियों की आकृतियाँ एवं उनके विचार प्रायः भिन्न-भिन्न होते हैं। परन्तु आत्मतत्त्व समस्त प्राणियों में समान होता है। अस्तु, आत्मतत्त्व पर दृष्टि रखते हुए वे सब प्राणियों के साथ समता का व्यवहार करते हैं। वे जहाँ विद्या, विनययुक्त ब्राह्मण का सत्कार करते हैं वहाँ कुसंस्कारी चाण्डालादि के सत्कार में अवहेलना नहीं करते। उनकी दृष्टि दोनों के स्थूल व सूक्ष्मशरीर से परे व्यापक आत्मतत्त्व पर ही रहती है। जैसे 'क्ष' किरण से डाक्टर शरीर की त्वचा, माँस, मज्जा आदि से परे अस्थि देख सकता है वैसे ही पण्डितजन ज्ञान के प्रभाव से स्थूल व सूक्ष्मशरीर से परे आत्मतत्त्व का अनुभव कर लेते हैं। अस्तु, पण्डितजन ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ता आदि सब प्राणियों का समानरूप से सत्कार करते हैं। चूँकि समस्त प्राणियों को भूख, प्यास समानरूप से अनुभव

9. तद्बुद्ध्यस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।

गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥१७॥

होती है अतः वे सब व्यक्तियों की भूख-प्यास को समान समझकर ही उनकी क्षुधा अथवा पिपासा शान्त करते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि यदि उनको ब्राह्मण, गौ अथवा हाथी को पानी पिलाना है तो वे सबको जलभरे गिलासों को उनके हाथ में देकर जल पिलावेंगे वरन जिस प्रकार से जिस प्राणी को पानी पीने में सुविधा होगी वे वैसी ही व्यवस्था करेंगे। सुसंस्कारी ब्राह्मण आदि को आदरपूर्वक आसन पर बिठलाकर दाहिने हाथ से जल भरा गिलास देंगे और बाएँ हाथ में अन्य जलभरा पात्र लोटा आदि रखेंगे ताकि आवश्यकतानुसार और जल दिया जा सके। गौ के आगे जल भरी बाल्टी आदि पात्र रखेंगे और फिर अन्य जल भरी बाल्टी अथवा घड़े आदि से और आवश्यकतानुसार जल डालकर उसकी तृप्ति करेंगे। हाथी को जलाशय आदि पर पहुँचाकर आवश्यकतानुसार उसकी प्यास शान्त कराने की व्यवस्था करेंगे। इसी प्रकार कुसंस्कारी चाण्डाल आदि की भी तृप्ति उनकी सुविधानुसार ही कर देंगे।

विवेचन से स्पष्ट है कि आत्मज्ञानी पण्डितजन, तुच्छ जीव जन्तु से लेकर सुयोग्य संस्कारी व्यक्ति तक सबमें समबुद्धि रखते हैं। इस प्रकार ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मण में तथा गौ, हाथी, कुत्ता एवं चाण्डाल में भी समता रखते हैं और उन्हें समभाव से देखने वाले होते हैं।⁹

अस्तु, देखो अर्जुन, सब प्राणियों के साथ समभाव का आचरण करने को समबुद्धि से आचरण करना कहते हैं। ऐसे प्राणी ही वास्तव में पण्डित कहे जाते हैं और वे संसार को सहज ही में जीत लेते हैं। पण्डितजन संसार को कैसे जीत लेते हैं उस युक्ति को अब मैं तुझसे कहूँगा तू भली प्रकार से समझले।

वस्तुतः व्यक्ति में जो राग-द्वेष एवं कर्तृत्वभावना के संस्कार हैं, वे ही विकार हैं। इन विकारों के अपनाने से जीव विकारी अथवा दोषी हो

9. विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥१८॥

जाता है। चूँकि आत्मा में राग-द्वेष एवं कर्तृत्वभावना के संस्कार नहीं हैं, अतः आत्मा निर्दोष है अर्थात् विकार से रहित है। साथ ही आत्मा सम है क्योंकि, प्राणियों के आकारों एवं विचारों की विषमता से उसमें विषमता नहीं आती। सत्य ही, प्राणीमात्र में आत्मा समानरूप में विद्यमान है।

समबुद्धिप्राप्त
पण्डितजन द्वारा
संसार विजय

चूँकि पण्डितजन भी समदर्शी होते हैं (क्योंकि उनके मन में विषमता नहीं होती, अपितु प्रत्येक प्राणी की आत्मा में उनका समभाव होता है) अतः आत्मा के समभाव और पण्डितजन के समभाव में कोई अन्तर न होने से पण्डितजनों को भी यह कहा जा सकता है कि वे भी सदैव निर्दोष हैं अर्थात् वे आत्म-सदृश स्थिति में रहते हैं।

देखो अर्जुन, समस्त प्राणियों के समूह को ही जनसाधारण द्वारा संसार कहा जाता है। चूँकि प्राणियों के आकारादि भिन्न-भिन्न दिखलाई पड़ते हैं अतः संसार में विषमता अनुभव होती है परन्तु, समस्त प्राणियों की आत्मा में भिन्नता नहीं। अतएव जो व्यक्ति प्राणियों को समभाव से देखना चाहता है उसे प्राणियों की आत्मसत्ता पर ही अपनी दृष्टि रखना चाहिए। अस्तु, प्राणी-प्राणी के रूप में समझने में जब तक समता नहीं आती तब तक विषमता बनी रहती है। अतः विषमता को ही वस्तुतः संसार कहा जाना चाहिए। अस्तु, जिसने समता प्राप्त करली है उसमें विषमता नहीं रहती, अर्थात् उसने विषमता को जीत लिया है अथवा तू यूँ कह सकता है कि उसने संसार को ही जीत लिया है। चूँकि पण्डितजन अपनी जीवित अवस्था में ही समभाव को प्राप्त हो जाते हैं अतः यह कहना असंगत नहीं कि उन्होंने अपनी जीवित अवस्था में ही संसार को जीत लिया है। सत्य ही, जिनका मन समत्वभाव में स्थित है अर्थात् जिनके विचारों में समभाव आ गया है उनके द्वारा यहाँ ही अर्थात् उनकी जीवित अवस्था में ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है अथवा तू यूँ कह सकता है कि वे जीवित रहते हुए ही संसार से मुक्त हो गये हैं। क्योंकि, यह ब्रह्मरूप आत्मतत्त्व निर्दोष है, साथ

ही सम हैं। इस दृष्टि से वे लोग आत्मतत्त्व में स्थित हैं अर्थात् वे अपने विचारों से निर्दोष एवं सम आत्मतत्त्व में सदैव लीन रहते हुए कर्म करते हैं।⁹

देखो अर्जुन, अब तुझे समबुद्धि का महत्व समझ में आ गया होगा। अस्तु, अब तू समबुद्धि व्यक्ति के लक्षण भी जान ले।

देहाभिमानि व्यक्ति, 'प्रिय' के प्राप्त होने पर अर्थात् कर्म का परिणाम अनुकूल होने पर हर्षित होता है और 'अप्रिय' के प्राप्त होने पर अर्थात् कर्म का परिणाम विपरीत होने पर उत्तेजित हो जाया करता है।

समबुद्धि व्यक्ति के
लक्षण

क्योंकि, देहाभिमानि व्यक्ति वस्तुतः देह को ही आत्मा समझता है और स्वयं को ही कर्म का कर्ता मानता है। अतः कर्म का परिणाम प्रिय या अप्रिय निकलने पर वह हर्ष या उद्वेग प्रकट करता है। किन्तु, जब व्यक्ति आत्मा को देह से पृथक् समझ लेता है तब वह देहादि को अर्थात् स्थूल व सूक्ष्मशरीर को कर्म का कर्ता समझता है। जब उसे यह भली भाँति हृदयंगम हो जाता है कि आत्मा सब भूतों में सम है और सर्वथा निर्दोष है तब वह संशय-रहित हो जाता है। संशय रहित होते ही बुद्धि में से विषमता चली जाती है और समता आ जाती है। जब बुद्धि में सब व्यक्ति एक से ही अनुभव होने लगते हैं तब बुद्धि स्थिर हो जाती है।

चूँकि प्राणीमात्र में आत्मा का स्वरूप समभाव से अनुभव होने के कारण बुद्धि में स्थिरता आया करती है, अतः स्थिर-बुद्धि, ब्रह्मज्ञानी अर्थात् आत्मज्ञानी अपने ब्रह्म में अर्थात् अपनी आत्मा में स्थित है, ऐसा कहा जाता है। उसमें कर्तृत्वभावना को प्राप्त होकर उत्तेजित न हो, वह व्यक्ति

9. इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।

निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥१६॥

नहीं होती। अतः वह प्रिय या अप्रिय को प्राप्त होने पर उद्विग्न नहीं होता। अस्तु, जो व्यक्ति प्रिय को प्राप्त होकर हर्षित नहीं हो और अप्रिय

स्थिर बुद्धि है, असंमूढः अर्थात् अज्ञान रहित है एवं ब्रह्म को जाननेवाला है। ऐसे व्यक्ति को यही समझो कि वह ब्रह्मरूप आत्मतत्त्व में नित्य स्थित है।^१

इस प्रकार संशयरहित और समबुद्धि, आत्मज्ञानी इन्द्रियों से भोगे जाने वाले सांसारिक भोगों में अर्थात् बाहरी पदार्थों के संयोग में आसक्ति रहित होकर अर्थात् स्वयं को कर्म का कर्त्ता-भोक्ता न मानकर जब लोक-संग्रह के हेतु कर्म करता है तब वह न तो हर्षित होता है और न उसको उद्विग्नता आती है वरन् वह सुख एवं शान्ति का अनुभव करता है। वस्तुतः इसी सुख को आत्मानन्द कहते हैं। यह सुख एवं शान्ति उसको सदैव बनी रहती है। अस्तु, बाह्य विषयों में आसक्तिरहित मन वाला व्यक्ति जब आत्मा में ही सुख अनुभव करता है तब वह ब्रह्मवेत्ता पुरुष अक्षय सुख का अनुभव करता है।^२

सत्य ही, आत्मज्ञानीव्यक्ति, स्पष्टतः दो बातों से भली-भाँति परिचित होता है, एक तो यह कि आत्मस्वरूप में स्थित रहने से अक्षय सुख एवं शान्ति प्राप्त होती है और दूसरी यह कि इन्द्रियजन्य भोगों में रमण नहीं करना चाहिए। क्योंकि इन्द्रियजन्य समस्त भोग अन्त में दुःखदायी ही सिद्ध होते हैं। वस्तुतः यही देखने में प्रायः आता है कि इन्द्रियों के द्वारा आसक्तिपूर्वक भोगों को ज्यों-ज्यों भोगा जाता है त्यों-त्यों ही उनके और-और अधिक भोगने की लालसा अग्नि में घृत डालने के समान बढ़ती जाती है। परिणामतः भोगों से तृप्ति तो होने नहीं पाती और अनिच्छित वृद्धावस्था आ घेरती है। वृद्धावस्था के कारण समस्त इन्द्रियाँ शिथिल पड़ जाती हैं। मन चाहता है कि पैरों से सैर करें, परन्तु चला नहीं जाता। आँखों से मनोरम दृश्य

१. न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥२०॥
२. बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥२१॥

देखना चाहते हैं, परन्तु आँखों की ज्योति मंद पड़ जाने के कारण अब देखा नहीं जाता। कान से मधुर संगीत श्रवण करने को लालायित हैं पर कानों से सुना नहीं जाता, वे बधिर हो गए हैं। इस प्रकार मन इन्द्रियों से भोग भोगना तो चाहता है पर इन्द्रियाँ काम नहीं देती। अस्तु, इन्द्रियजन्य भोगों में आसक्त व्यक्ति को अन्त में वृद्धावस्था आने पर अथवा अन्य किसी प्रकार से शरीर के लाचार हो जाने पर दुःख सहना पड़ता है। अतएव, हे अर्जुन, विवेकी अर्थात् आत्मज्ञानी, बुद्धिमान व्यक्ति इन्द्रियों तथा विषयों के संग से उत्पन्न होने वाले सब भोगों को अनित्य, आदि अन्त वाले, क्षणभंगुर एवं दुःख का मूल समझकर उनमें आसक्त नहीं होता।'

अब, अर्जुन, तू यह भी जान ले कि वह युक्ति कौनसी है जिसको जानकर व्यक्ति विक्षेपरहित सुखी जीवन व्यतीत कर सकता है। तू यह तो जानता ही है कि सुखी जीवन में जब भी विक्षेप आता है तब या तो काम का अथवा क्रोध का वेग प्रबल हो जाता है। अस्तु, जिस व्यक्ति ने शरीर छूटने से पहले काम, क्रोध के वेग को सहन करने की शक्ति प्राप्त करली है वस्तुतः वही व्यक्ति इस लोक में जीवन पर्यन्त सुखी रह सकता है और उसका चित्त सदैव विक्षेपरहित रहेगा। अतएव, सुखी जीवन व्यतीत करने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति काम और क्रोध के वेग से पूर्णतः परिचित हो जावे ताकि उनके द्वारा उत्पन्न हुए वेग को वह जीत सके। देखो अर्जुन, मन के अनुकूल, अप्राप्त वस्तु के प्राप्त करने की इच्छा को तो 'काम' कहते हैं, और उस वस्तु के प्राप्त होने पर जो लक्षण शरीर में प्रकट होते हैं उन्हें काम का वेग कहते हैं जैसे शरीर का रोमांचित होना, चित्त में प्रसन्नता का अनुभव होना, नेत्रों में हर्षातिरेक से अश्रुओं का आ जाना आदि। इसी प्रकार मन के विपरीत आचरण हो जाने पर शरीर में जो क्षोभ उत्पन्न होता है उसे 'क्रोध' कहते हैं और शरीर में कंपन का होना, ओष्ठ फड़कना, नेत्र लाल हो जाना आदि चिह्न 'क्रोध' के वेग को प्रकट करते हैं। वस्तुतः

-
9. ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥२२॥

अनुभव से प्रतीत होता है कि काम और क्रोध शरीर के स्वाभाविक धर्म हैं। ये शरीर छूटने पर्यन्त अपना अस्तित्व शरीर में बनाये ही रहते हैं। अतः इन पर नियन्त्रण करना अत्यन्त आवश्यक है। निस्सन्देह जो मनुष्य शरीर के नष्ट होने से पूर्व ही काम और क्रोध से उत्पन्न हुए वेग को सहन करने में समर्थ है वह मनुष्य इस लोक में युक्त है अर्थात् विक्षेपरहित योगी है और वही सुखी है।^१

अस्तु, अब तू उस युक्ति को भी जान ले जिसके जान लेने से तू काम और क्रोध के वेग को सह सकेगा, साथ ही आत्मज्ञान का अनुभव कर शान्ति प्राप्त कर लेगा। देखो अर्जुन, जो व्यक्ति आत्मा के स्वरूप को समझकर आत्मा में स्थित हो जाता है वह व्यक्ति सहज ही काम, क्रोध

काम, क्रोध के वेग को सहन करने की युक्ति तथा आत्मज्ञान से शान्ति की उपलब्धि

से उत्पन्न वेग को सहन कर सकता है। चूँकि 'काम' से तात्पर्य अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने की अभिलाषा से है और 'क्रोध' से तात्पर्य अनिष्ट परिणाम निकलने पर 'क्षोभ' आने से है, अतः इन दोनों का प्रभाव उसी व्यक्ति पर पड़ेगा जिस व्यक्ति

में कि कर्त्तापन की भावना हो। किन्तु, जो व्यक्ति कर्त्तृत्वभावना से रहित है उस पर इनका प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए। वस्तुतः आत्मज्ञानी ही कर्त्तापन से रहित होता है। क्योंकि, वह स्पष्टतः जानता है कि प्रत्येक कर्म की कर्त्तृ त्रिगुणात्मक माया है। आत्मा तो केवल दृष्टा है। अस्तु, आत्मज्ञानी अपने को कर्म का कर्त्ता न मानकर माया को ही कर्म का कर्त्ता मानता है। परिणामतः वह सदैव निष्कामकर्म करता है जिससे वह काम के वेग से मुक्त रहता है। साथ ही जब कर्म के विपरीत फल निकलने पर क्रोध का वेग अनुभव होता है तब वह उस वेग को सहज ही सह लेता है। इसी तथ्य को तू यूँ भी कह सकता है कि आत्मज्ञानी काम और क्रोध के

१.

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।

काम क्रोधोद्धवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥२३॥

वेग को भली प्रकार से जीत लेता है।*

*आत्मज्ञानी भगवान् शंकर क्रोध के वेग को किस प्रकार सह लेते हैं इसका वर्णन रामचरितमानस में सन्त तुलसीदास जी भी बड़ी सुन्दरता से व्यक्त करते हैं। भगवान् शंकरजी की धर्मपत्नी भगवती सती, श्रीरामचन्द्रजी की परीक्षा लेकर शंकरजी के पास लौटती हैं। भगवान् शंकर जानना चाहते हैं कि सती ने किस प्रकार परीक्षा ली थी। किन्तु, भगवती सती किसी कारणवश भगवान् शंकरजी से असत्य कह देती हैं कि उन्होंने कुछ भी परीक्षा नहीं ली। वे केवल प्रणाम करके वापिस आ गईं। वे कहती हैं :-

‘कछु न परीछा लीन्हि गोसाईं। कीन्ह प्रनामु तुम्हारिहि नाई।’
किन्तु, भगवान् शंकर को जब सती के वचनों से सन्तोष नहीं हुआ तब उन्होंने ध्यान से जान लिया कि सती का कथन मिथ्या है। अब शंकरजी को सती के मिथ्याभाषण पर क्रोध आना स्वाभाविक होना चाहिए। किन्तु, शंकरजी तो आत्मज्ञानी हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि प्रत्येक कर्म की कर्तृ तो त्रिगुणात्मक माया है, अस्तु, वे कर्त्तापन की भावना से स्वयं तो मुक्त हैं ही, साथ ही उनकी दृष्टि में स्वयं सती भी कर्म की कर्तृ नहीं हैं। इस तथ्य की पुष्टि में क्रोध को सह लेने वाले, आत्मज्ञानी भगवान् शंकरजी की विचारोक्ति को अत्यन्त सुन्दरता से सन्त तुलसीदास इस प्रकार व्यक्त करते हैं कि तब शंकरजी ने भगवान् राम की उस माया को सिर नवाया जिसकी प्रेरणा से सती ने झूठ बोला था। वे कहते हैं-

“बहुरि राम मायहि सिरु नावा।

प्रेरि सतिहि जेहि झूठ कहावा।”

इस प्रकार माया को कर्त्ता बनाकर भगवान् शंकरजी क्रोध के वेग को जीत लेते हैं अर्थात् सहन कर लेते हैं। भगवान् शंकरजी के क्रोध व्यक्त न करने का परिणाम भगवती सती को आत्मनिरीक्षण का अवसर देता है और उन्हें सन्मार्ग पर ला देता है। वे स्वयं ही अपने आचरण पर लज्जित होती हैं और पछताती हैं। वे कहती हैं- (अगले पृष्ठ पर देखिये)

अस्तु, जो व्यक्ति आत्मा की अनुभूति में ही सुख अनुभव करता है, आत्मा ही जिसका आश्रय है, आत्मा की ज्योति से ही जो प्रकाशित है और जो आत्मा में ही अपने को मिलाकर आत्मरूप हो गया है वह ब्रह्म को प्राप्त हुआ योगी ही शान्ति को (आत्म-अनुभूति के सुख को) प्राप्त होता है।^१

वस्तुतः जो कर्त्तापनरूपी पाप से रहित हो गये हैं, जिन्हें आत्मा के निर्दोष और सम होने का संशय नहीं रहा है, जिनकी एकाग्रता आत्मा में हो गई है एवं जिनकी लोकसंग्रह हेतु कर्म करने

१. योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥२४॥

(पिछले पृष्ठ का शेष)

“हृदयँ सोचु समझत निज करनी।

चिंता अमित जाइ नहिं बरनी॥”

इस प्रकार आत्मज्ञानी भगवान् शंकर स्वयं शान्त रहकर क्रोध व्यक्त न करने के अपने आचरण द्वारा सती को स्वयं अपना आचरण ठीक करने की प्रेरणा देते हैं। अस्तु, क्रोध सहन करने से, जो क्रोध सहन करता है वह व्यक्ति भी और जिस व्यक्ति पर क्रोध किया जाने वाला था वह भी दोनों ही लाभान्वित होते हैं। क्रोध सहने वाले को शान्ति मिलती है और जिस पर क्रोध किया जाने वाला था वह अपनी त्रुटि ठीक कर लेता है। साथ ही प्रायश्चित्त भी कर लेता है। सन्त तुलसीदासजी सती के पश्चात्ताप को इन शब्दों में उनके द्वारा व्यक्त कराते हैं कि -

“सती हृदयँ अनुमान किय सबु जानेउ सर्वग्या।

कीन्ह कपटु मैं संभुसन नारि सहज जड़ अग्या॥”

अस्तु, भगवान् शंकरजी के उदाहरण से स्पष्ट है कि काम और क्रोध के वेग को आत्मज्ञानी भली प्रकार से जीत लेता है अर्थात् सहन कर लेता है।

में अभिरुचि जाग्रत हो गई है ऐसे ऋषिगण ही आत्म-अनुभूति के सुख को अर्थात् शान्तब्रह्म को प्राप्त करते हैं।^१

साथ ही हे अर्जुन, तू ऐसा भी समझ कि जिनमें काम, क्रोध सहने की सामर्थ्य भली प्रकार आ गई है, जिनका चित्त स्थिर हो गया है और जिन्होंने आत्मा के स्वरूप को पूर्णतः जान लिया है ऐसे ज्ञानी पुरुषों के लिए सब ओर से पूर्ण, शान्त-परमात्मा प्राप्त ही है अर्थात् ऐसे महापुरुषों को प्रत्येक प्राणी में आत्मा का दर्शन होता रहता है। फलतः उनको सर्वत्र शान्त वायुमण्डल ही दृष्टिगोचर होता है।^२

हे अर्जुन, सम्भवतः अब तू यह जानने को उत्सुक हो उठा होगा कि निष्कामकर्मयोगी में, कर्म करते हुए परमात्म-तत्त्व में लीन होकर कर्म करने की अभिरुचि कैसे जाग्रत हो जाती होगी। अस्तु, अब मैं इसी रहस्य को तुझे समझाता हूँ।

देखो अर्जुन, निष्कामकर्म करते-करते कर्मयोगी साधक को स्वयमेव अनासक्ति की बारीकी समझ में आने लगती है। परिणामतः उसे अनुभव होने लगता है कि निष्कामकर्म करने में भी अत्यन्त सूक्ष्मरूप में कर्तापन का भाव बना ही रहता है। क्योंकि कर्म का फल ईश्वर के अर्पण करने में वह व्यक्ति स्वयं तो ईश्वर के अर्पण होता नहीं केवल उसके कर्म का फल ही ईश्वर के अर्पण हो जाता है। अस्तु, अब वह अपने को पूर्ण कर्तृत्वभावना से ही मुक्त करने का उपाय सोचता है। सोचते-सोचते उसकी समझ में स्पष्ट आने लगता है कि कर्म की समस्त आद्योपान्त क्रियाएँ सूक्ष्म व स्थूलशरीर की

कर्मयोगी की
परमात्म-तत्त्व की
जानकारी में अभिरुचि

१. लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥२५॥
२. कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥२६॥

ही हैं अर्थात् उसके द्वारा व्यक्त संकल्पों की ही क्रियाएँ हैं जो स्थूलशरीर के अवयवों द्वारा हो रही हैं। वस्तुतः वह तो केवल साक्षीमात्र है। चूँकि स्थूल व सूक्ष्मशरीर के कार्य को वह अभी तक अज्ञान से अपना कार्य कहता रहा है और केवल कर्म के परिणाम को ही ईश्वर के अर्पण कर दिया करता है, अतः सूक्ष्म व स्थूलशरीर के कार्य को अपना बनाना उसकी हठधर्मी ही है। अस्तु, इस विचारधारा का परिणाम यह होता है कि शनैः-शनैः वह कर्म को ही सूक्ष्म व स्थूलशरीर का अथवा प्रकृति का कार्य (गुणों का कार्य) समझने लगता है। जब साधक को यह अच्छी तरह से समझ में आ जाता है कि समस्त कर्म प्रकृति के कार्य हैं तब वह कर्म करते हुए भी अपने को कर्म का साक्षी समझने लगता है और इस प्रकार वह जीवन-मुक्त ज्ञानी बन जाता है। क्योंकि जो साक्षी है उस पर कर्म करने का आरोप नहीं आ सकता। वस्तुतः कर्म को अपना मान लेने से ही व्यक्ति कर्मबन्धनरूपी जन्ममरण के चक्र में घूमता है, और जब वह कर्म ही नहीं करता तब वह निश्चयात्मक रूप से जीवन-मुक्त ही है। अस्तु, जो व्यक्ति जीवन-मुक्त होना चाहता है उसे कैसे अभ्यास करना चाहिए अब मैं इस सम्बन्धी उस प्रथा से भी जो अब तक चली आ रही है तुझे परिचित किये देता हूँ।

देखो अर्जुन, जीवन-मुक्ति का इच्छुक मुनि जब तक मुक्ति के वास्तविक स्वरूप का अनुभव नहीं कर लेता तब तक उसके लिए दिन में एक दो बार अवश्य ही विशेष रूप से परमात्मतत्त्व में स्थित होने का अभ्यास करना आवश्यक है। अभ्यास के समय, आसन पर सीधा बैठकर वह आँखें बन्द कर ले ताकि इधर-उधर उसकी दृष्टि न जावे। इस प्रकार बाहरी पदार्थों के दृश्य बाहर ही रह जावेंगे।

जीवन-मुक्ति के
अभिलाषी मुनि के
साधन की सर्वविदित
पद्धति

वे दृश्य आँखों द्वारा अन्तस्थल के भीतर प्रविष्ट न हो सकेंगे। तदुपरान्त साधक अपनी भौहों के मध्य भाग को देखने का प्रयास करे। इस विधि से चित्त शान्त होने लगता है। तब वह अपनी नासिका से आने-जाने वाले श्वास पर विचार करे कि नासिका के दोनों छिद्रों से श्वास एक-सी ही गति से चलने लगी है अथवा नहीं। अल्प अवधि में ही उसे अनुभव

होने लगेगा कि दोनों छिद्रों से समान गति में श्वास आ रही है और जा रही है और वह अब उसका दृष्टा हो गया है। ऐसी स्थिति में वह अपने दृष्टापन के भाव को ऐसा समझने लगता है कि वह आत्मस्वरूप में स्थित हो गया है। चूँकि स्थूल व सूक्ष्मशरीर से आत्मा पृथक् है अतः सूक्ष्मशरीर उससे पृथक् है ही। चूँकि सूक्ष्म शरीर का सम्बन्ध संकल्पों से है अतः संकल्पों से, अर्थात् इच्छाओं से भी वह पृथक् है, अर्थात् मुक्त है। चूँकि आत्मा अविनाशी है अतः वह भी अविनाशी है क्योंकि वह आत्मा में ही स्थित हो गया है। इस प्रकार वह मृत्यु के भय से भी मुक्त है। तब वह यह विचार करता है कि कर्म करने में कर्त्तापन का जो भाव है वह तो गुणों का धर्म है, अतः जब कर्म के विपरीत परिणाम निकलने पर क्रोध का भाव जो व्यक्त होता है उसका सम्बन्ध वस्तुतः गुणों से है, उससे नहीं, अतएव वह क्रोध से भी मुक्त है। अस्तु, जो मोक्षपरायण मुनि बाहरी विषयों को बाहर करके, नेत्र की दृष्टि को भौहों के बीच में स्थित करके नासिका के भीतर आने जाने वाली प्राण और अपान वायु को सम करके, इन्द्रिय, मन और बुद्धि को वश में कर लेता है वह इच्छा, भय और क्रोध से रहित है, अतएव वह सदा ही मुक्त है। सत्य ही, इच्छा, भय और क्रोध के कारण अशान्ति आया करती है। अस्तु, जब वह इन तीनों से मुक्त है तब वह सदा शान्त ही है। १

अब यह तथ्य भी तुझे विचारणीय है कि इस विचारधारा से साधक में कर्तृत्वभावना का तो पूर्णतः अभाव हो जाता है, परन्तु स्थूलशरीर का संरक्षण, कर्म किए बिना हो ही नहीं सकता। अस्तु, जब तक साधक का शरीर है तब तक उसको कर्म करना आवश्यक है। किन्तु, अब चूँकि उसका निजी कोई कार्य तो है नहीं और साथ ही लोक-हित आवश्यक भी है, अतः लोक-हितार्थ कर्म, कर्तृत्व-भावना से रहित होकर करता है। कर्तृत्व-भावना के अभाव हो जाने से उसे कर्म करते

१. स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।

प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥२७॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।

विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

समय किंचित् भी अशान्ति अनुभव नहीं होती, वस्तुतः वह सदैव शान्त रहता है। इस प्रकार शान्त रहते हुए कर्म करने को परमात्मतत्त्व में लीन होकर कर्म करना कहा जाता है। अस्तु, अब मैं तुझे उस परमात्मतत्त्व के स्वरूप से परिचित कराता हूँ जिसमें लीन होकर ज्ञानी शान्तिपूर्वक बन्धनमुक्त हुए कर्म करता है।

देखो अर्जुन, आत्मा तो निर्विकारी एवं निर्लिप्त है और सृष्टि का

परमात्म-तत्त्व के स्वरूप
का ज्ञान एवं उस भाव
में स्थित होकर
कर्मसम्पादन की विधि

सृजन, पालन और संहार करने वाली शक्तियाँ वस्तुतः क्रम से ब्रह्मा, विष्णु और शम्भु हैं। इन शक्तियों को समष्टिरूप में त्रिगुणात्मक माया कहते हैं। इस त्रिगुणात्मक माया का ही एक अंश विष्णु अर्थात् वैष्णवीशक्ति है जो सृष्टि के पालन-पोषण का कार्य करती

है। अस्तु, विष्णु अर्थात् वैष्णवीशक्ति ही सृष्टि के समस्त कर्मों के कर्त्तापन के फल की वस्तुतः भोक्ता है। चूँकि विष्णु के निमित्त कर्म करने को 'यज्ञ' और उस कर्म को आवश्यकता से अधिक श्रमपूर्वक सम्पादित करने को 'तप' कहते हैं, अतः यज्ञ और तपों के फल को भोगनेवाला विष्णु अर्थात् वैष्णवीशक्ति ही है। चूँकि जो शक्ति एक लोक का पालन करती है उसको एक लोक का स्वामी अर्थात् ईश्वर कहते हैं, अतः जो शक्ति समस्त लोकों का पालन करती है उसको समस्त लोकों का महेश्वर अर्थात् ईश्वरों का ईश्वर कहना असंगत नहीं। चूँकि वैष्णवीशक्ति समस्त सृष्टि का अर्थात् सब लोकों के प्राणियों का पालन-पोषण करती है और बदले में कुछ नहीं चाहती, अतः उसे सुहृद भी कहते हैं।

इस प्रकार सृष्टि के यज्ञ और तपों की भोक्ता तथा सर्वलोक महेश्वर और प्राणीमात्र की सुहृद, वैष्णवीशक्ति ही है और तू इस रहस्य को भली-भाँति जानता ही है कि समस्त सृष्टिरूपी प्राणियों के सूक्ष्मशरीर का नाम त्रिगुणात्मक माया है। अस्तु, त्रिगुणात्मकमाया का एक महत्वपूर्ण अंश सत्त्वगुण के रूप में वस्तुतः विष्णु अर्थात् वैष्णवीशक्ति है।

जिस प्रकार एक प्राणी के सूक्ष्मशरीर से उसकी आत्मसत्ता पृथक् अस्तित्व रखती है, उसी प्रकार समष्टिरूप में समस्त सृष्टिरूपी प्राणियों के सूक्ष्मशरीर से उसकी समष्टिरूप में आत्मा का अस्तित्व भी पृथक् है। अस्तु, समष्टिरूप में भी परमात्म-तत्त्व को निर्लिप्त एवं निर्विकारी आत्मा कहते हैं। स्पष्ट है कि जो कोई भी व्यक्ति निर्लिप्त एवं निर्विकारी आत्म-तत्त्व सदृश होना चाहता है उसे अपने पालन-पोषण का भार त्रिगुणात्मक माया को दे देना चाहिए। तब वह आत्मा के सदृश ही शान्ति अनुभव कर सकता है। अस्तु, जीवनमुक्ति का अभिलाषी साधक अर्थात् मुनि परमात्म-तत्त्व के स्वरूप को निर्लिप्त एवं निर्विकारी जानकर अपने कर्त्तापन के उत्तरदायित्व को पूर्णवैष्णवीशक्ति अर्थात् विष्णु को समर्पण कर देता है। चूँकि, हे अर्जुन, यह मैं तुझे पहले ही कह चुका हूँ कि वैष्णवीशक्ति में और ज्ञानी की योग्यता प्राप्त मुझ कृष्ण में कोई अन्तर नहीं है, अतः साधक मुझको अथवा यूँ कह कि वैष्णवीशक्ति को अपने समस्त कर्मों का कर्त्ता, भोक्ता और महेश्वर मान लेता है और स्वयं कर्त्तापन से रहित हो जाता है। फलतः राग-द्वेष से मुक्त होकर साधक शान्ति प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार शान्तचित्त से कर्मयोगीमुनि, जीवनमुक्तज्ञानी की योग्यता प्राप्त करके लोक-शिक्षण हेतु कर्म तो करता है किन्तु, कर्म के बन्धन से मुक्त रहता है।

अस्तु, हे अर्जुन, जो मुझ में अनुरक्त है, ऐसा साधक मुझे यज्ञ और तपों का भोगनेवाला, सम्पूर्ण लोकों के ईश्वर का भी ईश्वर एवं समस्त जीवों का सुहृद अर्थात् निःस्वार्थ प्रेमी जानकर शान्ति को प्राप्त होता है अर्थात् उसे कर्म करने में अशान्ति नहीं आती। कर्म करते हुए भी वह परमात्म-तत्त्व में लीन रहता है।⁹

ओ३म् शम्

-
9. भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥२६॥

ॐ

छठा अध्याय

आत्म-संयम-योग

अर्थात्

मन की एकाग्रता द्वारा
अन्तःकरण को शुद्ध कर
आत्म-साक्षात्कार करने
का प्रकरण ।

आत्म-संयम-योग

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥४५॥

वस्तुतः योगारम्भ करने वाले साधक को योगाभ्यास के लिए अनेक जन्म भी धारण करना पड़ते हैं। जब अनेक जन्मों के अभ्यास से उसके पाप धुल जाते हैं, अर्थात् जब वह कर्त्तापन के भाव के मुक्त हो जाता है तब कहीं वह योगारूढ़ सिद्धयोगी की स्थिति को समझने लगता है। ऐसा बुद्धिमान योगी भी लोक-संग्रह के हेतु कर्म करते हुए जब कभी अहंभाव के वशीभूत होकर चित्त की चंचलता के कारण योगभ्रष्ट हो जाता है तब वह बुद्धिमान् सिद्धयोगी के कुल में जन्म लेता है, और प्रयत्नपूर्वक साधना करके (मन को एकाग्र कर आत्म-साक्षात्कार करके) पुनः परमगति को प्राप्त हो जाता है अर्थात् पुनः योगारूढ़ हुआ शुद्ध अन्तः करण वाला सिद्धयोगी हो जाता है॥४५॥

ईश्वरार्पण बुद्धि से निष्कामकर्म करते हुए कर्मयोगी शनैः-शनैः कैसे आत्मज्ञानी की योग्यता प्राप्त कर लेता है, यह प्रकरण पंचम अध्याय में पाठक पढ़ चुके हैं। अब, भगवान् कृपा कर निष्कामकर्म करने वाले साधक को योगारूढ़ होने की वह विधि बता रहे हैं जिस विधि से मन एकाग्र हो जाता है और अन्तःकरण शुद्ध होकर आत्म-साक्षात्कार का रहस्य भली-भाँति समझ में आ जाता है। इसी प्रकरण को पाठकगण विस्तारपूर्वक इस छठवे अध्याय में पढ़ेंगे।

देखो अर्जुन, कर्मयोगी को योगारम्भ करने से पूर्व सन्यासी अथवा योगी के प्रति जनसाधारण की क्या धारणा है, यह भी समझ लेना आवश्यक है, साथ ही जनसाधारण की धारणा के औचित्य को अपनी विचारकसौटी पर कसकर निर्णय भी कर लेना चाहिए जिससे योगारम्भ में प्रचलित जनसाधारण की धारणा के सदृश साधक की पूर्वविचारधारा भी बाधा न डाल सके। अस्तु, अब, मैं तुझे सन्यासी के प्रति जनसाधारण की धारणा को स्पष्ट करता हूँ।

देखो अर्जुन, तूने देखा होगा कि प्रायः जनसाधारण उस साधु को सन्यासी कहते हैं जो अग्नि का प्रयोग नहीं करता अर्थात् जो स्वयं न तो भोजन बनाता है और न पंचाग्नि आदि तपता है। साथ ही संन्यासी यज्ञकर्म की कोई क्रिया भी नहीं करता है। परन्तु, केवल अग्नि और कर्म की क्रिया के त्यागने मात्र से कोई भी व्यक्ति संन्यासी नहीं बन सकता। वस्तुतः तथ्य तो यह है कि जो व्यक्ति कर्म-फल के आश्रित न रहते हुए कर्तव्यकर्म करता है वही सन्यासी है और योगी है न कि वह जो अग्नि का सेवन नहीं करता अथवा अक्रिय है अर्थात् कोई भी काम नहीं करता।'

-
9. श्रीभगवानुवाच - अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्नचाक्रियः॥१॥

स्पष्ट है कि संन्यासी बनने के लिए यह परमावश्यक है कि वह करने योग्य कर्म तो निरन्तर करता रहे किन्तु कर्म-फल प्राप्ति की उसको लेशमात्र भी अभिलाषा न हो। इस प्रकार त्याग करने के दृष्टिकोण से संन्यासी का लक्षण वही है जो निष्कामकर्मयोगी का है। अतः कर्मयोगी कहो अथवा संन्यासी कहो एक ही बात है। दोनों को कर्मफल त्यागना अभीष्ट है।

अस्तु, हे अर्जुन, जिसे संन्यास-योग कहा जाता है उसी को तू कर्मयोग समझ, क्योंकि, संकल्पों को अर्थात् कर्मफल की इच्छाओं को न त्यागने वाला कोई भी व्यक्ति योगी नहीं होता।^१ हाँ, इतना अवश्य है कि संन्यासी और कर्मयोगी के कर्मफल त्यागने की विधि भिन्न-भिन्न होती है। कर्मयोगी यह संकल्प करता है कि भगवान् के निमित्त काम करने के लिए कर्म करने का उत्तरदायित्व वह अपने ऊपर ले रहा है। जब कर्म का फल आता है तब वह यह समझता है कि उसके द्वारा भगवान् के निमित्त ही तो काम किया गया है अतः उसका फल भी भगवान् को ही अर्पण होना चाहिए। इस प्रकार वह कर्मफल से मुक्त हो जाता है अर्थात् राग-द्वेष से अथवा सुख-दुःख से रहित हो जाता है, क्योंकि कर्मफल के भोक्ता को ही राग-द्वेष या सुख-दुःख आया करते हैं। किन्तु, संन्यासी की विचारधारा कर्म-फल त्यागने के सम्बन्ध में कर्मयोगी जैसी नहीं होती। क्योंकि, संन्यासी जानता है कि संकल्पों से कर्मों का उदय होता है। संकल्पों का सम्बन्ध त्रिगुणात्मक माया से है। अतः कर्म करते समय संन्यासी कर्म करने का संकल्प नहीं करता, बल्कि यह समझता रहता है कि उसकी त्रिगुणात्मक माया, अर्थात् उसके सूक्ष्मशरीर के स्फुरण से ही उसका स्थूलशरीर गतिशील हो रहा है। जो लोग इस तथ्य को नहीं जानते वे भले ही उस पर कर्म करने का आरोप करें, किन्तु वस्तुतः उसकी दृष्टि में संकल्प द्वारा ही कर्म होते रहते हैं। जब वह संकल्प को ही अपना नहीं मानता तब संकल्प से होने वाले कार्यों तथा कर्मफलों से उसका सम्बन्ध ही कैसे हो सकता है?

१. यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥२॥

इस प्रकार संन्यासी संकल्प को ही त्यागकर कर्मफल से मुक्त हो जाता है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि संन्यासी और कर्मयोगी दोनों ही कर्मफल अर्थात् राग-द्वेष या सुख-दुःख से रहित हो जाते हैं।

अस्तु, इस विवेचन से अर्जुन, तुझे स्पष्ट हो गया होगा कि संन्यासी और कर्मयोगी दोनों ही कर्म-फल त्यागकर कर्म करते हैं। चूँकि संकल्प को मूर्तरूप देने के लिए कर्म आवश्यक है और कर्म किया जावेगा तो कर्म-फल भी आवेगा अतः कर्म-फल का मूल कारण संकल्प ही है। अस्तु, कर्म-फल छोड़ने से संकल्प त्यागने का भाव ही, वस्तुतः व्यक्त होता है। इस प्रकार कोई व्यक्ति यदि कर्मयोगी होकर संन्यासी होना चाहे अथवा सीधा संन्यासी, उसे निश्चयात्मक रूप से संकल्पों का त्यागना परमावश्यक है। अतः जो व्यक्ति संकल्प को नहीं त्यागता वह न तो कर्मयोगी बनकर संन्यासी हो सकता है और न सीधा संन्यासी ही।

वस्तुतः कर्मयोग के अभ्यास से कर्म-फलासक्ति सुगमता से दूर की जा सकती है। अतएव कर्मयोग, अर्थात् ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करने का अभ्यास पहले करना, साधक को, बताया गया है। किन्तु, जब शनैः-शनैः कर्म-फल से अधिकांश रूप में आसक्ति हट जाती है तब उस साधक को स्वयं ही यह अनुभव होने लगता है कि कर्म-फल भगवान् को अर्पण कर देने पर भी कुछ न कुछ कर्त्तापन की भावना और फलासक्ति बनी रहती है। साधक राग-द्वेष से पूर्णतः रहित नहीं होने पाता। अस्तु, कर्मयोग के अभ्यास द्वारा जब साधक इस तथ्य का अनुभव करने लगता है तब वह संन्यासी की भाँति ही राग-द्वेष को पूर्णतः दूर करना चाहता है अर्थात् निर्द्वन्द्व होकर कर्म करना चाहता है। ऐसी स्थिति में साधक को स्वयं ही, अधिकारी हो जाने के कारण, संन्यासी की पद्धति पर चलना सरल प्रतीत होने लगता है। तब वह भी भली-भाँति समझ लेता है कि कर्म का उत्पादक वस्तुतः संकल्प है न कि वह स्वयं। इस प्रकार साधक 'सर्व संकल्प संन्यासी' अर्थात् अपने समस्त संकल्पों का त्यागी हो जाता है। वस्तुतः 'सर्व-संकल्प-संन्यास' से अहंभाव का अन्त हो

जाता है और बुद्धि में समता आ जाती है। अतः 'सर्व-संकल्प-संन्यास' को ही समत्वबुद्धियोग कहते हैं।

अस्तु, समत्वबुद्धियोग में आरुढ़ होने के लिए प्रारम्भिक अवस्था में प्रथम तो फलेच्छा और आसक्ति से रहित कर्मयोग की आवश्यकता है। किन्तु, जब निष्कामकर्म के अभ्यास द्वारा कर्तृत्वभावना का पूर्णतः अभाव हो जाता है तब साधक योगारुढ़ अवस्था को प्राप्त हो जाता है। योगारुढ़ होने पर साधक कर्तृत्व-भावना से रहित हुए समत्वबुद्धि से लोक-हित के कर्म करता है। अस्तु, राग-द्वेष रहित पूर्णशान्त जीवन व्यतीत करने के इच्छुक साधक के लिए अर्थात् योगारुढ़ होने के अभिलाषी मुनि के लिए कर्म कारण कहा जाता है अर्थात् उसे निष्कामकर्मयोग करने को कहा जाता है और राग-द्वेष का कारण 'संकल्प' है, इस तथ्य को समझ लेने वाले को अर्थात् योगारुढ़साधक को 'शम' यानी संन्यासवृत्ति कारण कही जाती है अर्थात् संकल्परहित वृत्ति से लोक-हितार्थ कर्म करना कहा जाता है।^१

वस्तुतः सर्वसंकल्पों का त्यागी केवल लोक हितार्थ कर्म करने वाला ही योगारुढ़ कहा जाता है। जबकि निश्चयात्मक रूप से न तो वह इन्द्रियों द्वारा भोगे जाने वाले भोगों में आसक्त होता है और न उसके द्वारा किए गये कर्मों में उसकी आसक्ति होती है।^२

देखो अर्जुन, प्रायः प्रत्येक व्यक्ति की यह तीव्र कामना होती है कि वह जब तक जीवित रहे अपना स्वधर्म शान्तिपूर्वक पालन करता रहे। उसके

कर्मयोगी को
योगारुढ़ होने की
आवश्यकता

चित्त में किसी प्रकार का विक्षेप न आवे। मानव की यह कामना योगारुढ़ हो जाने से पूर्ण हो सकती है। योगारुढ़ होने के लिए व्यक्ति को किसी अन्य व्यक्ति के सहयोग की अथवा कृपा की आवश्यकता नहीं। यदि वह योगारुढ़

१. आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारुढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥३॥
२. यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारुढस्तदोच्यते॥४॥

होने की युक्ति को ठीक-ठीक समझ लेता है तो वह स्वयं ही अपना उत्थान कर सकता है। साथ ही राग-द्वेष से रहित होकर पूर्ण सुख एवं शान्ति प्राप्त कर सकता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति का यह परम धर्म है कि वह अपने उत्थान के रहस्य को समझकर राग और द्वेष से मुक्ति पा ले। चूँकि राग-द्वेष से सुख-दुःख का अनुभव होता है अतः वह व्यक्ति सुख-दुःख से ऊपर उठ सकता है। इस प्रकार व्यक्ति के राग-द्वेष अथवा सुख-दुःख से ऊपर उठ जाने को ही ऐसा कहा जाता है कि उसने अपना उद्धार कर लिया है। वस्तुतः आत्मा, निर्लिप्त, विशुद्ध एवं सुख-दुःख से रहित है, किन्तु अज्ञान से मानव अपनी आत्मा में सुख-दुःख का आरोप करके आत्मा का अधःपतन करता है। अस्तु, मानव अपनी आत्मा का अधःपतन न करे। इस विवेचन से हे अर्जुन, तुझे स्पष्ट हो गया होगा कि जो मनुष्य योगारूढ़ होना चाहता है वह अपना उद्धार स्वयं आप ही करे और अपने आप का पतन कभी न होने दे। अपने उद्धार के लिये योगारूढ़ होने का अभ्यास करने वाला व्यक्ति, वस्तुतः स्वयं ही अपना मित्र है किन्तु, जो व्यक्ति योगारूढ़ होने का अभ्यास नहीं करता वह निश्चयात्मक रूप से स्वयं ही अपना शत्रु है अर्थात् और कोई दूसरा उसका शत्रु या मित्र नहीं है।

सत्य ही, जिस व्यक्ति ने अपने मन और इन्द्रियों सहित शरीर को जीत लिया है, उस व्यक्ति के लिए आत्मा, बन्धु के समान मित्रवत् है। वस्तुतः, वह यह अनुभव करने लगता है कि मन और इन्द्रियों सहित शरीर का सम्बन्ध स्थूल व सूक्ष्मशरीर से है। आत्मा स्थूल व सूक्ष्मशरीर से पृथक् है। इस प्रकार वह अपने को स्थूल व सूक्ष्मशरीर से पृथक् शुद्ध आत्मा समझता है। चूँकि आत्मा नित्य सुखी एवं शान्त रहती है अतः वह भी सुखी एवं शान्त रहता है। किन्तु, योगारूढ़ होने का अभ्यास न करने वाले उस व्यक्ति के लिए, जिसके द्वारा मन और इन्द्रियों सहित शरीर नहीं जीता गया है, आत्मा शत्रु के सदृश है और उसके द्वारा शत्रुता का ही आचरण होता है।^१

१. उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥५॥
२. बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥६॥

अस्तु, अब तू यह भी जान ले कि व्यक्ति योगारूढ़ हो जाने पर कर्म किस प्रकार करता है जिससे तू यह जान सकेगा कि कर्म करते समय तू योगारूढ़ मुनि के सदृश ही आचरण करता है या नहीं।

योगारूढ़ व्यक्ति का प्रथम लक्षण तो यह है कि वह कर्म करते हुए अथवा कुछ न करते हुए सभी अवस्थाओं में

योगारूढ़ हुए
व्यक्ति के लक्षण

आत्मा के स्वरूप में स्थित रहता है। अतः कर्म करते समय उसके चित्त में किसी प्रकार का भी विक्षेप उत्पन्न नहीं होता। उसका अन्तःकरण इतना शान्त रहता है कि सर्दी, गर्मी,

सुख, दुःख, मान, अपमान आदि विकारों से उसका चित्त अप्रभावित रहता है। क्योंकि, उसकी दृष्टि में स्पष्ट रूप से समस्त विकार अस्थायी हैं। उनका सम्बन्ध उसकी प्रकृति अर्थात् स्थूल व सूक्ष्मशरीर से है, उससे नहीं। जैसे एक व्यक्ति के पड़ौसी के विकारों का प्रभाव पड़ौसी पर ही होता है, व्यक्ति पर नहीं। हाँ, उसे तो केवल उस पड़ौसी के समीप रहने से पड़ौसी के विकारों की जानकारी मात्र है। अतः उन विकारों से उत्पन्न हुए वेगों को वह सहन कर लेता है। वैसे ही योगारूढ़ हुआ व्यक्ति जो आत्म-स्वरूप में भली प्रकार से स्थित है वह अपनी प्रकृति (स्थूल व सूक्ष्मशरीर) को पड़ौसी की भाँति ही मानता है। अतः उसके विचारों से उत्पन्न वेगों की जानकारी उसे रहती तो अवश्य है परन्तु उन विकारों के वेगों से वह अप्रभावित रहता है। वह समस्त विकारों के वेग को सह लेता है, अर्थात् वह सहनशील होता है। अस्तु, शीत-ऊष्ण, सुख-दुःख और मान-अपमान में जो विचलित नहीं होता, अर्थात् जिसका मन जीता हुआ है, वह व्यक्ति भली प्रकार से शान्त है। ऐसे प्रशान्त व्यक्ति के मन में (विचारों में) परमात्म सत्ता का अस्तित्व भली-भाँति प्रतिष्ठित हो जाता है।⁹

योगारूढ़ हुए व्यक्ति का दूसरा लक्षण यह है कि उसे अपने तीनों विग्रह-स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर व आत्मा के स्वरूप की पूर्णतः

9. जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।

शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥७॥

जानकारी होती है। वस्तुतः वह जानता है कि समस्त भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति संकल्प से होती है। संकल्प का उदय-स्थान सूक्ष्मशरीर अर्थात् मन, बुद्धि और अहंकार है जो स्थूलशरीर अर्थात् दसों इन्द्रियों सहित शरीर के पिण्ड के द्वारा कार्य सम्पादित करता है। आत्मा तो केवल साक्षीवत् है और वह स्थूल व सूक्ष्मशरीर से सर्वथा पृथक्, निर्लिप्त एवं निर्विकारी है। चूँकि वह आत्मा में स्थित रहता है, अतः इन्द्रियों से अप्रभावित रहना उसके लिए स्वाभाविक है। इसी कारण वह विजितेन्द्रिय तथा विकाररहित स्थितिवाला (कूटस्थ) प्रतीत होता है।

सत्य ही, आत्मा का ज्ञान और उसका प्रत्यक्ष अनुभव होना ही सर्वोपरि ज्ञान अथवा पूर्ण जानकारी है। आत्मा की जानकारी एवं प्रत्यक्ष अनुभूति होने के उपरान्त फिर अन्य जानकारी एवं अनुभूति की आवश्यकता नहीं रहती। चूँकि योगारूढ़ हुए व्यक्ति को आत्मा का पूर्णज्ञान एवं उसकी अनुभूति होती है, अतः उसे अन्य किसी भी जानकारी अथवा अनुभूति की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। अस्तु, वह ज्ञान-विज्ञान-तृप्तात्मा है, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है।

साथ ही योगारूढ़ हुए व्यक्ति की दृष्टि में मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण समान होते हैं। इसका यह भाव नहीं कि वह मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण के मूल्यांकन से अपरिचित है। वस्तुतः वह उनकी कीमत को भली-भाँति समझता तो है, किन्तु उसकी दृष्टि से मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण केवल इच्छापूर्ति के साधन हैं। इच्छापूर्ति की साधन जैसे मिट्टी है वैसे ही पत्थर है और वैसे ही स्वर्ण है। अतः वह तीनों को ही संकल्प-पूर्ति का साधन होने से तीनों को समान मानता है। साथ ही उसका चित्त भी विक्षेपरहित होता है। ऐसे व्यक्ति को युक्त अर्थात् अधिकारीयोगी कहा जाता है। अस्तु, वह युक्तयोगी होता है।

सारांश यह है कि जो योगी विजितेन्द्रिय है, विकाररहित स्थिति वाला यानी कूटस्थ है एवं ज्ञान-विज्ञान से तृप्त है और सम्पूर्ण पदार्थों में

यानी मिट्टी हो, पत्थर हो चाहे स्वर्ण हो समान भाव रखने वाला है, वह वास्तव में युक्त कहा जाता है।'

देखो अर्जुन, अब मैं तुझे अति श्रेष्ठ योगारूढ़ हुए योगी के लक्षण भी बतलाता हूँ तू भली-भाँति समझ ले।

अति श्रेष्ठयोगी वह है जो सब व्यक्तियों के साथ व्यवहार करते

अतिश्रेष्ठ योगारूढ़
हुए व्यक्ति के
लक्षण

समय अपनी बुद्धि को सम रखता है। उसकी दृष्टि में चाहे कोई सुहृद का आचरण करे चाहे मित्र का, शत्रु का आचरण करे चाहे उदासीन का अथवा चाहे मध्यस्थ का चाहे द्वेषी जैसा उसके समभाव में कोई परिवर्तन

नहीं आता। इतना ही नहीं वरन् वह अपने बन्धु-बान्धव के साथ भी समता का व्यवहार करता है। इसी प्रकार चाहे कोई साधु हो अथवा कोई पापी हो वह सब में अभेद दृष्टि रखता है। वस्तुतः वह स्पष्टरूप से जानता है कि सूक्ष्मशरीर में व्याप्त विभिन्न विचारधाराओं से व्यक्तियों में परस्पर भिन्नता के भाव व्यक्त होते हैं। आचरण की भिन्नता के कारण ही व्यक्तियों को सुहृद, मित्र, शत्रु, उदासीन आदि कहा जाता है। जैसे सुहृद उन व्यक्तियों को कहते हैं जो स्वार्थरहित हों और छोटे या बड़े अधिकारी या अनधिकारी आदि का विचार न करके सबका हित करते हों। वैसे ही मित्र उन व्यक्तियों को कहते हैं जो अपनी विचारधारा से एक दूसरे को बराबर का समझते हैं और बराबरी के भाव से ही प्रेम अथवा हित करते हैं। साथ ही वे सुख-दुःख, विग्रह, विपत्ति में एक दूसरे का कभी साथ नहीं छोड़ते। ऐसे अरि या वैरी उनको कहते हैं जो विरोधी विचारधारा रखते हैं। ऐसे लोग एक दूसरे का अहित करने में नहीं हिचकते। इसी प्रकार उदासीन उन्हें कहते हैं जिनका किसी से कोई प्रयोजन नहीं होता न तो उनका कोई मित्र होता है और न कोई शत्रु, अर्थात् उनका आचरण पक्षपात रहित होता है। ऐसे ही मध्यस्थ वे कहलाते हैं जो परस्पर विरोधी विचार

9. ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।

युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकान्वनः॥८॥

रखने वाले दो व्यक्तियों से व्यवहार करते समय दोनों के ही हित की भावना रखते हैं। इस श्रेणी में न्यायाधीश आदि गिने जा सकते हैं। इसी प्रकार जो व्यक्ति डाह से किसी के प्रति अप्रिय आचरण करते हैं उन्हें द्वेषी कह सकते हैं। वैसे ही वे लोग बन्धु-बान्धव कहलाते हैं जो एक ही कुटुम्ब के हों अथवा जिनके व्यक्तिगत सम्बन्ध एक परिवार में जन्म लेने के कारण हों। इसी प्रकार साधु उन्हें कहते हैं जो ईश्वरार्पण बुद्धि से अथवा 'गुण-गुणों में वर्त रहे हैं' इस बुद्धि से निष्कामकर्म करते हैं। जबकि पापी उन लोगों को कहते हैं जो अपनी उदरपूर्ति आदि के लिए जो भी कर्म करते हैं उन सब कर्मों का स्वयं को ही कर्त्ता-धर्त्ता मानते हैं, प्रकृति अथवा ईश्वरादि को नहीं।

वस्तुतः सूक्ष्म दृष्टि से अनुभव किया जाय तो स्पष्ट विदित हो जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति के शरीरादि की रचना एकसी है, उसमें कोई अन्तर नहीं, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के एक सरीखे तीन-तीन ही विग्रह होते हैं- स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर और आत्मा। सत्य ही, स्थूलशरीर को सुहृद या मित्र आदि नहीं कहा जाता है और न आत्मा को ही सुहृद या मित्र की संज्ञा दी जाती है। केवल सौहार्द अथवा मित्रता के भावों के आचरण से ही व्यक्ति विशेष वस्तुतः सुहृद अथवा मित्र आदि कहा जाता है और प्रत्येक व्यक्ति से जो भी आचरण या दुराचरण होता है उसका मूलकारण सत्संग अथवा कुसंग है। यदि कोई अच्छा व्यक्ति संयोग से कुसंग में पड़ जावे तो वह कुत्सित विचारवाला हो जाता है। ऐसे ही यदि बुरा व्यक्ति येन केनप्रकारेण सत्संग करने लगता है तो वह शुभ विचार वाला बन सकता है। अस्तु, योगाखण्ड व्यक्ति की बुद्धि में समस्त देहधारी व्यक्ति उसके जैसे ही होते हैं। सत्य ही, वह सब व्यक्तियों के प्रति प्रेम का आचरण करता है। अस्तु, जो व्यक्ति सुहृद, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी और बन्धुओं में एवं साधुजन अथवा पापी लोगों के प्रति समभाव की बुद्धि से आचरण करता है वह अति श्रेष्ठ योगी है।'

-
9. सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥६॥

अब, अर्जुन, तू इस रहस्य को भी समझ ले कि वह कौनसा उपाय है जिसके आचरण से कोई भी योगी अतिश्रेष्ठ योगी हो सकता है।

अति-श्रेष्ठ योगी
होने का उपाय

वस्तुतः निष्कामकर्मयोगी, ईश्वरार्पण बुद्धि से प्रत्येक करने योग्य कर्म करता है। उसकी स्वयं की कोई इच्छा नहीं होती। यदि कोई इच्छा होती भी है तो यही कि उससे निरन्तर भगवान् के लिए ही कर्म होते रहें। चूँकि उसकी कोई निजी वासना नहीं अतः वह वासना रहित होता है। साथ ही वह आशा से रहित भी होता है, क्योंकि, भगवान् को छोड़कर उसे किसी भी वस्तु की अपेक्षा नहीं होती। वस्तुतः वह निष्पक्ष होता है। मन और इन्द्रियों से जो कुछ भी काम होता है उसे वह यही मानता है कि भगवान् का ही काम हो रहा है। चूँकि मन और इन्द्रियाँ उसे निजी कर्म करने के लिए प्रवृत्त नहीं कर पातीं अतः उसे मन और इन्द्रियों का विजेता कहते हैं। चूँकि उसके मन में सदैव भगवान् के काम की धुन रहती है अतः अन्य निजी विचारों से उसका सम्बन्ध विच्छेद सा हो जाता है। यही कारण है कि उसे समस्त निजी विचारों से पृथक् विचार वाला कहते हैं। अस्तु, चूँकि वह भगवान् को छोड़कर अपनी विचारधारा में अन्य किसी के साथ नहीं रहता अतः उसे ऐसा कहते हैं कि वह अकेला ही रहता है।

उसके पास जो भी उपकरण होते हैं उनको वह भगवान् के ही काम में प्रयोग करता है। चूँकि निजी काम के हेतु उसके पास कोई भी उपकरण या सामग्री नहीं होती अतः उसे अपरिग्रही अर्थात् संग्रहरहितयोगी कहते हैं।

इस प्रकार से ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करने वाला, वासना रहित, आशारहित, मन और इन्द्रियों का विजेता, संग्रहरहित एवं अकेला विचरनेवाला कर्मयोगी अतिश्रेष्ठ योगी होने के लिए भगवान्

के काम में निरन्तर उसका मन लगा रहे इसके लिए एकान्त स्थान में रहकर योगाभ्यास करे।⁹

ऐसा करने से अभ्यास के उपरान्त कर्म करते समय जो भी विक्षेप उपस्थित होंगे उन्हें वह सरलता से दूर कर सकता है। अस्तु, अब तू अति-श्रेष्ठ योगी के योगाभ्यास करने अथवा मनन करने की विधि को भी जान ले।

अति-श्रेष्ठ योगी के
योगाभ्यास की यानी
मनन करने की विधि

देखो अर्जुन, ज्यों-ज्यों कर्मयोगी ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करने का अभ्यासी होता जाता है, त्यों-त्यों ही उसको यह स्पष्ट अनुभव होने लगता है कि जिस शरीर को वह अपना कहता है वह वस्तुतः भगवान् का ही है, क्योंकि, उसके द्वारा जो कुछ काम होता है वह भगवान् का ही होता है, वह तो केवल निमित्तमात्र है। इतना ही नहीं, उसे यह भी अनुभव होने लगता है कि शरीर से सम्बन्ध रखने वाली इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहंकार आदि सभी ही भगवान् के ही हैं अर्थात् उसके स्थूल व सूक्ष्मशरीर पर भगवान् का ही अधिकार है। इस प्रकार वह अनुभव करने लगता है कि वह अपने स्थूल व सूक्ष्मशरीर से वस्तुतः भिन्न, केवल दृष्टा के सदृश है। यह तो तू अर्जुन, समझ ही चुका है कि कर्म के कर्त्ता सूक्ष्म व स्थूलशरीर हैं। अस्तु, जब व्यक्ति अपने को उनका दृष्टा अनुभव करने लगता है तब भी उसके स्थूलशरीर के व्यापार में कोई अन्तर नहीं आता है। क्योंकि, दृष्टा बनने से पूर्व भी शरीर को अपना कहकर उससे भगवान् का काम करने की स्थिति में स्थूल व सूक्ष्मशरीर ही कर्त्ता हैं, वह नहीं और जब वह अपने शरीर को भगवान् का शरीर कहने का अभ्यासी हो जाता है तब भी स्थूल और सूक्ष्मशरीर ही कर्म के कर्त्ता हैं, वह नहीं। हाँ, केवल इतना अन्तर अवश्य अनुभव होता है कि ऐसी स्थिति में जबकि वह अपने शरीर को कर्त्ता समझकर भगवान् का काम करता है तब भगवान्

-
9. योगी युन्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥१०॥

के काम के ठीक हो जाने पर हर्ष और काम ठीक न होने पर उसे दुःख अनुभव होता है, अर्थात् चित्त में विक्षेप आ जाता है और उसकी शान्ति भंग हो जाती है। किन्तु, जब वह अपने शरीर को अपना न मानकर, उसे भगवान् का ही शरीर मानने लगता है तब उसके चित्त में विक्षेप नहीं आता एवं उसको पूर्णशान्ति अनुभव होती रहती है। अतएव अपने शरीर को भगवान् का शरीर समझकर ही कर्म करने की रीति को अति श्रेष्ठ कहना असंगत नहीं।

अस्तु, इस विचारधारा को पुष्ट करने के लिए साधक को एकान्त में बैठकर 'यह शरीर भगवान् का है' इसका मनन करने का अभ्यास अति आवश्यक है। चूँकि कर्म करते हुए साधक को मनन करने का अभ्यास करना अत्यन्त कठिन है, अतः दैनिक कार्यक्रम में से इस विचारधारा के चिन्तन के लिए कुछ समय निकालकर एकाग्र चित्त से बैठने का अभ्यास आवश्यक है और क्रम-क्रम से अभ्यास का समय भी बढ़ाते जाना चाहिए। जब बैठने का निर्विघ्न अभ्यास लगभग तीन घण्टे तक होने लगे तब समझना चाहिए कि आसन की सिद्धि हो गई है, अर्थात् वह स्थिति आ गई है कि जिस स्थिति में मनन द्वारा दृष्टावत् होकर कर्म करते समय भी ऐसा अनुभव होगा कि स्थूल व सूक्ष्मशरीर का व्यापार स्वयमेव चल रहा है, और वह कुछ नहीं कर रहा है। साधक की यह वही योग्यता है जिसको प्राप्त होकर योगी, लोक-संग्रह का कार्य करता रहता है और उसके चित्त में विक्षेप भी नहीं आता। अस्तु, अब आसन सिद्धि होने की पूर्व प्रचलित अभ्यास की प्रणाली भी तुझे जानना आवश्यक है।

देखो अर्जुन, ईश्वरार्पण बुद्धि से निष्कामकर्म करने वाला (कर्मयोगी)

आसन सिद्धि के अभ्यास
की विधि

साधक थोड़े ही अभ्यास से यह अनुभव करने लगता है कि उसमें 'मैं पन' का भाव कुछ न कुछ मात्रा में अवश्य रहता है। क्योंकि, जब तक 'मैं पन' का अस्तित्व न हो तब तक

वह कर्मफलादि को ईश्वरार्पण कर ही कैसे सकता है। ऐसी स्थिति में तब तक कर्म के फल का प्रभाव उस पर भी अवश्य पड़ेगा। इस प्रकार

उसके चित्त में कुछ न कुछ विक्षेप आ ही जावेगा। अस्तु, इस विक्षेप को भी दूर करने के हेतु साधक 'मैं पन' को दूर करना चाहेगा। वस्तुतः इस स्तर पर पहुँचते ही साधक अपने 'मैं पन' को परमात्म-तत्त्व सदृश बनाने के लिए उत्सुक हो उठेगा अर्थात् जिस प्रकार परमात्म-तत्त्व प्रकृति से भिन्न केवल उसका साक्षीमात्र है, और जगत् का समस्त व्यापार प्रकृति का है उसी प्रकार साधक भी अपने 'मैं पन' को अथवा अपनी आत्मा को परमात्म-तत्त्व में लीन करने का प्रयत्न करेगा और स्वयं साक्षी बनकर कर्म करेगा और कर्म को करने वाली 'प्रकृति' है, ऐसा मानने लगेगा। अब उसके विचार से उसकी आत्मा और समस्त संसार में व्याप्त आत्मा में कोई अन्तर नहीं है। निस्सन्देह, उसकी आत्मा सर्वत्र व्यापक आत्मा का ही एक अविभाजित अंश है। उसका स्थूल व सूक्ष्मशरीर अब जगत् के ही स्थूल व सूक्ष्मशरीर का एक भाग है। अब वह स्वयं परमात्म-रूप में स्थित है। उसकी सत्तामात्र से जगत् का व्यापार हो रहा है। फलतः चित्त, इन्द्रियों आदि के विकारों से वह पूर्णतः अप्रभावित है, अर्थात् चित्त और इन्द्रियों को उसने जीत लिया है। अब उसे स्पष्ट अनुभव होने लगता है कि तमोगुण, रजोगुण से और रजोगुण, सत्वगुण से दब गया है और आत्म-तत्त्व तीनों गुणों के ऊपर और उनसे परे सर्वत्र आच्छादित है। अस्तु, साधक इस स्थिति में अपने को तीनों गुणों से परे परमात्मस्वरूप में स्थित अनुभव करने लगता है। इस स्थिति में साधक अपने को जगत् के व्यापार से निर्लिप्त अनुभव करता है। परिणामतः उसका चित्त पूर्णतः विक्षेप-रहित हो जाता है।

अतएव परमात्मतत्त्व में लीन होकर कर्तव्य-पालन करने की उपरोक्त विचारधारा पर मनन करने के लिए साधक तदनुकूल ही आसन लगाकर एक निश्चित समय तक बैठने का दैनिक अभ्यास करने का प्रयत्न करता है। त्रिगुणात्मक माया से पृथक् आत्मतत्त्व को अनुभव करने के लिए वह आसन का ऐसा रूप बनाता है जिससे उसके विचारों के सदृश ही आसन का रूप हो, अर्थात् उसकी विचारधारा के अनुकूल ही उसे प्रेरणा दे। अस्तु, साधक कुश, मृगचर्म और वस्त्र का इस ढंग से आसन सजाता है जिसके ऊपर देर तक सुगमता से बैठा रहा जा सके, और साथ ही वह उसकी विचारधारा के अनुकूल भी हो। सत्य ही, कुश, मृगचर्म और वस्त्र, क्रम-क्रम से तमोगुण, रजोगुण और सत्वगुण के प्रतीक हो सकते हैं।

क्योंकि कुश की जड़ पृथ्वी में होती है जहाँ अन्धकार रहता है और चूँकि तमोगुण का चिन्ह अन्धकार है अतः वह तमोगुण के प्रतीक कुशासन को सर्वप्रथम बिछाता है। मृगचर्म रजोगुणीवृत्ति यानी आखेट कर्म द्वारा प्राप्त होता है, अतः रजोगुण के प्रतीक वह मृगचर्म को कुशासन के ऊपर बिछा देता है। इस प्रकार रजोगुण से तमोगुण दबाने की विचारधारा को बल मिलता है। कपास की गणना सत्वगुण की वस्तुओं में है क्योंकि, उसका चरित्र सत्वगुण प्रधान साधु सदृश है। जैसे साधु नीरस अर्थात् विषयासक्ति रहित होता है वैसे ही कपास की डोड़ी नीरस होती है। जैसे साधु का हृदय अज्ञान और पापरूपी अन्धेरे से रहित उज्ज्वल होता है वैसे ही कपास भी श्वेत उज्ज्वल होता है। जैसे साधु गुणवान् होते हैं वैसे ही कपास के तन्तु गुणमय होते हैं, जैसे सन्त स्वयं कष्ट सहकर दूसरे के दोषों को ढँकता है वैसे ही कपास लोढ़े जाने, काते जाने और बुने जाने का कष्ट सहकर भी वस्त्र के रूप में परिणत होकर दूसरे के गोपनीय स्थानों को ढँकता है। अतः कपास के बने हुए वस्त्र को मृगचर्म के ऊपर साधक बिछा देता है। इस प्रकार उसकी विचारधारा की पुष्टि होती है कि सत्वगुण से रजोगुण दब गया है। अब चूँकि वह स्वयं तीनों गुणों से परे परमात्म-तत्त्व को स्थिति में रहना चाहता है, अतः वह कुश, मृगचर्म और वस्त्र से निर्मित आसन को, न अधिक ऊँचा और न अधिक नीचा अर्थात् समतल करके उस पर बैठकर इस विचारधारा को पुष्ट करने का अभ्यास करता है कि आत्मतत्त्व तीनों गुणों से पृथक् है और साथ ही निर्लिप्त है। केवल उसकी सकाशता में तीनों गुण अपने-अपने कार्य करने में व्यस्त रहते हैं। अस्तु, वह भी अब तीनों गुणों से पृथक् है एवं निर्लिप्त है और उसकी सकाशता में तीनों गुण अपने-अपने कार्य करने में लगे हुए हैं। चूँकि आत्मा में सदैव समभाव रहता है; अतः समभाव की भावना उसमें भी अवश्य विद्यमान है। इसी भावना के प्रतीकस्वरूप उसका आसन समतल है। इस रीति से साधक एकाग्रचित होकर नित्य मनन करता है। ज्यों-ज्यों साधक अभीष्ट स्थिति में रहने का अभ्यास करता है त्यों-त्यों ही उसके भावों में से अपनापन दूर होने लगता है और चित्त में विक्षेप का आना रुकने लगता है। सत्य ही, अपनेपन के भाव से ही चित्त में राग-द्वेष आया करता है और फलतः चित्त में विक्षेप आ जाया

करता है। अतएव, साधक उपरोक्त अभ्यास द्वारा अपने अन्तःकरण को पूर्ण शुद्ध कर लेता है। साधक का शुद्ध अन्तःकरण होना ही साधक की सिद्ध अवस्था कहलाती है। अस्तु, अति श्रेष्ठ योगाभ्यास करने का इच्छुक साधक शुद्धस्थान में जो न तो अधिक ऊँचा हो और न नीचा अर्थात् समतल हो, पहले झाड़-पोंछकर कुशा बिछावे, उसके ऊपर मृगचर्म बिछावे और उसके ऊपर वस्त्र बिछादे। उस आसन पर स्वयं बैठकर चित्त और इन्द्रियों की क्रिया को रोककर अर्थात् स्थिर होकर मन को एकाग्र कर आत्म-शुद्धि के लिए योग साधन करे अर्थात् अभीष्ट लक्ष्य प्राप्ति के ही विचार करे और दूसरे विचारों को स्थान न दे।^१

अब तू यह भी जान ले कि योगाभ्यास करने के लिए किस विधि से साधक स्वयं अपने शरीर को स्थिर रखता है।

योगाभ्यास के लिए
शरीर स्थिर रखने
की विधि

देखो अर्जुन, योगाभ्यास के लिए अर्थात् परमात्मतत्त्व के भाव की विचारधारा का मनन करने के हेतु जब साधक कुश, मृगचर्म और वस्त्र से निर्मित आसन पर बैठे तब आलथी-पालथी मारकर बैठे, चाहे पद्मासन हो या सुखासन। किसी भी

ऐसे आसन से बैठे जिससे कष्ट अनुभव न हो। शिर, ग्रीवा (गर्दन) और धड़ को समान रखे अर्थात् सीधा रखे। इधर-उधर हिले, डिगे नहीं, स्थिर रहे। इस प्रकार आसन पर बैठने से श्वास का आना जाना स्वाभाविक हो जावेगा। सतर (सीधा) और स्थिर रहने से श्वास लेने अथवा छोड़ने में रुकावट नहीं आवेगी। हाँ, यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि शिर, ग्रीवा और धड़ को सतर रखने में न तो तनाव (खिंचाव) हो और न शिथिलता ही रहे। सरलतापूर्वक, स्वाभाविक रूप से स्थिर रहना आवश्यक है। जब स्थिर बैठे जावे तब अपनी नासिका के अग्रभाग पर अर्थात् नासिका

-
१. शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥११॥
 २. तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥१२॥

जहाँ से प्रारम्भ होती है यानी दोनों भौहों के बीच में शृकुटि पर दृष्टि डाले और इधर-उधर न देखते हुए अनुभव करे कि श्वास आ रही है और बाहर जा रही है। श्वास के साथ ही त्रिगुणात्मक विचारों की तरंगें मस्तिष्क के भीतर की विचारतरंगों को प्रभावित कर अनेक प्रकार की विचारधाराओं को जन्म दे रही हैं। इस प्रकार के ध्यान से अन्दर से उठने वाले संकल्पों का साधक सरलतापूर्वक दृष्टा बनने लगेगा। अस्तु, संक्षेप में, साधक को चाहिए कि वह शिर, गर्दन और धड़ को एक सीध में करके यानी सम करके स्थिर हो जावे और इधर-उधर न देखते हुए शृकुटि के मध्य में जहाँ से नासिका प्रारम्भ होती है दृष्टि को केन्द्रित कर ले।^१ किन्तु, ऐसा करने में, वस्तुतः वही साधक सफल सिद्ध होगा जिसकी एकमात्र यही अभिलाषा हो कि अब वह अपने को परमात्मसदृश रखकर ही स्वधर्म-पालन करेगा, इसके अतिरिक्त उसकी और कोई भी इच्छा शेष नहीं है अर्थात् जो पूर्ण सन्तुष्ट और शान्त मन वाला है। जिसका यह भाव दृढ़ हो गया है कि आत्मा अविनाशी है, स्थूलशरीर के नष्ट हो जाने पर उसकी मृत्यु नहीं होती। अतः जिसको अब मृत्यु का भय नहीं रहा है एवं जिसको समस्त विषय भोगों से वैराग्य हो गया है। जो ब्रह्मचर्य अवस्था के नियमों के पालन का व्रत लिये हुए है। पूर्व संस्कार के वशीभूत यदि उसका मन इधर-उधर जाता भी है तो तत्काल ही उस पर नियंत्रण करके उसे आत्मा की ओर प्रवृत्त करना जिसको आ गया है। जिसके चित्त की समस्त क्रियाओं का लक्ष्य, आत्म-चिन्तन की ओर ही हो गया है। संक्षेप में, इस तथ्य को तू यूँ समझ कि साधक को मृत्युभय से रहित, ब्रह्मचर्य व्रत में दृढ़ होकर योगाभ्यास के लिए बैठना चाहिए। साथ ही वह मन को इधर-उधर न जाने दे केवल मुझमें चित्त लगाकर सावधानी से मेरे परायण होकर बैठे अर्थात् मुझ जैसी वृत्ति को आचरण में लाने के हेतु तत्पर होकर बैठे।^२

-
१. समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥१३॥
 २. प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥१४॥

वस्तुतः, ऐसी योग्यता प्राप्त साधक, परमात्मा के परायण होकर यानी यह अनुभव करते हुए कि इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार की समस्त प्रवृत्तियाँ, परमात्मसत्ता से ही गतिशील हो रही हैं, सावधानीपूर्वक आत्म-चिन्तन करता है तो तुरन्त ही वह परमात्म-स्वरूप में स्थित परम शान्ति का अनुभव करने लगता है। अस्तु, इस प्रकार निरन्तर अपनी आत्मा को अर्थात् अपनी विचारधारा को परमात्मतत्त्व की स्थिति के अनुकूल रखता हुआ, निश्चय मनवाला अर्थात् दृढ़ निश्चयी साधक (योगी) मुझ में स्थित शान्ति को, जो कि निर्वाण की पराकाष्ठा है, प्राप्त हो जाता है।^१ हाँ, यह वह शान्ति है जिसको प्राप्त करने पर साधक को स्वधर्मपालन करने में किसी प्रकार का विक्षेप नहीं आता। अतः वह जीवित अवस्था में ही राग, द्वेष से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार की जीवन-मुक्त अवस्था की प्राप्ति को ही वस्तुतः मोक्ष-प्राप्ति कहा जा सकता है। अब तुझे यह भी जान लेना आवश्यक है कि स्वधर्मपालन करने वाले योगी को आहार-विहार किस प्रकार करना चाहिए।

देखो अर्जुन, स्वधर्म-पालन करने हेतु शरीर का स्वस्थ रहना परमावश्यक है। स्वस्थशरीर से ही योगाभ्यास सुखपूर्वक किया जा सकता है। योगाभ्यास के उपरान्त, स्वधर्म पालन करने की दृष्टि से भी शारीरिक स्वास्थ्य की अवहेलना नहीं की जा सकती। अतः साधनावस्था की

योगी के
आहार-विहार के
नियम

अवधि में तथा उसके उपरान्त भी जीवन पर्यन्त शरीर को स्वस्थ रखने का प्रयत्न करते रहना ही चाहिए। शरीर को स्वस्थ रखने के लिए आहार-विहार पर उचित ध्यान देना वांछनीय है। आवश्यकता से अधिक भोजन आलस्य उत्पन्न करता है, जिसके कारण कर्तव्य-पालन ठीक-ठीक नहीं हो सकता। यदि भोजन करें ही नहीं अर्थात् निराहार रहें तो भी शरीर शिथिल हो जावेगा और शिथिल शरीर से ठीक-ठीक कर्तव्य-पालन नहीं हो सकता। यदि अधिक निद्रा लेंगे, अथवा

१. युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥१५॥

निद्रा ही न लें अर्थात् जागते ही रहें तो भी शरीर की स्थिति ठीक-ठीक नहीं रह सकती। इसी प्रकार यदि शरीर की शक्ति पर ध्यान न देते हुए शरीर के अवयवों से उनके थक जाने पर भी उनसे अधिक ही अधिक काम लेते रहें अथवा शरीर के अवयवों से काम ही न लें दोनों ही भाँति से शरीर स्वस्थ नहीं रह सकता। अस्तु, हे अर्जुन, स्पष्ट है कि अधिक भोजन करने वाले का अथवा निराहार रहने वाले का, अधिक सोने वाले का अथवा अधिक जागने वाले का और शरीर से अधिक श्रम लेने वाले का अथवा शारीरिक श्रम की नितान्त अवहेलना करने वाले का योगाभ्यास नहीं सध सकता।^१ सत्य ही, यह योगाभ्यास वही व्यक्ति सुखपूर्वक कर सकता है जिसका आहार-विहार नियमित है, जो उचित रीति से अर्थात् सन्तुलित बुद्धि से कर्मों का आचरण करता है। साथ ही जिसका सोना, जागना मर्यादा के अनुकूल है।^२ अतएव सुखपूर्वक और ठीक-ठीक योगाभ्यास अथवा स्वधर्म-पालन करने के लिए आवश्यकतानुसार भोजन करना (खाना-पीना), शयन करना (सोना, जागना) और परिश्रम करना चाहिए। इस प्रकार से एक ओर तो प्रत्येक कार्यक्रम को नियमानुसार चलाने से मन को स्वच्छन्द विचरने में रुकावट आने लगेगी तो दूसरी ओर उसको आत्म-चिन्तन के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता भी मिलने लगेगी। इस प्रकार से मन का भोगों से निरोध होगा और आत्म-चिन्तन में प्रेम बढ़ेगा। अतः जिस समय योगी का मन समस्त भोगों से अनासक्त होकर आत्म-चिन्तन में सदैव व्यस्त रहता है तब ही वह समस्त भोगों की इच्छाओं से रहित योगी कहलाता है और ऐसे योगी को ही 'युक्त' कहते हैं।^३

१. नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥१६॥
२. युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥१७॥
३. यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥१८॥

अस्तु, अर्जुन अब तू आत्म-चिन्तन में व्यस्त हुए युक्तयोगी की उन मानसिक स्थितियों पर भी ध्यान दे जिनसे योगाभ्यासी साधक योग के लक्ष्य को प्राप्त कर लेने की प्रेरणा लेता है।

आत्म-चिन्तन में व्यस्त युक्तयोगी की मानसिक स्थिति प्रधानतः

चार प्रकार की अनुभव में आती है।

आत्म-चिन्तन में व्यस्त
युक्तयोगी की मानसिक
स्थितियाँ एवं योगनिष्ठ
होने की प्रेरणा

(9) युक्त योगी का चित्त समस्त भोगों से तो अनासक्त हो जाता है किन्तु आत्मा में आसक्त रहता है। अतः उसके सामने आत्मा का स्वरूप सदैव विद्यमान रहता है। ऐसा नहीं होता कि कभी आत्मा का भान हो और कभी न हो,

बल्कि उसका चित्त आत्मा के स्वरूप में इस प्रकार स्थिर रहता है जिस प्रकार कि वायु-रहित स्थान में प्रदीप्त दीपक की लौ स्थिर रहती है। भाव यह है कि जिस स्थान में वायु का स्पर्श इतना कम होने लगे कि शरीर की त्वचा को वायु का भान ही न हो तब प्रायः ऐसा कहा जाता है कि वह स्थान वायुरहित है। इसी प्रकार से युक्तयोगी का मन विषयभोगों से इतना अनासक्त हो जाता है कि योगी को मन की अस्थिरता का पता ही नहीं चलता। उसे तो ऐसा ही लगता है मानो कि उसका चित्त आत्मा में ही स्थिर है। यहाँ तू यह कह सकता है कि वायु तो कभी भी स्थिर नहीं रहती और जब मन वायु के सदृश है तो उसे भी स्थिर नहीं रहना चाहिए। अतः इस तथ्य को सूक्ष्म दृष्टि से तू इस प्रकार समझ कि मन की अस्थिरता इतनी सूक्ष्म हो जाती है कि उसका पता भी नहीं चलता। अतएव ऐसी स्थिति में उसे आत्मस्वरूप में स्थिर कहा जाता है। वस्तुतः जैसे वायु कभी भी पूर्ण रूप से स्थिर नहीं रहती ठीक उसी प्रकार से मन भी पूर्ण रूप से स्थिर कभी नहीं रहता। अस्तु, जब मन की अस्थिरता का पता न चले और वह स्थिर ही भान हो तब उस मन की स्थिति को 'मन की स्थिरता' कहते हैं। जिस प्रकार वायु रहित स्थान में जलते हुए दीपक की लौ डगमगाती नहीं है उसी प्रकार आत्मस्वरूप के चिन्तन में लगे हुए संयतचित्तयोगी की वृत्ति आत्मस्वरूप के अनुभव से

डगमगाती नहीं अर्थात् आत्मस्वरूप में स्थिर रहती है, ऐसी कही गई है।^१

(२) युक्त अर्थात् आत्मचिन्तन में व्यस्त योगी का चित्त योगाभ्यास से आत्मा में जब लगने लगता है तब स्वधर्म-पालन की स्थिति में भी उसका चित्त आत्मा में रमण करता रहता है। वह शरीर से तो कर्म करता हुआ प्रतीत होता है, किन्तु, वह आत्मा का साक्षात्कार करता रहता है और इस प्रकार आत्मा में निरन्तर रमण करने में उसे पूर्ण सन्तोष होता है। जैसे कि एक राज्यभक्त कर्मचारी अपने उत्तरदायित्व के व्यक्तिगत शासकीय कार्य को उत्तमता से करता है पर साथ ही वह सम्पूर्ण राज्य का कार्य कर रहा है, ऐसा मन में समझकर पूर्ण सन्तोष अनुभव करता है, अथवा तू यूँ कह कि जैसे एक माता का पुत्र विदेश से संध्या के छे बजे आ रहा हो तो वह माता घर के प्रत्येक कार्य को उस अवधि तक अच्छी तरह करती तो अवश्य दिखलाई देगी परन्तु उसका चित्त पुत्र की अगवानी में ही लगा रहेगा, वैसे ही युक्तयोगी अपने उत्तरदायित्व के कार्यों को तो उचित ढंग से करता है परन्तु, उसका चित्त आत्मा में रमण करता रहता है, अर्थात् वह आत्मा का साक्षात्कार कर सन्तुष्ट रहता है।

(३) आत्मचिन्तन में व्यस्त योगी को निरन्तर आत्मा में रमण करने से जो अत्यन्त सुख अर्थात् सदैव रहने वाला सुख अनुभव होता है वह सुख इन्द्रियजन्य क्षणभंगुर सुख जैसा नहीं होता। वस्तुतः, वह सुख इन्द्रियों के बूते के बाहर है। वह सच्चिदानन्द है जो केवल बुद्धि से ही ग्रहण किया जाता है। जब योगी इस अनन्त सुख की अनुभूति करने लगता है तब पुनः किसी भी अवस्था में वह उस सुख से विचलित नहीं होता। क्योंकि, उससे बढ़कर फिर और कोई सुख उसकी दृष्टि में होता ही नहीं है।

(४) आत्मचिन्तन में व्यस्त योगी आत्म-साक्षात्कार को ही सबसे बड़ा लाभ मानता है। उसकी दृष्टि में इससे बढ़कर अन्य

१. यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥१६॥

लाभ कोई है ही नहीं। परिणामतः उसे शारीरिक या मानसिक कितना ही भयंकर संकट क्यों न सहना पड़े, उसकी आत्मतत्त्व में संलग्न चित्तवृत्ति पर किसी प्रकार का भी विक्षेप नहीं आता। वह भयंकर से भी भयंकर दुःख से विचलित नहीं किया जा सकता। क्योंकि वह अपने को स्थूल व सूक्ष्मदेह से सर्वथा पृथक्, विकाररहित आत्मस्वरूप में स्थित रखता है।

वस्तुतः, आत्मस्वरूप में पूर्णतः स्थित हो जाना ही वह योग है जिसके द्वारा कैसे भी दुःख का संयोग क्यों न हो उसका वियोग हो ही जाता है। अतः इस योग को दुःखों के संयोग का वियोग समझना चाहिए। अतएव इस योग का अभ्यास अवश्य करना चाहिए। यदि अभ्यास के समय विघ्न उपस्थित हों तो उनसे घबराना नहीं चाहिए, बल्कि उन विघ्नों को दूर करते हुए अभ्यास करते ही रहना चाहिए। अतः इन दुःखों का अन्त कर देने वाले योग का अभ्यास दृढ़निश्चय से और प्रसन्नचित्त से करना प्रत्येक व्यक्ति का परमधर्म है। अस्तु, संक्षेप में, तू यूँ समझ कि जिस योग के अभ्यास से चित्त सर्वथा निरुद्ध होकर शान्त हो जाता है, और जिस योग के अभ्यास से मन, आत्मस्वरूप में अपनी स्थिरता को देखकर सन्तोष अनुभव करने लगता है^१; यद्यपि यह सन्तोष इन्द्रियों से न अनुभव होने वाला केवल बुद्धि ग्राह्य सुख है; और जिस योग के अभ्यास से ऐसे उपरोक्त सुख का अनुभव होता है, साथ ही जिससे योगाभ्यास में मन स्थिर हो जाता है और फिर तत्त्व से विचलित नहीं होता, अर्थात् आत्म-स्वरूप में स्थित होकर कर्म करते समय भी आत्म-स्वरूप से इधर-उधर नहीं भटकता;^२ और जिस योग को प्राप्त करके उससे अधिक और कोई लाभ नहीं समझता और जिसमें स्थित हुआ योगी बड़े भारी दुःख के आने पर

१. यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।

यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥२०॥

२. सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।

वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥२१॥

भी विचलित नहीं होता^१ और जिसमें योगी सांसारिक दुःख को स्पर्श नहीं करता, वस्तुतः, उसी स्थिति को योग कहते हैं। उस योग को जानना चाहिए और उसका अभ्यास न उकताये चित्त से, अर्थात् प्रसन्न चित्त से निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है।^२ हाँ, आत्म-चिन्तन में विघ्न डालने वाले विविध विचारों का परित्याग करना अत्यावश्यक है। क्योंकि, देखो अर्जुन, प्रत्येक व्यक्ति के मन में प्रति क्षण अनेक प्रकार के विचार सदैव आते जाते रहते हैं। विशेष कर जबकि कोई व्यक्ति एक लक्ष्य पर अपना ध्यान एकाग्र करता है तब ये विचार और अधिक प्रबलता से आक्रमण करते हुए प्रतीत होते हैं। अतः जब आसनाखड़ होकर साधक आत्म-चिन्तन का अभ्यास करता है तब उसको भी अपने पूर्वसंस्कार से पुष्टविचारों का सामना करना पड़ता है। इन विचारों को ज्यों-ज्यों साधक हटाना चाहता है त्यों-त्यों ही ये विचार और-और ही अधिक आने लगते हैं। अतः इन विचारों को हटाने की युक्ति भी साधक को आना चाहिए। तूने प्रायः अनुभव किया ही होगा कि एक ऐसा व्यक्ति है जो अपनी-अपनी बात को ही चलाने वाला है और जिसे एक तंग गली को शीघ्रता से पार करना है। किन्तु, संयोग से, उसी गली में से होकर एक कचरा गाड़ी भी धीरे-धीरे जा रही है। स्वभावतः वह व्यक्ति जब कचरा गाड़ी के निकट पहुंचेगा तब वह गाड़ी हाँकनेवाले से गाड़ी को एक और करके रुक जाने का कहेगा जिससे कि वह आसानी से निकल सके। यदि गाड़ीवान् उस व्यक्ति की बात ही नहीं सुनता तो वह व्यक्ति उससे झगड़ने लगेगा। तब गाड़ीवान् भी अन्त में झुँझलाकर उसे यह कहे बिना नहीं रहेगा कि 'श्रीमान्जी' गली सरकारी है, केवल आपके लिए ही नहीं है। यदि आपको असुविधा है तो आप ही थोड़ी देर रुक जाइये, मैं गाड़ी निकाल ले जाऊँ तब चले जाना।" इस प्रकार उस व्यक्ति को शीघ्र

१. यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।

यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥२२॥

२. तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।

स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥२३॥

जाने की अपेक्षाकृत देर ही और, हो जावेगी। साथ ही उसका चित्त भी खिन्न हो जावेगा। अब एक दूसरा अन्य व्यक्ति है जो समयानुसार कर्म किया करता है। संयोग से, यह व्यक्ति भी उसी गली में से शीघ्र जाना चाहता है। जब वह अपने सामने कचरा गाड़ी को जाते हुए देखता है तब वह गाड़ीवान् से तो कुछ नहीं कहता किन्तु, स्वयं गली के एक किनारे से कुछ सटकर जल्दी-जल्दी चलकर गाड़ी के आगे निकलना चाहता है। ऐसी स्थिति में गाड़ीवान् स्वयं ही गाड़ी को थोड़ी देर रोक लेगा और उसे निकल जाने देगा। यह दूसरा व्यक्ति जानता है कि सरकारी गली एक व्यक्ति की नहीं होती, बल्कि वह जनसाधारण के उपयोग की होती है। गली में आने-जाने से रोकने का उसे अधिकार नहीं। प्रेम से भले ही कोई एक दूसरे का सहायक हो जावे। इस विचारधारा से गली पार करने में दूसरे व्यक्ति को न तो देर लगती है और न मानसिक खिन्नता आती है। अस्तु, आत्म-चिन्तन का अभ्यास करने वाले योगी को भी यह जानना चाहिए कि उसकी श्वास के साथ त्रिगुणात्मक विचारों का आना स्वाभाविक है क्योंकि वायुमण्डल में, जहाँ से वह श्वास लेता है विचारों की तरंगें भरी हैं। इन पर रोक लगाने का न तो उसे अधिकार है और न उसमें रोक लगाने की सामर्थ्य है। अतः उसे अपने मस्तिष्क के अन्दर उठने वाले विचारों में उलझना नहीं चाहिए। विचारों का मस्तिष्क में उठना स्वाभाविक है। यदि साधक यह सोचेगा कि अमुक विचार क्यों आये और वह उन्हें नहीं आने देगा तो साधक आत्म-चिन्तन का अभ्यास करने की अपेक्षा उन विचारों में ही उलझ जावेगा। अतएव उसको तो यही ध्यान रखना चाहिए कि विचार तो उठते ही रहेंगे। भगवान् की वायु रूपी सड़क पर चलती हुई विचार-लहरों को रोकने का अधिकार किसी व्यक्ति को नहीं। हाँ, इतना अवश्य है कि यदि कोई इन विचारतरंगों पर ध्यान न दे तो वे फिर उससे बलपूर्वक चिपटती नहीं। वे अपने मार्ग से आती-जाती रहेंगी और साधक अपने मार्ग से चलता रह सकता है। अस्तु, विवेचन से अर्जुन, तुझे स्पष्ट हो गया होगा कि साधक को अपनी धुन में ही रहना चाहिए। विचारों से केवल अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लेना आवश्यक है। उन्हें रोकने की आवश्यकता नहीं।

अतः साधक बाह्य वायु-मण्डल में व्याप्त समस्त कामनाओं अर्थात्

संकल्पों के भोगों से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर ले। साथ ही मन के द्वारा अपनी इन्द्रिय-समूह को अच्छी प्रकार से अवगत करा दे कि आत्मा में स्थित रहने ही में सर्वाधिक सुख एवं शान्ति आती है। इस प्रकार समझाकर अर्थात् मन को दृढ़ करके यानी इन्द्रियों को इधर-उधर कहीं भी जाने से रोककर धैर्य युक्त बुद्धि से धीरे-धीरे शान्ति को प्राप्त होकर मन को आत्मा में लगा दे और कुछ भी न सोचे अर्थात् आत्म-चिन्तन का ही अभ्यास करें।

हाँ, पूर्वसंस्कार से जब भी मन ऊबने लगे तब ही धैर्य धारण कर बुद्धि द्वारा मन को पुनः आत्म-चिन्तन के महत्व को समझाकर अभ्यास में प्रवृत्त करा देना चाहिए। इस प्रकार साधक को उचित है कि वह आत्म-चिन्तन पर ही पूरा-पूरा ध्यान रखे। अन्य विचारों के सम्बन्ध में उसको लेशमात्र भी ध्यान नहीं देना चाहिए। सत्य ही, इस रीति से मन को आत्म-चिन्तन-अनुरागी बना देना उचित है। अस्तु, साधक का धर्म है कि यह इधर-उधर भटकने वाला अस्थिर मन जहाँ-जहाँ भी बाहरी विषयों की ओर जाने का प्रयास करे वहाँ-वहाँ से उसे रोककर आत्मा के ही वशीभूत करे।^१ ऐसा करने से मन आत्म-चिन्तन-अनुरागी बन जाता है। परिणामतः साधक पूर्ण-शान्ति का अनुभव करता है। रजोगुणी विक्षेप, जो साधक को फलेच्छा से कर्म करने का प्रवृत्त किया करते थे, अब वे भी आत्म-चिन्तन में उसको बाधा नहीं डालेंगे अर्थात् वे भी पूर्णतः शान्त हो जावेगे। वस्तुतः, आत्म-भाव में स्थित हो जाने से साधक पाप-मुक्त हो जाता है। इतना ही नहीं, वरन्, चूँकि आत्मा एक ही रूप में सर्वत्र व्याप्त है अतः आत्मा में स्थित रहने वाला साधक भी एक ही रूप में अपने को

१. संकल्पप्रभवान्कामास्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥२४॥
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥२५॥
२. यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥२६॥

सर्वत्र व्याप्त हुआ अनुभव करता है अर्थात् ब्रह्मभूत हो जाता है अथवा तू यूँ कह कि 'यह सब कुछ ब्रह्म ही है' ऐसे निश्चयवाला हो जाता है। निस्सन्देह, प्रशान्तमन, रजोगुण रहित यानी 'मैं पन' से रहित अर्थात् पाप-मुक्त ब्रह्मरूप हुए योगी को आत्म-स्वरूप में स्थित रहने से सर्वोत्तम सुख यानी पूर्णशान्ति मिल जाती है।'

सत्य ही, ऐसा योगाभ्यासीयोगी पापों से मुक्त होकर अर्थात् कर्तृत्व भावना से रहित होकर, ब्रह्म में यानी आत्म-स्वरूप में स्थित होने के कारण ब्रह्म-संयोग के अतीव सुख को आनन्दपूर्वक उपभोग करता है।^१ हाँ, योगारूढ़ हुआ कर्मयोगी समाहितचित्त से लोक-संग्रह का काम यदि जीवन पर्यन्त भी करना चाहे तो कर सकता है और आत्म-स्वरूप में स्थित होने के अनन्त सुख को भी सहज भाव से निरन्तर अनुभव कर सकता है। क्योंकि, कर्म के शुभाशुभ परिणाम से उसने अपना सम्बन्ध हटा लिया है। अस्तु, उसे निर्द्वन्द्व होकर निर्विघ्न रूप से लोक-शिक्षण का कार्य, पूर्ण मनोयोग से करने में कोई कठिनाई अनुभव नहीं होती। अब मैं तुझे यह भी स्पष्ट कर देना उचित समझता हूँ कि योगारूढ़ हुआ कर्मयोगी समाहितचित्त से 'यह सब ब्रह्म है' अथवा 'उसकी ब्रह्म के साथ एकता है' इसका निश्चय किस प्रकार करता है और उसका परिणाम क्या होता है।

देखो अर्जुन, चित्त के विक्षेप से रहित और प्राणीमात्र को समभाव से देखनेवाला योगी वस्तुतः, एक ही आत्मतत्त्व को प्राणीमात्र में व्याप्त

समाहितचित्त योगारूढ़
कर्मयोगी की ब्रह्म के साथ
एकता तथा उसका परिणाम

हुआ अनुभव करता है। जैसे कि एक ही वायु जो ब्रह्माण्ड में है प्रत्येक प्राणी के अन्तर्गत भी विद्यमान है अर्थात् प्राणीमात्र में व्याप्त है। इसी प्रकार योगारूढ़

कर्मयोगी सम्पूर्ण प्राणियों की एक ही आत्मा के अन्तर्गत विद्यमान अनुभव

१. प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥२७॥
२. युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥२८॥

करता है, अथवा तू इसी तथ्य को यूँ समझ जैसे कि एक चने के दाने के भीतर चने का झाड़, उसकी घँटियाँ और उनमें भरे हुए अनेक चनों के झाड़ में चने के दाने, हाँ, आँख से देखने पर ऐसा प्रत्यक्ष दिखलाई नहीं देता किन्तु, चने के दाने को मिट्टी में डाला जावे और उसको खाद-पानी दिया जावे तो चने का झाड़ आदि सब को प्रत्यक्ष दिखलाई दे सकता है, वैसे ही योगी, आत्मा में प्राणीमात्र को और प्राणीमात्र में आत्मा को देखता है। योगी के इस प्रकार से आत्मा के देखने को ही वस्तुतः, आत्मा और ब्रह्म की एकता कही जाती है। अतः जो योगी आत्मा को प्राणीमात्र में देखता है और प्राणीमात्र को आत्मा में देखता है उसके लिए आत्मा का दर्शन सदैव होता रहता है अर्थात् आत्मा उससे अदृश्य नहीं है। अस्तु, जो व्यक्ति योगारूढ़ हो गया है उसकी दृष्टि में भेद नहीं रहता यानी समता आ जाती है और उसे ऐसा अनुभव होने लगता है कि वह प्राणीमात्र में विद्यमान है और प्राणीमात्र उसमें स्थित है।^१ सत्य ही जो मुझको अर्थात् मेरे परमात्मभाव की सब स्थानों में स्थित अनुभव करता है और सबको यानी सबके परमात्मभाव को मुझ में यानी मेरे परमात्मभाव में स्थित अनुभव करता है, उससे मैं कभी नहीं पृथक् होता और न वह भी मुझ से कभी पृथक् होता है।^२ वस्तुतः, जो योगी आत्मा और ब्रह्म की एकता का भाव रखते हुए सम्पूर्ण प्राणियों में स्थित आत्मतत्त्व का ध्यान रखता है वह योगी लोक-संग्रह के निमित्त प्रत्येक कार्य को करता हुआ भी अपने मन को आत्मतत्त्व में स्थित रख सकता है। क्योंकि, उसके अनुभव में आत्मतत्त्व के अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं। अस्तु, जो योगारूढ़ हुआ कर्मयोगी एकत्वभाव में स्थित होकर अर्थात् अपनी और ब्रह्म की एकता

१. सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।

ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥२६

२. यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥३०॥

का अनुभव करके समस्त प्राणियों में स्थित मुझे यानी मेरे परमात्माभाव को भजता है या यूँ कह कि मुझे स्मरण करता है वस्तुतः, वह ऐसा अनुभव करता है कि वह सब प्रकार से वर्तता हुआ भी अर्थात् चाहे वह मेरा स्मरण करता हो अथवा लोक-हितार्थकर्म करता हो, प्रत्येक स्थिति में वह मुझ में ही वर्तता है अर्थात् वह मेरे परमात्माभाव में स्थित है। सत्य ही, ऐसा समाहितचित्तयोगी, प्रत्येक प्राणी के दुःख को अपना दुःख और प्रत्येक प्राणी के सुख को अपना सुख मानता है। भाव यह है कि वह किसी भी व्यक्ति के चित्त को दुःखी नहीं करता। वस्तुतः, प्राणीमात्र का हितैषी और साथ ही समाहितचित्तयोगी, योगियों में परम उत्कृष्ट माना जाता है। अस्तु, हे अर्जुन, जो योगी यह अनुभव करता है कि जैसे उसे सुख-दुःख अनुभव होता है वैसे ही समस्त प्राणियों को भी सुख-दुःख होता है और यही दृष्टिकोण जो सर्वत्र रखता है वह योगी ही परम उत्कृष्ट माना गया है अर्थात् उसने योग की अन्तिम सीमा प्राप्त करली है।^२ *यह सुनकर अर्जुन ने भगवान् से पूछा कि 'हे मधुसूदन! यह जो समता से योगाभ्यास करने की विधि आपके द्वारा कही गई है उसे व्यवहार में लाना मुझे कठिन मालूम होता है। वस्तुतः हे श्रीकृष्ण ! मन की गति अत्यन्त चञ्चल है। अतः मन अधिक समय तक एकाग्र नहीं

१. सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।

सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥३१॥

२. आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।

सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥३२॥

*स्मरण रहे कि श्रीकृष्ण भगवान् के द्वारा उपरोक्त समत्वभाव से योगाभ्यास करने का अर्थात् मन की एकाग्रता द्वारा अन्तःकरण को शुद्ध कर आत्मा का साक्षात्कार करने का उपदेश अर्जुन को जब युद्ध स्थल में स्मरण हो आया तब उसे यह भी स्मरण हो गया कि भगवान् के उपदेश को श्रवण कर उसने, उस प्रकार योगाभ्यास करने को कठिन बतलाया था। अस्तु, वेदव्यासजी, अर्जुन से प्रश्न कराते हैं।

रह सकता। इतना ही नहीं वरन् यह मन, इन्द्रियों के सहयोग से सब शरीर में उथल-पुथल मचा देने वाला बड़ा शक्तिशाली और हठी है। इन्द्रियाँ सहज ही में उसके वशीभूत हो जाती हैं और साधक को अनायास ही लक्ष्य भ्रष्ट कर सकती हैं। अतः जिस प्रकार वायु को वश में नहीं किया जा सकता उसी प्रकार मेरे विचार में मन का भी निरोध करना अर्थात् एकाग्र करना कठिन है।^{*} तब भगवान् कहते हैं कि 'देखो अर्जुन, यह मुझे भी मान्य है कि वस्तुतः, मन बड़ा ही चंचल है और बड़ी कठिनाई से वश में आता है। किन्तु, अभ्यास की शक्ति भी बड़ी विशाल है। एक क्रिया को बारम्बार करने से यद्यपि आरम्भ में तो अड़चन अनुभव होती है परन्तु, धीरे-धीरे मन पर उसका प्रभाव पड़ने लगता है। जब मन पर उसका पूरा-पूरा प्रभाव पड़ जाता है तब वह उसी प्रकार उस क्रिया का आचरण करने लगता है जिस प्रकार कि एक व्यक्ति जो दोपहर को स्नान करने का आदी है और अब, यदि वह चाहता है कि प्रातः चार बजे स्नान किया करे, हाँ, यदि वह व्यक्ति दृढ़ प्रतिज्ञा है और प्रारम्भिक अड़चनों को सहता हुआ दैनिक ही चार बजे प्रातः स्नान करने का क्रम एक वर्ष पर्यन्त चालू रखे तो फिर उसे प्रातः चार बजे स्नान करना उतना ही सरल हो जावेगा जितना कि उसे पहले दोपहर को स्नान करना सरल लगता था।

इसी प्रकार से एक व्यक्ति ऐसा अभ्यास करता है कि उसका पुत्र वस्तुतः, उसका पुत्र नहीं है वह तो केवल अनन्त जीवों में से उसी के जैसा एक जीव है और उसके जैसा ही कर्मानुसार अपना अभिनय करने

१. अर्जुन उवाच - योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।

एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्॥३३॥

चञ्चल हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।

तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥३४॥

*भगवान् ने अर्जुन की निराशा दूर कर उसे धैर्य दिलाया था उसी प्रकरण को व्यासजी अब भगवान् के ही श्रीमुख से व्यक्त कराते हैं।

आया है। इस विचारधारा को पुष्ट करने के लिए यदि वह व्यक्ति सच्चाई से कुछ समय तक नित्य ही बैठकर मनन करता है और जब-जब भी उसे अपने पुत्र से व्यवहार करने का प्रसंग आता है तब-तब ही वह उसे अपने मन में पुत्र न मानकर एक जीव ही समझकर व्यवहार करता है तो शनैः-शनैः यह संस्कार भी उसके मन पर पड़ जावेगा। दो चार वर्ष के अभ्यास से उस व्यक्ति को अपना पुत्र सचमुच ही एक जीव के रूप में ही अनुभव होने लगेगा, यद्यपि बाह्य आचरण से भले ही वह उसे पुत्र ही क्यों न कहा करे। अस्तु, रंगड़ (अभ्यास) अमोघ अस्त्र है। पत्थर पर भी चित्र अंकित हो जाते हैं, मानव के कोमल मस्तिष्क की तो बात ही क्या है।

अतः हे अर्जुन, विवेचन से स्पष्ट है कि त्रिगुणात्मक माया के प्रति अनासक्ति और आत्मा के प्रति अनुराग की विचारधारा के बारम्बार मनन करते रहने और दैनिक व्यवहार में भी वैसा मानने से शनैः-शनैः मस्तिष्क पर वैसा प्रभाव पड़ जावेगा तो स्वयमेव त्रिगुणात्मकमाया से वैराग्य और आत्मा से अनुराग हो जावेगा अर्थात् आत्मसाक्षात्कार नित्य ही होता रहेगा। इतना ही नहीं वरन् लोक-संग्रह के कर्म करते समय भी वैसा ही मानसिक संतुलन बना रहेगा। अस्तु, हे अर्जुन, इसमें सन्देह नहीं कि मन चञ्चल है और कठिनाई से वशीभूत किया जाने वाला है परन्तु, हे कुन्ती के पुत्र, अभ्यास और वैराग्य से उसको वश में किया जाता है।' पर जिस व्यक्ति का मन वशीभूत नहीं हुआ है अर्थात् जिसका इन्द्रियों पर भली प्रकार अधिकार नहीं हुआ है एवं जो राग-द्वेष के वशीभूत है, साथ ही जिसमें 'मैं पन' की भावना है अर्थात् जिसका अन्तःकरण अशुद्ध है ऐसे मन को वश में न करने वाले असंयतात्मना व्यक्ति यदि आत्मानुरागी बनना चाहते हैं और वे योगाभ्यास करते हैं तो उनके लिए योगाभ्यास करना अत्यन्त कठिन है। किन्तु, जिस व्यक्ति ने अभ्यास के द्वारा अपने मन को त्रिगुणात्मकमाया से अनासक्त कर लिया है एवं बारम्बार यत्नपूर्वक मन को आत्मानुरागी बनाने के अभ्यास का व्रत ले

-
9. श्रीभगवानुवाच - असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥३५॥

लिया है, वह व्यक्ति ही निश्चयात्मक रूप से आत्मानुरागी बनकर पूर्ण शान्ति का अनुभव कर सकता है अर्थात् सिद्ध हो सकता है। अस्तु, ऐसे व्यक्ति के द्वारा योग को प्राप्त करना अर्थात् योगाभ्यास करना बहुत कठिन है जिसने मन को वशीभूत नहीं किया है, किन्तु जिसने मन को स्वाधीन कर लिया है और जो निरन्तर प्रयत्नशील है ऐसा व्यक्ति यदि उपाय करता है, अर्थात् आत्मानुरागी होना चाहता है तो उसके लिए मेरे सत से योग का पा लेना सम्भव है।'

*इस पर अर्जुन ने पूछा कि "हे भगवन्, यदि कोई साधक अत्यन्त श्रद्धा से योगाभ्यास करना आरम्भ तो कर दे किन्तु, मन को एकाग्रकर आत्म-चिन्तन का जितना चाहिए उतना प्रयत्न उससे न हो सके और इसी अवस्था में कहीं उसका शरीर भी छूट जावे तो वह योग से विचलित मनवाला साधक किस गति को प्राप्त होता है?" क्योंकि योग-भ्रष्ट साधक अब ऐसी स्थिति में फँस गया है कि उसने ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करने का आचरण त्यागकर आत्म-साक्षात्कार करते हुए कर्म करना आरम्भ कर दिया है। अस्तु, वह ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करने वाले योगी की गति को प्राप्त हो ही नहीं सकता क्योंकि, उसका आचरण तो उसने त्याग ही दिया है और अब चूँकि आत्म-साक्षात्कार करते हुए कर्म करने का आचरण भी उसका अधूरा ही है, अतः वह साधक योगारूढ़ सिद्धयोगी की गति को भी प्राप्त करने का अधिकारी नहीं है

१. असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।

वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥३६॥

भगवान् के इस उपदेश को कि अभ्यास द्वारा मन एकाग्र किया जा सकता है मनन करते ही अर्जुन को स्मरण हो रहा है कि उसने भगवान् से पुनः एक प्रश्न किया था उसी प्रश्न को अब व्यास जी अर्जुन के मुख से कहला रहे हैं। अस्तु

२. अर्जुन उवाच - अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।

अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥३७॥

अर्थात् उसका पूर्व आश्रय भी छूट गया और आत्म-साक्षात्कार के अभ्यास में भी वह सिद्ध नहीं हो सका है। ऐसी स्थिति में कहीं ऐसा तो नहीं होता कि वह अब कहीं का नहीं रहता। दोनों ओर से भ्रष्ट हो जाता है, अर्थात् न तो ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करने वाले कर्मयोगी की और न योगारूढ़ हुए सिद्धयोगी की गति पाता है। जैसे कि एक बादल के बड़े भाग से उसका एक छोटा भाग वायु के कारण अलग हो जावे तो न तो वह अपने बड़े भाग से पुनः मिल पाता है और न वह अपना ही पृथक् अस्तित्व रख पाता है, अर्थात् दोनों ओर से ही भ्रष्ट हो जाता है। इस प्रकार से आत्म-साक्षात्कार के मार्ग से भ्रष्ट, और अपनी गति के सम्बन्ध में विमूढ़ हुआ चित्तवाला साधक किस गति को प्राप्त होता है? अस्तु, हे महाबाहो, क्या ब्रह्म के मार्ग में भूला हुआ और आश्रय रहित व्यक्ति पृथक् हुए बादल की भांति दोनों ओर से भ्रष्ट होकर नष्ट तो नहीं हो जाता?' इस सम्बन्ध में आपका क्या मत है?

वस्तुतः, हे श्रीकृष्ण, आपके सिवाय मुझे ऐसा व्यक्ति मिलना असम्भव है जो मेरे इस संशय को निवारण कर सके। अतः आप ही मेरे इस संशय को पूर्णतः निवारण करने में समर्थ हैं।”^२

*तब भगवान् ने कहा कि देखो अर्जुन, उस योगभ्रष्ट साधक की साधना का न तो उसके जीवनकाल में और न उसके जीवन के उपरान्त भी नाश होता है। क्योंकि कोई भी व्यक्ति जो कल्याणकर्म

१. कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।

अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि॥३८॥

२. एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।

त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते॥३९॥

*अर्जुन की शंका का जिस प्रकार भगवान् ने समाधान किया था उस प्रकरण का भी अब अर्जुन को स्मरण होने लगा है जिसे व्यास जी भगवान् के ही श्रीमुख से कहला रहे हैं। अस्तु

यानी शुभकर्म का आचरण करता है उसकी कभी दुर्गति (अशुभगति) नहीं होती।'

वस्तुतः मानव के पास शुभाशुभ कर्मों की पूँजी होती है और उस पूँजी के अनुसार ही मानव अपनी क्रय-शक्ति का उपयोग करता है। जितनी क्रय-शक्ति होती है उसी के ही अनुसार जन्म रूपी पदार्थ क्रय करता है, अर्थात् मानव में कर्मानुसार ही जन्म लेने की प्रवृत्ति होती है। जैसे कि एक बजाज (कपड़े के व्यापारी) की दुकान में अनेक धोतियाँ विभिन्न मूल्यों की विक्रय हेतु रखी हुई हैं। जो ग्राहक जितने मूल्य की धोती लेना चाहता है वह उतने ही मूल्य की धोती क्रय करेगा। जिसकी शक्ति दस रुपये की धोती लेने की है वह पच्चीस रुपये की धोती नहीं क्रय कर सकता है। वैसे ही जीव अपने कर्मानुसार ही जन्म लिया करता है। जिस कर्म में अभिरुचि रखते हुए वह शरीर छोड़ता है वह उसी अपनी रुचि के अनुसार रुचि रखने वाले परिवार के गृह में ही जन्म लेता है। क्योंकि वहाँ उनकी रुचि की पूर्ति हो सकती है। सत्य ही, तूने अनुभव किया ही होगा कि एक व्यक्ति सोते समय जिस काम को दूसरे दिन करने का विचार करके सोता है तो दूसरे दिन, निद्रा से उठते ही, उसी काम का उसे स्मरण हो आता है, वैसे ही मृत्यु को भी तू लम्बी निद्रा मान। लम्बी निद्रारूपी मृत्यु के अन्त होने पर जन्म लेते ही जिस संकल्प का स्मरण व्यक्ति को मृत्यु के पूर्व था उसी संकल्प का उसे पुनः स्मरण हो आता है। हाँ, संकल्प का स्पष्ट भान उस समय होता है जबकि जन्म के उपरान्त शिशु को अपने हिताहित का भान होने लगता है। अतः मृत्युकाल से पुनर्जन्म के उपरान्त शिशु को हिताहित भान होने तक की अवधि को तुझे लम्बी निद्रा का समय समझना चाहिए। अस्तु, योगभ्रष्ट साधक भी जिसका अभ्यास चित्त की चंचलता के कारण अधूरा रह गया है, वह उसी परिवार में जन्म लेगा जहाँ मृत्यु के समय अपनी कामनापूर्ण करने को उसका चित्त रमा हुआ था। अतएव शुभ (पुण्य) कर्म करने के फल को चाहने वाला साधक शरीर के छूट जाने पर

-
9. श्रीभगवानुवाच - पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति॥४०॥

उस परिवार में जन्म लेगा जिसका जीवन पुण्य कर्मों में लगा है। क्योंकि, वहीं उसे अपने पुण्य-फलों की प्राप्ति की सम्भावना हो सकती है। अतः बहुत वर्षों तक अर्थात् जब तक उसकी मनोकामना की पूर्ति न हो जावे वह पुण्यवान् व्यक्ति के साधारण जीवन (लोक) को ही भोगेगा। किन्तु, आकांक्षा की तृप्ति के उपरान्त उस साधक के पूर्वजन्म के योगाभ्यास के संस्कार पुनः उदय होंगे; और वे उसे ऐसा जीवन व्यतीत करने के लिए लालायित करेंगे जिसमें वह भोगों को भी भोग सके साथ ही योगाभ्यास का कार्यक्रम भी थोड़ा बहुत कर सके। अतः वह साधक जो अब पुण्यवान् व्यक्ति का यानी फल की इच्छा से शुभ कर्म करने वाले का जीवन व्यतीत कर रहा है, वही वर्षों तक भोग-भोगकर आयु पूर्ण होते ही शरीर को छोड़ेगा तो अब योगाभ्यास के संस्कार जागृत होने से वह पवित्र आचरण करने वाले यानी कर्तृत्वभावना से रहित धनवान् (सम्पन्न) व्यक्ति के घर में जन्म लेगा। जहाँ उसकी योगाभ्यास में प्रवृत्ति अधिक होने लगेगी। साथ ही सम्पन्न घराने में जन्म होने से सांसारिक भोग स्वाभाविक रूप से उसे प्राप्त हो सकेंगे। अतः उनकी प्राप्ति की अब उसे इच्छा नहीं रहेगी। अस्तु, स्पष्ट है कि कामनापूर्ति के निमित्त से योगभ्रष्ट हुआ साधक सकामी पुण्यवान् व्यक्ति का जीवन पाता है और बहुत वर्षों तक अर्थात् आकांक्षा की पूर्ति होने तक जीवित रहता है। आकांक्षा की तृप्ति होते ही शरीर छूटने के समय उसके योगाभ्यास के पूर्व संस्कार पुनः जागृत हो जाते हैं। अतः वह अब शुद्ध आचरण करने वाले श्रीमान् पुरुषों के परिवार में अर्थात् शुद्ध अन्तःकरण वाले सम्पन्न कुटुम्ब में (कर्तृत्व-भावना से रहित सम्पन्न परिवार में) जन्म लेता है। चूँकि सम्पन्न परिवार में जन्म होने से भोगों की प्राप्ति तो स्वाभाविक होती ही है, अतः उनके लिए उसे लालायित होने की किंचित् भी आवश्यकता नहीं प्रतीत होगी। साथ ही योगाभ्यास में प्रवृत्ति उत्तरोत्तर अधिक होने लगेगी। संक्षेप में, तू यूँ समझ कि योगभ्रष्ट व्यक्ति पुण्यकर्म करने वाले लोगों के यहाँ जन्म लेकर, और वहाँ वर्षों तक रहकर फिर शुद्ध संस्कारी, धनवालों के घर में जन्म लेता है। हाँ, यदि

-
9. प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥४९॥

कोई योगभ्रष्ट साधक योगारूढ़ होकर यानी सिद्ध होकर लोक-संग्रह के हेतु कर्म करते हुए कभी अपनी अधिक प्रशंसा अथवा अपमान को सुनाकर कर्तृत्व-भावना के वशीभूत हो जाय अर्थात् अहंकार के कारण उसके चित्त में चञ्चलता आ जावे और उस स्थिति में हो उसका कहीं शरीर छूट जावे तो वह योगभ्रष्ट योगी बुद्धिमान योगियों के कुल में जन्म लेता है। निस्सन्देह, इस प्रकार योगभ्रष्ट साधक का बुद्धिमान योगी के कुल में जन्म लेना एक असाधारण बात अवश्य है। क्योंकि, कभी बिरला ही कोई योगभ्रष्ट योगी ऐसा होता है जो सिद्ध होकर के भी अहंकार के आधीन हो जावे। संक्षेप में, योगभ्रष्ट व्यक्ति या तो संस्कारी धनवानों के घर जन्म लेता है अथवा बुद्धिमान् योगियों के घर में जन्म लेता है, परन्तु इस प्रकार का बुद्धिमान् योगियों के घर जन्म लेना इस संसार में, सत्य ही, बहुत ही दुर्लभ है।^१

वस्तुतः जो योगभ्रष्ट साधक बुद्धिमान् योगी के कुल में जन्म लेता है वहाँ वह अनुकूल वायु-मण्डल से प्रभावित हो जाता है और पूर्वजन्म की अभ्यस्त समत्वबुद्धि की साधना के उसके संस्कार प्रबल होने लगते हैं अर्थात् वहाँ पूर्वशरीर के द्वारा किए गये अभ्यास की उसकी बुद्धि जाग्रत हो जाती है। फलतः वह तदनुकूल आचरण करने लगता है और फिर, हे कुरुनन्दन, योग की पूर्णसिद्धि के लिए प्रयत्न करता है।^२

निस्सन्देह, अब वह भली प्रकार से ऐसा अभ्यास करता है कि वह निर्विघ्न रूप से योगारूढ़ सिद्धि को प्राप्त हो सके। चूँकि इस योगभ्रष्ट योगी का पूर्वजीवन में योगाभ्यास लगभग पूर्ण हो ही गया था, अतः उस योगाभ्यास के संस्कार उसे पुनः वैसा ही अभ्यास करने के लिए विवश कर देते हैं अर्थात् उसका चित्त

१. अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।

एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥४२॥

२. तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।

यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥४३॥

योगाभ्यास की ओर सहज ही आकर्षित होने लगता है। इस प्रकार से यह योग का जिज्ञासु, योगभ्रष्ट योगी भी शब्दब्रह्म (प्रकृति) के प्रभाव से मुक्त हो जाता है, अर्थात् प्रकृति से उत्पन्न अहंभाव को प्राप्त नहीं होता है।^१ सत्य ही, अब उसमें कर्तृत्व-भावना लेशमात्र भी नहीं रहती। वह प्रकृति से परे आत्मतत्त्व में स्थिर हो जाता है।

वस्तुतः योगारम्भ करने वाले साधक को योगाभ्यास के लिए अनेक जन्म भी धारण करना पड़ते हैं। जब अनेक जन्मों के अभ्यास से उसके पाप धुल जाते हैं अर्थात् जब वह कर्तापन के भाव से मुक्त हो जाता है तब कहीं वह योगारूढ़ सिद्धयोगी की स्थिति को समझने लगता है। ऐसा बुद्धिमान् योगी भी लोक-संग्रह के हेतु कर्म करते हुए जब कभी अहंभाव के वशीभूत होकर चित्त की चञ्चलता के कारण योगभ्रष्ट हो जाता है तब वह बुद्धिमान् सिद्धयोगी के कुल में जन्म लेता है और प्रयत्नपूर्वक साधना करके (मन को एकाग्र कर आत्म-साक्षात्कार करके) पुनः परमगति को प्राप्त हो जाता है अर्थात् पुनः योगारूढ़ हुआ शुद्ध अन्तःकरण वाला सिद्धयोगी हो जाता है।^२

देखो अर्जुन, इस प्रकार से मन को एकाग्रकर समत्वबुद्धि से साधक, लोक-शिक्षण का कार्य निर्विघ्न रूप से करने की क्षमता-प्राप्त कर लेता है। वस्तुतः, ऐसे योगारूढ़ सिद्ध साधक को योगी कहते हैं। ऐसा योगी उन तपस्वियों से श्रेष्ठ है जो उग्र तप करने में तो लगे हैं किन्तु, समत्वबुद्धि रखने के अभ्यासी नहीं हैं। इसी प्रकार वह उन ज्ञानियों से भी श्रेष्ठ है जो केवल शास्त्रीय ज्ञान तो रखते हैं परन्तु, लोक-शिक्षण के कार्यों में समत्वबुद्धि का प्रयोग नहीं करते। वैसे ही उन कर्म-योगियों से भी वह योगी श्रेष्ठ है, जो ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म तो करते हैं, परन्तु जिनमें कर्तृत्व की भावना का पूर्णतः लोप अभी नहीं हुआ है। संक्षेप में, तू यूँ समझ कि योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ है, ज्ञानियों से भी श्रेष्ठ है, और कर्मयोगियों से

१. पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥
२. प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥

भी श्रेष्ठ है, इसलिए हे अर्जुन, तू योगी हो।^१

वस्तुतः लोक-शिक्षण का कार्य भी समत्वबुद्धि से वही कर सकता है जो योगी हो। क्योंकि मेरी दृष्टि में सब योगियों में अतिशय श्रेष्ठयोगी वह है जो आत्म-स्वरूप में इसी प्रकार स्थित है जैसे कि मैं स्थित हूँ, जैसे मैं त्रिगुणात्मक वैष्णवीशक्ति को कर्म का कर्ता मानता हूँ, वैसे ही वह भी वैष्णवीशक्ति को ही कर्म का कर्ता मानता है। जैसे मैं कर्तृत्व भावना से पूर्णतः रहित होकर लोक-संग्रह के कर्मों में समबुद्धि से संलग्न रहता हूँ, उसी प्रकार वह भी कर्तृत्व-भावना से पूर्णतः रहित होकर लोक-शिक्षण के कर्मों में समबुद्धि से संलग्न रहता है। जैसे मैं सब कुछ करते हुए भी आत्मा में ही रमण करता हूँ और सदैव सन्तुष्ट रहता हूँ, वैसे ही वह भी आत्मा में ही रमण किया करता है और सदैव सन्तुष्ट रहता है। चूँकि वह मेरे सिद्धान्त का जानकार है एवं उसी का अनुयायी है अतः वह मेरा श्रद्धालु भक्त है और मेरी अभिरुचि के अनुसार ही वह लोक-संग्रह का कार्य करता है। वस्तुतः वह मुझे ही सर्व प्रकार से भजता है एवं मुझमें पूर्णविश्वास रखता है, अतएव वह मेरा अत्यन्त प्रिय भक्त है। अस्तु, जो भक्त श्रद्धालु है, जिसका मन मुझ में लगा है और जो मुझको भजता है अर्थात् मेरे लिए ही सब कुछ करता है वह सब योगियों में भी परमश्रेष्ठ है, ऐसा मेरा मत है।^२

ॐ शम्

-
१. तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥४६॥
 २. योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥४७॥



महात्मा श्री नारायणदास जी प्रणीत ग्रन्थ

1. गीतामृत (जीवन यापन की कला)
(प्रथम भाग अध्याय 1 से 6)
2. गीतामृत (जीवन यापन की कला)
(द्वितीय भाग अध्याय 7 से 12)
3. गीतामृत (जीवन यापन की कला)
(तीसरा भाग अध्याय 13 से 18)
4. रामचरित मानस के 10 प्रसंग
5. रामचरित मानस के 10 रहस्य
6. साधक शंका समाधान
7. साधक प्रश्नोत्तर शतक (प्रथम)
8. साधक प्रश्नोत्तर शतक (द्वितीय)
9. साधक विचार प्रगति
10. साधक साधना (भजन)
11. जैसे मैंने सीखा
(अनुभूति से पूर्व की मेरी जीवन घटनायें)
12. कुण्डलिनी (व्यक्तिगत अनुभव)
13. आत्मबोध
14. Realisation of the Self (English)
15. साधना
16. स्वशक्ति साधना का संक्षिप्त परिचय
17. दिव्यशक्ति बोध (भजन)
18. वचनामृत
19. बुद्धि विकास
20. बापू के एकादश वृत्त
21. ईशावास्योपनिषद् (व्यक्तिगत दृष्टिकोण)
22. मानव विकास की पूर्णता
23. कुण्डलिनी का जीवन में उपयोग (सजिल्द)
24. रामचरित मानस में कुण्डलिनी (व्यक्तिगत अनुभव)
25. मैंपन का विवेचन (व्यक्तिगत अनुभव)

प्रकाशक - नारायण आध्यात्मिक ट्रस्ट शिवपुरी

मुद्रक : मुकेश प्रेस, शिवपुरी (म.प्र.) फोन : 07492-232104